TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186170

UNIVERSAL
LIBRARY

-731—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

o. H371
S61V

Accession No. H3184

ओझा, गौ० ही० रेअयोध्यासिंह उपाध्याय

विचारात्मक संगठन कर्म संचालन

ok should be returned on or before the date last marked below



विद्यालय: संगठन एवं संचालन



○ बी. डी. सिंह

○ भूदेव शास्त्री

1 पुस्तकालय : संगठन एवं संचालन

सादर समर्पण

उन

साधकों के कर-कमलों में

जो

तपोनिष्ठ महर्षियों की यशोराशि-सी धवलोज्ज्वल भारतीय संस्कृति
और नवयुग की आवश्यकताओं के समन्वय के आधार पर
भारतीय राष्ट्र के नव-निर्माण की महत्त्वाकांक्षा लेकर
विद्यालयों का सङ्गठन और संचालन
कर रहे हैं ।

दो शब्द

हम जानते हैं कि इस विषय पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, तथापि हम यह पुस्तक पाठकों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। यह कैसी बन पड़ी है, यह कहना हमारा काम नहीं है। इसका निर्णय तो पाठक स्वयं कर सकेंगे। हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हम इस पुस्तक में विद्यालय को राष्ट्र-निर्माण का साधना-स्थल मानकर चले हैं और हमने कई समस्याओं पर शुद्ध भारतीय दृष्टि से विचार किया है। प्रत्येक बात में विदेशों की नकल को हम वाञ्छनीय नहीं मानते। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों को स्नातक स्तर के प्रशिक्षण-महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम पूरा करने में सहायता तो देगी ही, साथ में उन्हें कुछ नवीन विचार भी देगी। यदि हमारी यह आशा पूर्ण हुई, तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

बंशीधरसिंह

२० सितम्बर, १९६०

भूदेव शास्त्री

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

ग्रन्थ का प्रयोजन १—५

द्वितीय अध्याय

विद्यालय का प्रयोजन एवं स्वरूप ६—१२

तृतीय अध्याय

विद्यालय, समाज और परिवार १३—३०

चतुर्थ अध्याय

भारतीय विद्यालयों का साध्य तथा कार्य-पद्धति ३१—४५

पंचम अध्याय

विद्यालय के अङ्ग-प्रत्यंग ४६—४९

षष्ठ अध्याय

विद्यालय के साधक ५०—९७

सप्तम अध्याय

विद्यालय के चेतन साधन ९८—१०२

अष्टम अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन—१ १०३—१२८

नवम् अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन—२

[छात्रावास] १२९—१३९

दशम अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन—३

[पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ] १४०—१५८

एकादश अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन—४

[समय-विभाग] १५९—१६७

द्वादश अध्याय

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण १६८—१८१

त्रयोदश अध्याय

विद्यालय के उपादान—छात्र १८२—१९५

चतुर्दश अध्याय

अनुशासन-व्यवस्था १९६—२१८

पंचदश अध्याय

परीक्षा-पद्धति २१९—२२९

षोडश अध्याय

चिकित्सात्मक अध्यापन तथा शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन २३०—२४६

सप्तदश अध्याय

सिद्धि मिलो या नही ? २४७—२५०

परिशिष्ट

(१) अध्यापक बन्धुओं के लिए आचार-संहिता २५३—२५४

(२) पठनीय ग्रन्थों की सूची २५५

प्रथम अध्याय

ग्रन्थ का प्रयोजन

अध्याय-संक्षेप :—

विद्यालय का अर्थ; अध्यापक-वर्ग के कार्य; सुव्यवस्था आवश्यक; सुव्यवस्था अध्यापकों का उत्तरदायित्व, सुव्यवस्था का प्रशिक्षण; प्रत्येक के लिए आवश्यक क्यों ? उपसंहार ।

विद्यालय का अर्थ

समाज की उगती हुई पीढ़ी को सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणों से भूषित करने की प्रक्रिया को शिक्षण कहा जाता है । यह प्रक्रिया अपने आप में एक लम्बी प्रक्रिया है और विधि-बद्ध रूप में विद्यालय में चला करती है । साधारणतया विद्यालय शब्द का अर्थ "शिक्षा-संस्था" समझा जाता है परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इस शब्द को पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, निम्न माध्यमिक, उच्च माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, स्नातकीय तथा अधिस्नातकीय स्तरों और समस्त विज्ञानों एवं कलाओं को अपने भीतर समेट कर चलने वाली सम्पूर्ण शिक्षणालय-व्यवस्था के प्रतीक रूप में समझना चाहिए । इस व्यवस्था के अपने उपयुक्त रूपों में से गुज़र कर ही नई पीढ़ी आवश्यक गुणों से भूषित हो पाती है । सम्पूर्ण समाज की समस्त शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी एक अथवा एक प्रकार के विद्यालय से नहीं हो सकती ।

अध्यापक-वर्ग के कार्य

व्यवहारतः विद्यालय का संगठन एवं संचालन अध्यापक-वर्ग को करना पड़ता है। अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में अध्यापक-वर्ग को दो कार्य निरन्तर करते रहने पड़ते हैं : प्रथम, ऐसे वातावरण का निर्माण, जिसमें छात्र अपने सम्मुख प्रस्तुत वस्तुओं को रुचिपूर्वक ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग बना सकें और द्वितीय, छात्रों के सम्मुख उनके उपयुक्त जानकारियों एवं क्रियाओं का रोचक रूप में उपस्थापन। यदि ये दोनों कार्य सुचारु-रूप से सम्पन्न होते रह सकें, तो शिक्षण निश्चित रूप से छात्रों को अभीष्ट गुणों से भूषित करने में सफल होगा।

सुव्यवस्था आवश्यक

अभीष्ट प्रकार के वातावरण का निर्माण उपयुक्त प्रकार की साधन-सम्पति के संकलन तथा उसकी सुव्यवस्था से होता है। किसी संगठन में विद्यमान उस परिस्थिति को सुव्यवस्था कहा जाता है, जिसमें उसके सभी अंग एक दूसरे के साथ सहयोगी और पूरक की वृत्ति रखकर काम करते हुए सुनिर्धारित योजना के साथ अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जारहे हों। इस परिस्थिति के निर्माण के लिए निम्नलिखित उपबन्धों की पूर्ति आवश्यक है:—

१. संगठन के सभी अंग गुण, संख्या तथा परिमाण की दृष्टि से आवश्यकता के अनुरूप हों;

२. प्रत्येक अंग अपने कार्य की दृष्टि से योग्य तथा कर्तव्यपालन में सजग हो;

३. प्रत्येक अंग संगठन के लक्ष्य को जानता तथा हृदय से स्वीकार करता हो;

४. प्रत्येक अंग प्रत्येक अन्य अंग के अधिकारों, कर्त्तव्यों, तथा उनसे सम्बद्ध समस्याओं और उनके हलों से परिचित हो;

५. प्रत्येक में एक दूसरे के प्रति एकात्मता की वृत्ति हो और फलतः वे एक दूसरे के साथ सहयोग करने तथा आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे का स्थानापन्न अथवा पूरक बन जाने में कृतकृत्यता अनुभव करते हों,

६. प्रत्येक अंग विद्यालयीय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत व्यवहारों में एक दूसरे के सुख-दुःख में सहर्ष हाथ बंटाने का अभ्यासी हो,

७. प्रत्येक ऐसे सभी व्यवहारों से प्रयत्नपूर्वक बचता रहता हो, जिनसे अन्य किसी अंग के लिए असुविधा-जनक परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने की संभावना हो;

८. संगठन का संचालन कुशलता-पूर्वक किया जा रहा हो। विद्यालय भी एक सगठन होता है अतः उसके विषय में भी उपलब्धों की पूर्ति आवश्यक होती है।

सुव्यवस्था अध्यापकों का उत्तरदायित्व

विद्यालय के अंगों का परिगणन तथा निरूपण हम अगले किसी अध्याय में करेंगे। परन्तु एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि विद्यालय के समस्त अङ्गों में अध्यापक-वर्ग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तविक अर्थों में अध्यापक-वर्ग को ही विद्यालय कहा जाना चाहिए। विद्यालय के एकमात्र कार्य—शिक्षण के वे ही संचालक एवं [illegible] होते हैं। किसी विद्यालय में सुव्यवस्था की स्थापना तभी हो सकती है, जब उसके अध्यापक ऊपर लिखे हुए उपबन्धों को पूरा करें। यदि उसका एक भी अध्यापक उनके विषय में उदासीनता प्रदर्शित करता है, तो निश्चय ही उसकी सुव्यवस्था में छिद्र होजाता है और शिक्षण में बाधा उपस्थित होने लगती है।

सुव्यवस्था का प्रशिक्षण

इन उपबन्धों की पूर्ति कोई अध्यापक तभी कर सकता है, जब उसे कुछ जानकारियाँ प्राप्त हो जाएँ और उसे कुछ प्रकार के व्यवहारों का अभ्यास करा दिया जाए। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों का यह कर्त्तव्य है कि राष्ट्र के भावी अध्यापकों को आवश्यक जानकारियाँ तो दे ही दें, आवश्यक प्रकार के व्यवहारों का अभ्यास भी करा दें। जानकारी देने वाली संस्थाओं की अपेक्षा इनमें दिखाई पड़ने वाली यह विशेषता ही इनके नाम के साथ जुड़े हुए "प्रशिक्षण" इस विशेषण को सार्थक बनाती है। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम भी इसी बात को दृष्टि में रखते हुए बनाए जाते हैं। विद्यालयों में सुव्यवस्था की स्थिति बनाए रखने के लिए अध्यापक को जिन जानकारियों की प्राप्ति आवश्यक होती है, उन्हीं के प्रदान के लिए पाठ्यक्रम का "विद्यालय-व्यवस्था" शीर्षक अंश रखा जाता है।

प्रत्येक के लिये आवश्यक क्यों ?

प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में प्रशिक्षण के लिए आने वाले बहुत से छात्राध्यापकों के मन में यह प्रश्न उठा करता है कि विद्यालय में सुव्यवस्था-स्थापन का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक का होता है अतः सभी अध्यापकों को व्यवस्था-सम्बन्धी जानकारियाँ देने की क्या उपयोगिता है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमने सुव्यवस्था के लिए आवश्यक परिस्थिति का ऊपर की पंक्तियों में विश्लेषण किया है। कितना ही योग्य प्रधानाध्यापक क्यों न हो, यदि उसे

उसके सहयोगियों का समुचित सहयोग न मिले, तो वह कभी सुव्यवस्था स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकता। और उसकी दृष्टि से वही सहयोग उचित कहा जाएगा, जो उसे उसकी समस्याओं को उसके दृष्टिकोण से समझकर सद्भावना तथा योग्यता के साथ दिया गया हो। कोई भी अध्यापक ऐसा सहयोग तभी प्रदान कर सकता है, जब उसे सुव्यवस्था-स्थापना-विषयक जानकारियाँ प्राप्त हो चुकी हों। अन्यथा उसका सहयोग अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है।

इस प्रश्न पर एक और दृष्टि से विचार करना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक की समस्याओं को दृष्टि से ओझल भी कर दिया जाय, तो भी इन जानकारियों की अध्यापक के लिए उपयोगिता कम नहीं हो जाती। किसी भी विद्यालय में अध्यापक केवल ज्ञान-प्रदाता ही न होकर व्यवस्थापक भी होता है। अपनी कक्षा में ही उसे ऐसा वातावरण बनाए रखना पड़ता है, जिसमें ज्ञान-दान की क्रिया सुचारु रूप से चलती रह सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापक को पुस्तकालय, वाचनालय, खेल-कूद, स्वल्पाहार, छात्र-परिषद्, उल्लास-यात्रा तथा उत्सव आदि में से किसी न किसी विद्यालय-कार्य का प्रत्यक्ष प्रबन्ध देखना ही पड़ता है। बहुत से विद्यालयों में ये सभी कार्य बारी-बारी से सभी अध्यापकों को सँभालने पड़ते हैं। कोई अध्यापक अपने उत्तर दायित्व को नहीं निभा सकता, यदि उसे अन्य अध्यापकों का स्वेच्छा प्रेरित सहयोग न मिले। और सहयोगों का यह आदान-प्रदान भी सहयोग चाहने वालों के दृष्टिकोण को समझकर ही होना चाहिए, अन्यथा वह उपयोगी नहीं होगा। दूसरों को उनके दृष्टिकोण से सहयोग उन की समस्याओं तथा उनके हलों को जाने बिना कैसे दिया जा सकता है? यही जानकारी पाठ्यक्रम के इस अंश का विषय होती है।

इतनी बात तो हुई विद्यालय की सुव्यवस्था की दृष्टि से व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से भी यह जानकारी प्रत्येक अध्यापक के लिए उपयोगी होती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि समाज में उसको अधिक से अधिक आदर मिले। बहुज्ञता भी निश्चित रूप से समाज में आदर का कारण होती है। बहुज्ञ व्यक्ति अधिक सुचारु रूप से अपनी समस्याएँ सुलझा लेता है और आवश्यकता पड़ने पर अन्यों की सहायता भी कर सकता है। इस विषय की जानकारी निश्चित रूप से उसे छात्र-समाज तथा सहयोगी-वर्ग में अधिक आदर-पूर्ण स्थिति दिलाएगी। यदि उसके सभी सहकारी भी इस क्षेत्र में उसके समान ही योग्यता-सम्पन्न हों, तो भी यह जानकारी उसे चाहे विशेष आदर-पूर्ण स्थिति न दिला सके, परन्तु हीनता की भावना का शिकार होने से अवश्य बचालेगी।

व्यक्तिगत लाभ की एक अन्य परिस्थिति में भी यह जानकारी लाभदायक सिद्ध होती है। प्रत्येक मस्त्वाकांक्षी अध्यापक चाहता है कि उसे किसी विद्यालय का प्रधानाध्यापक बनने का अवसर प्राप्त हो। प्रधानाध्यापक बनने से व्यक्ति को आर्थिक लाभ तो होता ही है, समाज में अधिक सम्मान-पूर्ण स्थिति भी प्राप्त होती है। आदर्श-प्रेमी व्यक्तियों को अपने आदर्शों के अनुसार कुछ व्यक्तियों के निर्माण का अवसर भी मिलता है। इस उन्नत स्थिति को प्राप्त करने के इच्छुक अध्यापक को उन समस्याओं से पहले से परिचित होना चाहिए, जिन्हें उसे प्रधानाध्यापक बनकर सुलझाना पड़ेगा। यह जानकारी अध्यापक को न केवल उन समस्याओं से परिचित कर देती है अपितु उसके सम्मुख उनके अनुभव-सिद्ध हल भी रख देती है। इस प्रकार वह उस पद के साथ जुड़े हुए भारी उत्तरदायित्वों को सँभालने के लिए अधिक समर्थ हो जाता है। कभी-कभी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति अथवा समाज-सेवा के ही लिए अध्यापकों को नवीन विद्यालय खोलने पड़ते है, अथवा विद्यालयों की प्रबन्ध-समितियों का सदस्य अथवा सलाहकार बनना पड़ता है। उस समय भी यह जानकारी अत्यधिक-उपयोगी सिद्ध होती है।

उपसंहार

प्रबन्ध करना कोई सरल काम नहीं है। जिस संगठन का प्रबन्ध करना अभीष्ट हो, वह जितना ही बढ़ता जाता है, उतने ही विभिन्नता-पूर्ण और कभी-कभी परस्पर विरोधी हितों वाले तत्व उसमें उत्पन्न होते जाते हैं और परिणामतः उसका प्रबन्ध उतना ही कठिन होता जाता है। अध्यापक-वर्ग को छात्रों, उनके अभिभावकों, प्रबन्धकों, सहयोगियों, जनता तथा सरकारी अधिकारियो, इन सभी की इच्छाओं का आदर करते हुए प्रबन्ध-व्यवस्था चलानी पड़ती है। इस कारण उनका कार्य कुछ कठिन हो जाता है। इस कारण आवश्यक है कि वे विज्ञान और कला दोनों रूपों में विद्यालय-व्यवस्था का अध्ययन एवं कर्माभ्यास करें। प्रशिक्षण-महाविद्यालय उन्हें इन दोनों का अनुपम अवसर प्रदान करते हैं। यदि छात्राध्यापक चाहते हैं कि वे भावी जीवन में सफल अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक बनें, तो उन्हें बड़ी लगन के साथ अपने प्रशिक्षण-काल का उपयोग अपने व्यक्तित्व तथा प्रबन्ध-क्षमता के विकास मे करना चाहिए। उन्हें इस विषय में सहायता देने के लिए ही यह पुस्तक प्रस्तुत की जारही है।

द्वितीय अध्याय

विद्यालय का प्रयोजन एवं स्वरूप

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; समाज का स्वरूप; सामाजिक सम्बन्धों के आधार; समाज की प्रवाहमयता; समाज की आकांक्षा; समाज और शिक्षा; आत्म-संशोधन कैसे ? यदि प्रक्रियाएँ न चलें तो, विद्यालय का स्वरूप; उपसंहार।

प्रस्तावना

ग्रन्थ के प्रयोजन के साथ-साथ विद्यालय के स्वरूप और प्रयोजन की संक्षिप्त चर्चा प्रथम अध्याय में हो चुकी है। उसको पढ़ लेने पर भी कई बातें अस्पष्ट ही रहती हैं। समाज की उगती हुई पीढ़ी में सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणों के आधान के लिए इतने बड़े पैमाने पर प्रयत्न क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का उत्तर बिलकुल स्पष्ट रूप में प्रत्येक अध्यापक की अनुभूति का विषय अवश्य बन जाना चाहिए। इस अनुभूति के बिना वह अपने कर्तव्य की गुरुता को समझ ही नहीं सकता। इसी दृष्टि से यह अध्याय प्रस्तुत किया जा रहा है।

समाज का स्वरूप

विद्यालय एक सामाजिक संस्था है और समाज की आवश्यकताओं को

पूरा करने के लिए ही उसकी स्थापना तथा संचालन किया जाता है। इस बात को समझने के लिए हमें दो बातें समझनी पड़ेगी। प्रथम यह कि समाज का स्वरूप क्या है और द्वितीय यह कि उसकी किस-किस आवश्यकता को विद्यालय किस प्रकार पूरा करता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि समाज व्यक्तियों का समूह होता है। यह कथन सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। किसी मेले या सिनेमा-घर में एकत्रित भीड़ को कोई समाज नही कहता। यदि हम किसी प्रकार कुछ परस्पर असम्बद्ध व्यक्तियों को किसी स्थान पर एकत्रित करदें, तो उनके समूह को भी समाज नहीं कहा जाएगा। इसमें सन्देह नहीं कि समाज व्यक्तियो का समूह होता है, परन्तु उसके घटक व्यक्ति परस्पर असम्बद्ध नहीं होते। उसके व्यक्ति परस्पर न केवल असम्बद्ध नहीं होते अपितु वे स्थायी सम्बन्धो के माध्यम से परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होते है। साथ ही उसकी परिधि इतनी विस्तृत होती है कि उसके अगभूत व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसमें रहकर होती रहती है। संसार के किसी समाज को ध्यान-पूर्वक देखने से उसकी ये विशेषतायें स्पष्टतया प्रकट हो जाती है।

सामाजिक सम्बन्धों के आधार

किसी समाज में स्थित व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार समान भाषा, आदर्श, परम्पराएँ, संगठन, आशाएँ, आकांक्षाएँ तथा मान्यताएँ आदि होते है। इनके आधार पर न केवल व्यक्ति परस्पर जुड़े रहते हैं, अपितु इन्हीं के आधार पर विशिष्ट समाज अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन समाजों से पृथक् रूप में पहचाना जाता है। इतना ही नहीं, व्यक्ति भी उस समाज का अङ्ग तभी तक रहता है, जब तक वह उस समाज को सत्ता एवं पृथकता प्रदान करने वाली विशेषताओं को अपने में धारण किये रहता है। उनका परित्याग करते ही वह उस समाज से पृथक् हो जाता है। यदि किसी प्रकार उन आदर्शों आदि को उस उस समाज में से निकाल दिया जाए, तो समाज भी स्वतः ही एक समाज न रहकर उसी प्रकार एक समूह से में बदल जाएगा जिस प्रकार किसी गिराये भवन की उपादान वस्तुएँ भवन न रहकर एक ढेर में बदल जाती हैं।

समाज की प्रवाहमयता

समाज की सत्ता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी प्रवाहमहता भी है। हजारों व्यक्ति प्रतिदिन समाज से (मरकर) विदा लेते हैं और हजारों ही व्यक्ति जन्म लेकर प्रतिदिन उसमें सम्मिलित होते हैं। आदर्श आदि जो तत्व

व्यक्ति-समूह को समाजता प्रदान करते हैं, वे उस समाज के सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक किये हुये प्रयत्नों के पूंजीभूत रूप होते हैं, और वे भी समाज की धारा के साथ प्रवाहित होते चले आते हैं। नवागत व्यक्ति समाज में अबोध शिशुओं के रूप में पदार्पण करते हैं और प्रकटतः वे समाज के आदर्शों आदि में से कुछ भी साथ नहीं लाते। फलतः वे आने के साथ ही समाज के सक्रिय अंग नहीं बन पाते। समाज के आदर्शों तथा परम्पराओं आदि की दीक्षा लेकर वे धीरे-धीरे उसमें चलने तथा विदा हुए व्यक्तियों के स्थान लेने लगते हैं।[1] इस प्रकार प्रतिसंक्रमण[2] द्वारा समाज अजर और अमर बना रहता है, जबकि उसके व्यक्ति अनवरत जीते और मरते रहते हैं। उसकी अमरता का रहस्य उसका निरन्तर चलने वाला प्रतिसक्रमण है। प्रतिसंक्रमण की प्रवाहमयी प्रक्रिया जीवमात्र के जीवन में चलती है, समाज का प्रसंग चल रहा है अतः यहाँ उसके प्रसंग में उस प्रक्रिया का दिग्दर्शन कर दिया है।

यदि किसी प्रकार यह प्रवाह रोक दिया जाए या रुक जाए, तो निश्चित है कि सम्बद्ध समाज नष्ट हो जायगा। समाज की प्रवाहमयता दो प्रकार से अवरुद्ध हो सकती है : प्रथम, उसमे सन्तानो का उत्पन्न होना बन्द हो जाए और द्वितीय, उसकी सन्तानों को आदर्श आदि सामाजिक उत्तराधिकारों से वंचित रह जाना पड़े। प्रथम से उसकी सत्ता का जीवशास्त्रीय तथा द्वितीय से सांस्कृतिक आधार नष्ट हो जाता है। कोई समाज जीवित रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उसकी सत्ता के ये दोनों आधार अक्षुण्ण बने रहें।

समाज की आकांक्षा

ईश्वरीय सृष्टि की सभी चेतन सत्तायें अपनी सत्ता को अक्षुण्ण एवं तेजस्वी बनाए रखना चाहती है। समाज भी, जो कि चेतन व्यक्तियों का प्रवाहमय स्वरूप है, अपने आप में चेतन है और इसीलिए वह अपनी सत्ता को अक्षुण्ण एवं तेजस्वी बनाए रखना चाहता है। अपनी सत्ता के भौतिक आधार को दृढ़ रखने के लिए वह संतानोत्पादन को एक पवित्र कार्य के रूप में स्वीकार करता है। सभी समाजों में विवाह को एक पवित्र प्रथा मानते तथा बड़ी धूम धाम से उसका सम्पादन किये जाने का संभवतः यही कारण है। अपनी सत्ता के सांस्कृतिक आधार को दृढ़ करने के लिए वह कुछ ऐसी व्यवस्था करता है,

---

१ भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु । वेद ।

२. Society exits through a process of transmission as much as biological life.

Democracy & Education
John Dewey.

जिसके अनुसार नई पीढ़ी सामाजिक उत्तराधिकार को विधिवत् संभालती रहे और उसमें ऐसी योग्यता भी उत्पन्न होती रहे कि वह उसे बासा तथा अनुपयोगी न बनने दे। दोनों को पारिभाषिक शब्दावली में पुनर्नवीकरण[1] तथा आत्म-संशोधन[2] की क्रियाएँ कहते हैं। उनके द्वारा अपनी सत्ता के सांस्कृतिक आधार को दृढ़ करने का कार्य समाज अपनी शिक्षा-पद्धति द्वारा करता है।[3]

समाज चाहे कितना ही अविकसित क्यों न हो, उसमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा-पद्धति अवश्य मिलती है। चेतन चाहे विकसित हो या अविकसित, धनी हो या दरिद्र और प्राचीन हो या आधुनिक जीवित अवश्य रहना चाहता है। चूँकि जीवन के लिए शिक्षा-पद्धति आवश्यक है अतः वह उसे रखता है। आरंभ में समाज छोटे-छोटे थे। उनकी सामाजिक एवं आर्थिक रचना तथा व्यवस्था बिलकुल सरल थीं। जानकारी के क्षेत्र भी उन दिनों बहुत संकुचित थे। इस कारण पिता-माता अथवा भाई-बहन ही छोटे बच्चों को शिक्षा दे दिया करते थे। अब समाज के सभी पहलू अत्यधिक जटिल हो गये है अतः परिवार से बिलकुल स्वतन्त्र राष्ट्रव्यापी शिक्षा-व्यवस्था का निर्माण एवं संचालन किया जाता है। रूप तथा विस्तार कितने ही हों, परन्तु आधारसूत बात किसी न किसी प्रकार की शिक्षा-पद्धति की विद्यमानता प्रत्येक समाज मे मिलती है।

सामाजिक जीवन के सातत्य के साथ शिक्षा-पद्धति का इतना सम्बन्ध समझते हुये ही प्रत्येक विदेशी जाति जब किसी राष्ट्र को अपने अधीन करती है, तब सबसे पहला आक्रमण शिक्षा-पद्धति पर करती है। वह पहले वहां की शिक्षा-पद्धति को नष्ट करती है और उसके स्थान पर ऐसी पद्धति प्रचलित करती है, जिसमें से निकलकर युवक अपने परम्परागत समाज का जीवित अंग न रह कर शासक-समाज का पुछल्ला बन जाय। इस प्रकार जैसे-जैसे अधिकाधिक युवक उस शिक्षा-पद्धति में से निकलकर समाज में आते जाते हैं, परम्परागत समाज नष्ट होता जाता है और एक नये मिश्रित समाज की सृष्टि और पुष्टि होती जाती है। भारत में मुसलमान-विदेशियों ने तथा बाद में अँग्रेजों ने यही किया। उनकी शिक्षाओं के जो परिणाम हुए, उन्हे इतिहास का प्रत्येक छात्र जानता है। अँग्रेजों के चले जाने के उपरान्त भी आज संस्कृति तथा भाषा के क्षेत्र में जो अंग्रेजियत छाई हुई है और अँग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों के मन में अंग्रेजी-ज्ञान-रहित सामान्य जनता के प्रति जो क्षुद्रता तथा तिरस्कार का भाव

1. Renewal. 2. Self purification. 3. What nutrition & reporoduction are to physiologial life, Education is to social life. Democray & Education, p. 11.

है, इसका कारण अँग्रेजी शासन-काल की शिक्षा-पद्धति का कुप्रभाव ही है। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए हम लोगो द्वारा लिखित "भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास" तथा "स्वतन्त्र भारत में शिक्षा की प्रगति" इन दो ग्रन्थों का अवलोकन उपयोगी होगा। अस्तु।

आत्म-संशोधन कैसे ?

पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। आत्म-संशोधन की प्रक्रिया समाज में किस प्रकार चलती है, इसे भी समझ लेना उचित होगा। जिन्हे हम समाज के आदर्श कहते है, वे वस्तुतः उसके चिन्तकों तथा दार्शनिको द्वारा निर्धारित वे जीवन-सत्य होते हैं, जिनको पालन करना उनकी दृष्टि में समाज के वास्तविक कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उनका निर्धारण दार्शनिक करते है परन्तु समाज भी बौद्धिक रूप में उन्हें स्वीकार कर चुका होता है और इसीलिए उन्हे इस समाज के आदर्श कहा जाता है। उस समाज में जितनी परम्पराएँ आदि बनती है, उनका किसी न किसी रूप मे उन आदर्शो की प्राप्ति के साथ सम्बन्ध अवश्य होता है। इसीलिए वह निष्ठा के साथ उन्हें पकड़े रहता है और चाहता है कि उसके सभी घटक उनके प्रतिपूर्ण निष्ठावान रहे।

आदर्शों में सम्पूर्ण समाज का चरम हित निहित रहता है परन्तु वे व्यक्ति विशेष के तात्कालिक हित, सुख अथवा सुविधा के विरोधी भी हो सकते है। लगभग सभी समाज सत्य बोलने को परमधर्म मानते है परन्तु यदि सत्य बोलने से एक लाख रुपये की हानि होने जारही हो, तो सत्य बोलना तात्कालिक हित का विरोधी बन जाता है। यदि सम्बद्ध व्यक्ति सत्य के प्रति अत्यधिक निष्ठा-वान् नहीं है तो उसे सत्य का आदर्श अखरने लगता है और वह झूठ बोलकर अपनी हानि बचा लेता है। ऐसा वह इसलिए करता है क्योंकि सामान्य जन अपनी नासमझी के कारण तात्कालिक लाभ, सुख तथा सुविधा में उलझ जाते है। इस प्रकार काम तो निकल जाता है परन्तु आदर्श की हत्या हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि आदर्श में सम्पूर्ण समाज का वास्तविक हित रहता है अतः यह भी कहा जा सकता है कि आदर्श के रूप में समाज के वास्तविक हित की हत्या हो जाती है।

इस प्रकार विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अवसरो पर आदर्शों आदि की अवहे-लना करते रहते हैं। तत्काल तो इन घटनाओं का दुष्प्रभाव प्रतीत नहीं होता परन्तु उनसे समाज उचित मार्ग से धीरे-धीरे सरकता हुआ निस्तेज होता चला जाता है। बहुत बार इस हानि को समाज के लोग समझ भी लेते हैं और लाभ, सुख तथा सुविधा की लिप्सा के कारण अपने व्यवहारों पर संयम नहीं रख

पाते। परन्तु साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि उनकी सन्तति में उचित सीमा तक आदर्शवादिता अवश्य रहे। बुरा से बुरा व्यक्ति भी अपने बच्चों को चाहे महाराज हरिश्चन्द्र की भाँति सत्यव्रती न बनाना चाहता हो, परन्तु वह यह अवश्य चाहता है कि उसके बच्चे उससे असत्य कभी न बोलें। उनकी बुद्धि में सत्य के आदर्श की यही उचित सीमा होती है और वे इसका पालन चाहते हैं। उनकी इस इच्छा की पूर्ति बच्चों के समाज में रहकर नहीं हो सकती क्योंकि आदर्श-भ्रष्ट समाज में आदर्शों का पालन सीखना उनके लिए असंभव हो जाता है। उनकी इस इच्छा की पूर्ति विद्यालय करता है।

विद्यालय सामान्य समाज से पृथक एक स्वतन्त्र समाज बनकर चलता है। वह अपने में ऐसा वातावरण बनाकर चलता है, जिसमें सामाजिक आदर्शों का निश्छलता के साथ पालन किया जा सके। उसमें रहकर छात्र उन आदर्शों को बौद्धिक रूप में ही नहीं सीखते अपितु उन्हें अपने आचरण का विषय भी बनाते हैं और यह भी अनुभव करते हैं कि वे आदर्श स्वस्थ और समृद्ध समाज के लिए कितने उपयोगी हैं। इस प्रकार विद्यालय आदर्शवाद एवं उत्साह से उद्दीप्त व्यक्तित्व वाले युवकों को प्रतिवर्ष समाज में भेजता है। उनके आगमन से उसमें आदर्श-निष्ठों की संख्या बढती है, आदर्श-निष्ठा का वातावरण बनता है और उसका आत्म-संशोधन होता है। यह आत्म-संशोधन उसमें तेजस्विता उत्पन्न करता है।

यदि प्रक्रियाएँ न चलें तो ?

इतने विवेचन एवं स्पष्टीकरण के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया होगा कि विद्यालय का प्रयोजन समाज में पुनर्नवीकरण एवं आत्मसंशोधन की प्रक्रियाओं को चालू रखकर उसे जीवित एवं तेजस्वी बनाए रखना होता है। जिस देश के विद्यालयों में ये प्रक्रियाएं जितनी सुचारु रूप से चलती रहती हैं, वह उतना ही सप्राण एवं अजेय बना रहता है। विद्यालयों में विकृति उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्र को पतन के गर्त में गिरने से ब्रह्मा भी नहीं बचा सकते।

विद्यालय का स्वरूप

साधारणतया विद्यालय शब्द का अर्थ पाठशाला समझा जाता है। यदि उपर्युक्त प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाए, तो स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि विद्यालय कोई विशिष्ट स्थान अथवा संस्था न होकर उन समस्त संस्थाओं की, जहाँ किसी भी प्रकार की विज्ञानात्मक, दर्शनात्मक अथवा कौशलात्मक शिक्षा दी जाती है, तथा उनके संचालन की प्रणाली की समष्टि है। किसी समाज की सम्पूर्ण सांस्कृतिक थाती को किसी एक प्रकार का तथा एक स्तर का विद्यालय समाज में प्रवाहित नहीं रख सकता। यह कार्य सम्पूर्ण

शिक्षा-प्रणाली करती है और उसमें पूर्व-प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक की समस्त संस्थाओं का योग होता है।

आज का समाज न तो पहले की भाँति छोटा-सा है, न उसकी रचना तथा कार्य-पद्धति ही सरल है, न उसका ज्ञान-कोष संकुचित है, न उसकी आवश्यकताएँ सीधी-साधी है, और न उसके विकास की गति ही मन्द है। अब तो स्थिति यह है कि वह इतना विशाल, इतना महान् तथा इतना गतिशील है कि उसके भीतर रहने तथा उसके द्वारा प्रस्तुत सुख-सुविधाओं का लाभ उठाने वाले भी नहीं जान पाते कि वह कितना विशाल तथा जटिल है। समाज की नई पीढ़ी को इस जटिल से जटिलतर होते हुए समाज का पूरा-पूरा परिचय दे देना अब किसी एक संस्था अथवा स्तर के विद्यालय का काम नहीं है। इसीलिए हमने विद्यालय को उसके व्यापकतम अर्थों में समझने की सलाह दी है।

उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए लिखी जा रही है। विद्यालय शब्द को उसके व्यापकतम अर्थों में समझते हुए भी हम इसमें अधिकतर उन्हीं बातों की चर्चा करेंगे, जिनका सम्बन्ध मुख्यतया माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के साथ होगा। ऐसी बात नहीं है कि वे बातें प्राथमिक अथवा उच्चतर स्तर की शिक्षा-संस्थाओं के लिए उपयोगी नहीं होंगी। समस्याएँ सर्वत्र लगभग एक सी हैं अतः उनके समाधान भी सर्वत्र लगभग समान ही होंगे। परन्तु विशेष रूप से ध्यान माध्यमिक स्तर का रखा गया है।

तृतीय अध्याय

विद्यालय, समाज और परिवार

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; समाज विद्यालय का निर्माता; समाज विद्यालय का पोषक; समाज विद्यालय का आदर्श; समाज विद्यालय का पूरक; विद्यालय की भी यही स्थिति; दोनों परस्पर उपयोगी कैसे हों ? परिवार और विद्यालय—परिवार विद्यालय के पोषक, परिवार विद्यालय के पूरक, परिवार विद्यालय के आदर्श; विद्यालय की स्थिति; उपसंहार।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि विद्यालय की स्थापना और संचालन दोनों समाज को जीवित एवं तेजस्वी बनाए रखने के लिए किये जाते हैं। इस अध्याय में हम यह विचार करना चाहते हैं कि विद्यालय, समाज तथा परिवार इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और ये तीनों एक दूसरे से किस प्रकार लाभान्वित होते रह सकते हैं।

समाज विद्यालय का निर्माता

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि समाज अपनी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही विद्यालय की स्थापना और संचालन

करता है। जब कोई महापुरुष सामाजिक जीवन में कतिपय गुणों का आधान करने के लिए विद्यालय की स्थापना तथा उसका संचालन करते हैं, तब भी उनका उद्देश्य समाज ही होता है। ऐसी परिस्थिति में भी प्रकारान्तर से हम समाज को ही विद्यालय का निर्माता कह सकते हैं। यदि समाज उस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना को आवश्यक न माने, तो यह निश्चित है कि विद्यालय चलेंगे ही नहीं।

समाज विद्यालय का पोषक

विद्यालय को तीन प्रकार के —जन, धन तथा मान्यता के पोषण की आवश्यकता होती है। समाज विद्यालय को अध्यापकों, छात्रों तथा प्रबन्धकों के रूप में "जन" देकर उस का पोषण करता है। विद्यालय की समस्त भौतिक अर्थात् साधन-सामग्री-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करके वह उसका धन से पोषण करता है। मान्यता के रूप में वह तीसरा पोषण प्रदान करता है। विद्यालय अपने जिस स्नातक को जिस योग्य घोषित कर देता है, समाज उसे उसी प्रकार का स्थान तथा आदर प्रदान करता है। जब समाज विद्यालय को इन तीनों प्रकारों का पोषण देना बन्द कर देता है, वे स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

समाज विद्यालय का आदर्श

प्रत्येक समाज जिस प्रकार के जीवन-दर्शन में विश्वास करता है, और जिस प्रकार की जीवन-पद्धति को अपने व्यवहार का विषय बनाकर चलता है, विद्यालय को उसी जीवन-दर्शन में विश्वास रखने वाले तथा उसी जीवन-पद्धति के अनुसार जीवन बिताने वाले व्यक्तिओं का निर्माण करना होता है। जैसे-जैसे समाज की मान्यताओं तथा व्यवहारों में परिवर्तन होता जाता है, विद्यालय भी अपनी मान्यताओं और व्यवहारों में परिवर्तन करता जाता है। इस प्रकार समाज सदैव विद्यालय के सम्मुख आदर्श रूप में उपस्थित रहता है। जनतन्त्रीय तथा अधिनायकतन्त्रीय देशों के विद्यालयों की संचालन-पद्धति आदि में जो अन्तर होता है, उसका एकमात्र कारण यही होता है। जो विद्यालय समाज को आदर्श रूप में नहीं रखते, समाज उनका पोषण बन्द कर देता है और वे स्वयं अपनी मौत मर जाते हैं।

समाज विद्यालय का पूरक

विद्यालय दो प्रकार के होते हैं:—(१) आवास-सहित (२) आवास-रहित। आवास-सहित विद्यालय छात्रों के लिए सम्पूर्ण जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार के विद्यालय अपने आप में स्वतन्त्र समाज होते हैं। आवास-रहित विद्यालय केवल अध्यापन की

व्यवस्था करते हैं। छात्र इनमें सीमित समय तक रहकर समाज में वापस चले आते है। जब ऐसी स्थिति होती है, तब समाज को विद्यालव का पूरक बनकर चलना पड़ता है। यदि उसके आदर्श और व्यवहार वैसे ही होते हैं, जैसे कि विद्यालय के, तो वह विद्यालय में सीखी हुई तथा अभ्यस्त वस्तुओं के पुनःपुनःअभ्यास का अवसर देकर विद्यालय के कार्य को पूरा करता है। विपरीत परिस्थिति होने पर वह विद्यालय के किये धरे पर पानी भी फेर सकता है। दुर्भाग्यवश आज का समाज विद्यालय का पूरक बन कर नही चल पा रहा है, अनुशासन की बहुत सी समस्याऐं इसीलिये उठा करती है।

विद्यालय की भी यही स्थिति

एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर विद्यालयों का भी समाज से वही सम्बन्ध प्रतीत होता है, जो समाज का विद्यालय से दिखाया जा चुका है। हम विद्यालयों को समाज का निर्माता पोषक आदर्श, तथा पूरक भी कह सकते हैं। जो गुण किसी समाज को एक विशिष्ट समाज का रूप देते हैं, विद्यालय उनकी रक्षा करते हैं, नई पीढ़ियों में उनका संक्रमण करते हैं, और इस प्रकार तात्कालिक व्यक्तिगत लाभ, सुविधा तथा सुख की लिप्सा में पतन की ओर ढरकते हुए समाज को जैसा उसे होना चाहिए, वैसा वनाते रहते हैं। आवश्यकता होने पर उसके सम्मुख नवीन आदर्शों प्रस्तुत भी करते है और समाज को जिस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, उस प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण करके उन्हें समाज की सेवा में प्रस्तुत कर देते हैं।

शिक्षा के इतिहास का प्रत्येक छात्र जानता है कि प्रत्येक समाज के जीवन में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले दार्शनिक स्वयं अध्यापक भी थे। उनमें से अनेकों ने शिक्षा-पद्धति पर अपने विचार प्रकट किये और नवीन प्रकार के विद्यालयों की स्थापना भी की। प्राचीन भारत के गुरुकुल और ऋषिकुल, तथा यूनानी दार्शनिकों की अकादमियाँ इस कथन के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जिन्होंने विधिबद्ध विद्यालयों की स्थापना नही की, उन्होंने सम्प्रदायों अथवा दलों के रूप में विधिमुक्त विशाल विद्यालय चलाए और उनमें दीक्षा देदेकर अपने समाजों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर डाले। मानव-जाति के इतिहास में इस तथ्य के समर्थक इतने उदाहरण हैं, कि उनको लिखकर पुस्तक का कलेवर बढाना अनुचित ही होगा।

इसी बात को श्री० टी० पी० नन ने निम्नलिखित रूप में कहा है, "किसी राष्ट्र के विद्यालय उसके जीवन के ऐसे अङ्ग होते हैं, जिनका विशेष कार्य उसकी आध्यात्मिक शक्ति को संगठित करना, ऐतिहासिक सातत्य को सुरक्षित रखना, उसकी अतीत सफलनाओं की रक्षा करना और उसके भविष्य

को आश्वस्त रखना होता है। अपने विद्यालयों द्वारा प्रत्येक राष्ट्र को अपने उन स्थायी स्रोतों से परिचित रहना चाहिए, जिनसे उसके जीवन के सर्वोत्तम आन्दोलनों ने सदैव प्रेरणा ग्रहण की है, अपने योग्यतर पुत्रों के स्वप्नों का साझीदार बनना चाहिए, स्वयं निरन्तर आत्मालोचन करते रहना चाहिए, अपने आदर्शों का संशोधन करते रहना चाहिए और अपनी प्रवृत्तियों का पुनर्निर्देशन करते रहना चाहिए।"[1] यह कथन ऊपर कहे हुए से इतना अधिक मिलता है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

दोनों परस्पर उपयोगी कैसे हों ?

विद्यालय और समाज के बीच इस सम्बन्ध की विद्यमानता में अब यह सोचना चाहिए कि किस प्रकार के विद्यालय समाज के लिए उपयोगी होते हैं। साथ में यह भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या करते हुए समाज अपने विद्यालयों को अपने लिए अधिक से अधिक उपयोगी बना सकते हैं। पहले हम प्रथम प्रश्न पर विचार करेंगे।

वे ही विद्यालय समाज के लिए उपयोगी हो सकते है :—

(१) जिसके अंगभूत सभी शिक्षक विद्वान, सच्चरित्र, समाज-हितैषी तथा परस्पर सहयोग करने वाले हों,

विद्या-दान एवं चरित्र-निर्माण, दोनों बातों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विद्यालय के शिक्षकों तथा छात्रों के बीच के सम्बन्ध अत्यन्त मधुरतापूर्ण रहें। सम्बन्ध मधुरता-पूर्ण तभी रह सकते हैं, जबकि शिक्षक छात्रों को पुत्रवत स्नेह तथा छात्र शिक्षकों को वित्वत् श्रद्धा दे सकें। यदि शिक्षक दूसरे के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले गुणों से युक्त हों और अपने छात्रों को सचमुच ही स्नेह देते हों, तो यह निश्चित है कि उन्हें छात्रों की श्रद्धा अवश्य मिलेगी। श्रद्धा बलपूर्वक माँगी नहीं जा सकती, इसके लिए तो उसका पात्र बनना आवश्यक होता है। यदि किसी विद्यालय के अध्यापक विद्वान् अर्थात्-अपने अपने विषय के विशेषज्ञ हों, यदि उनका चरित्र उन सब सद्गुणों से युक्त हो,

1. A nation's schools are an organ of its life, whose special function is to consolidate its spiritual strength, to maintain its historic continuity, to secure its past achievements, to guarantee its future. Through its schools nation should become conscious of the abiding sources, from which the best movement is its life have always drawn its inspiration, should come to share the dream of it's nobbler sons, should constantly submit itself to self criticism, should purge its ideals, should re-inform and redirect its inpulses.
Education, its data & first principles. T. P. Nunn Page 233.

जिन्हें वे छात्रों में उत्पन्न करना चाहते हों, यदि उनके हृदय में छात्रों के जीवन-निर्माण द्वारा समाज-सेवा की ज्वलन्त महत्त्वाकांक्षा हो और जो परस्पर मित्र और सहयोगी बनकर विद्यालय में मधुर वातावरण की सृष्टि कर लेते हों, तो इसमें सन्देह करने का बिलकुल अवकाश नहीं है कि उस विद्यालय तथा उसके प्रत्येक शिक्षक के प्रति श्रद्धा की वृत्ति छात्रों के हृदय से स्वतः प्रवाहित होने लगेगी। श्रद्धा उत्पन्न होते ही उनका जीवन स्वयंमेव अभीष्ट रूप लेने लगेगा।

प्रत्येक विद्यालय में एक-दो अध्यापक अवश्य ही श्रद्धेय होते हैं। परंतु इससे विद्यालय का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। एक दो का श्रद्धेय होना विद्यालय में ईर्ष्या-जनित समस्याएँ उत्पन्न कर देता है। आवश्यकता यह है कि सम्पूर्ण संस्थान श्रद्धेय हो और वह एक सहकारी समिति की भांति सुचारु रूप से चले। इसके लिए प्रत्येक अध्यापक का उपर्युक्त गुणों से युक्त होना आवश्यक है। यदि पूरी संस्था में एक भी शिक्षक अवांछनीय प्रकार का हुआ, तो वह उसे उसी प्रकार निर्बल बना देगा, जिस प्रकार जंजीर की एक कमजोर कड़ी पूरी जंजीर को निर्बल कर देती है। छात्रों के मन में अश्रद्धा किसी एक अध्यापक के प्रति न होकर सम्पूर्ण शिक्षक-मंडल तथा संस्था के प्रति होगी और इस अश्रद्धा के कारण जो बुरा वातावरण बनेगा, उसकी हानि सभी को उठानी पड़ेगी।

श्रद्धा की चिन्ता न भी की जाय, तो भी ये गुण इसलिए आवश्यक हैं कि इनसे रहित अध्यापक छात्रों को विद्या और चरित्र का दान कैसे दे सकेंगे? समाज-हितैषिता तथा पारस्परिक सहयोग के अभाव में वे अपने विद्यालय को ऐसे आदर्श जनतन्त्रीय समाज में कैसे बदल सकेंगे, जिसमें रहकर छात्रों में जनतन्त्रीय समाज के लिए आवश्यक परहित-चिन्ता तथा सहयोग आदि गुण उत्पन्न हो सकें। उपयुक्त वातावरण के महत्व की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की ही जा चुकी है, और प्रसंगवश आगे भी की जाएगी।

इन गुणों को केवल शिक्षकों के लिए ही नहीं, विद्यालय में काम करने वाले सभी कर्मचारियों के लिए आवश्यक समझना चाहिए। वातावरण-निर्माण में उनका भी भाग होता ही है। सच्चरित्रता के स्वरूप की विशेष चर्चा आचार-संहिता के प्रसंग में की जाएगी।

(२) जो अपना पाठ्यक्रम जीवन-केन्द्रित रखते हैं;

विद्यालय-जीवन की समाप्ति के पश्चात् छात्र को जिस प्रकार के समाज का सदस्य बनकर जीवन बिताना है, विद्यालय उसका सही प्रतिनिधि होना चाहिए। वह अपने समाज का सही प्रतिनिधि तभी हो सकता है, जब उसका

पाठ्यक्रम समाज-केन्द्रित हो। विज्ञान के प्रवेश के कारण आज के समाज में विविधता तथा गतिशीलता ये दो विशेषताएँ अत्यधिक मात्रा में बढ़ गई हैं। फलतः विद्यालयों में सभी प्रकार के विज्ञानों तथा कलाओं का पुस्तकीय तथा क्रियात्मक दोनों प्रकार का आधुनिकतम शिक्षण होना चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक छात्र अपनी रुचि एवं क्षमता के आधार पर अभीष्ट विज्ञान अथवा कला का अध्ययन कर सके। पाठ्यक्रम के निर्धारण में ऐसी व्यवस्था भी रहनी चाहिए कि प्रत्येक छात्र एवं छात्रा को उसके सामाजिक एवं भौतिक वातावरण के सदुपयोग करने की योग्यता उत्पन्न करने वाली आधारभूत सामान्य जानकारी अवश्य मिल जाए और उसके बाद उसे अपनी विशिष्ट क्षमताओं से लाभान्वित होने का अवसर भी मिले। साथ में पाठ्यक्रम को इतना लचीला भी होना चाहिए कि परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक होने पर उसमें सरलता से परिवर्तन किया जा सके। मानव-समाज सदैव गतिशील रहा है। आज उसकी गतिशीलता की मात्रा कल्पनातीत रूप में बढ़ चुकी है। ऐसे समय में तो पाठ्यक्रम का लचकीला और अधिक आवश्यक हो गया है।

(३) जिसमें प्रयुक्त होने वाली अध्यापन-विधियाँ भी मनोविज्ञान-सम्मत, समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति के अनुरूप तथा गतिशील हों;

(अ) ऊपर की पंक्तियों में कहा गया गया है कि आज के समाज में विज्ञान के प्रवेश के कारण विद्यालय में भी विज्ञान का प्रवेश अनिवार्य हो गया है। मनोविज्ञान भी एक विज्ञान है। उसके प्रवेश ने विद्यालय-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति कर दी है। कक्षा में अध्यापक को छात्रों के सम्मुख ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक दोनों प्रकार के विषयों को इस प्रकार प्रस्तुत करना होता है कि छात्र रुचि से उनकी ओर ध्यान दें, प्रयत्न-पूर्वक उन्हे ग्रहण करलें, और जीवन की नाना-विध परिस्थितियों में अपने ज्ञान तथा क्रिया शक्ति का समुचित रूप में प्रयोग कर सकें। मनोविज्ञान ने इस कार्य के लिये अध्यापक के हाथ में ऐसी अध्यापन-प्रविधियाँ तथा गुर लाकर धर दिये है कि वह अब बहुत कम श्रम से ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। विद्यालयों में उन अध्यापन-विधियों का प्रयोग होना चाहिए।

(आ) समाज की जीवन-पद्धति का विद्यालय-जीवन के अन्य अङ्गों की भाँति अध्यापन-विधियों पर भी प्रभाव पड़ता है। यदि समाज की जीवन-पद्धति एकतन्त्रीय होती है तो उसके विद्यालयों की अध्यापन-विधियाँ भी अधिकाराश्रयी[1] हो जाती हैं। इसके विपरीत जनतन्त्रीय समाज के विद्यालयों

१. Authoritarian.

में जनतन्त्रीय पद्धतियों का प्रचलन होता है और अध्यापन-प्रक्रिया में अध्यापक और छात्र दोनों सत्य के अन्वेषक के रूप में भाग लेते हैं। प्राचीन यूनान के एथेनी तथा स्पार्टी विद्यालयों तथा भारतीय इतिहास के वैदिक एवं बौद्ध तथा मुग़ल कालों के विद्यालयों में प्रचलित अध्यापन-पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह कथन पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। यदि अध्यापन-विधियाँ समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति के अनुरूप न रखी जाएँ, तो विद्यालय के स्नातक जिन वृत्तियों को लेकर समाज में जाएँगे, वे उन्हें अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को स्वस्थ ढंग से पूरा नहीं करने देंगी।

(इ) विद्यालयों में चलने वाली अध्यापन विधियों मे तीसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वे गतिशील हों। पाठ्यक्रम के प्रसंग में गतिशीलता की बात कही जा चुकी है। अध्यापन-विधि का निर्धारण छात्र, पाठ्यवस्तु, जीवन-दर्शन तथा वातावरण इन चार को दृष्टि में रख कर किया जाता है अतः स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम भी गतिशीलता तथा लचकीलेपन के साथ-साथ अध्यापन-विधियाँ भी गतिशील तथा लचकीली होनी चाहिए, जिससे कि वे अवसर की माँग को पूरा कर सकें।

(४) जिनकी सम्पूर्ण जीवन-चर्या लक्ष्यीभूत समाज के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित हो,

अध्यापक तथा छात्र जिस समय विद्यालय में प्रवेश करते हैं, उस समय से और जिस समय तक वे वहाँ रहते हैं, उस समय तक वे जो कुछ भी क्रियाकलाप करते हैं, वह सब जीवत-चर्या का अंग होता है। उस में सब प्रकार की पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ परिगृहीत हो जाती हैं। विधि-मुक्त रूप में भी जो व्यवहार वे परस्पर करते हैं, वे सब उसकी परिधि में आ जाते हैं। यह सम्पूर्ण जीवन-चर्या लक्ष्यीभूत समाज के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होनी चाहिए। इससे विद्यालय में जो परम्पराएँ बनेंगी और जो वातावरण उत्पन्न होगा उससे छात्रों की जो जीवन-पद्धति बनेगी, वह उनके व्यक्तित्व को अभीष्ट समाज के लिये उपयुक्त गुणों से सज्जित करेगी।

मनोवैज्ञानिकों ने "वातावरणीय प्रभाव के आत्मसात्-करण द्वारा व्यक्तिगत व्यवहार के परिवर्तित होने" को सीखना माना है। वातावरणीय प्रभावों में से, जो विधि-बद्ध रूप से डाले जाते हैं, उनकी अपेक्षा वे प्रभाव अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं, जो विधि-युक्त रूप में मन पर पड़ा करते हैं। उदाहरणार्थ, सत्य बोलने की शिक्षा की अपेक्षा ऐसी व्यवस्था और परम्परा का निर्माण, जिसमें कोई व्यक्ति असत्य बोलता ही न हो, किसी व्यक्ति को सत्यवादी बनाने के लिए अधिक उपयोगी होता है। यह भी एक मनोविज्ञान-सम्मत तथ्य है और

व्यक्तिगत जीवन में हम बड़ी सरलता से इसकी परीक्षा कर सकते हैं। बहुतों को गाली देने की आदत पड़ जाती है। क्या उन्होंने वह आदत अपने माता-पिता, गुरु तथा मित्र आदि के उपदेशों से सीखी हुई होती है? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर नकार में मिलेगा। यदि खोजबीन की जाए तो ज्ञात हो जाएगा कि यह आदत वातवरण के विधियुक्त प्रभाव के माध्यम से आई है। यही बात अन्य अच्छे प्रभावों के विषय में भी कही जा सकती है। इसी दृष्टि से वातावरण के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होने की बात कही गई है।

(५) जो छात्रों की जीवन-सम्बन्धी सभी उचित आवश्यकताओं को स्वतन्त्रता-पूर्वक पूरा कर सकते हों,

छात्रों को अभीष्ट गुणों से युक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें दुर्गुणों के दुष्प्रभावों से बचाते हुए सद्गुणों से भूषित करने की प्रक्रिया चलाई जाय। यह तभी हो सकता है कि जब तक उनके व्यक्तित्व में अभीष्ट गुण परिपक्व न हो जाएँ, जब तक उन्हें पूर्णतया नियन्त्रित वातावरण मे रखा जाय और विधि-बद्ध तथा विधि-युक्त दोनों रूपों में उन पर अभीष्ट संस्कार डाले जाएँ। विद्यालय यह कार्य तभी कर सकता है, जब कि वह स्वय समाज का संक्षिप्त रूप बन जाए और छात्रों की भोजन, वस्त्र, खेद-कूद, निवास, तथा शिक्षण आदि की सभी आवश्यकताएँ उसी के भीतर पूरी होती रहें। यदि छात्र कुछ घण्टे विद्यालय में रहें और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शेष समय समाज के दूषित बातावरण में बिताएँ, तो न जाने कितने बुरे संस्कार वे बाहर से ले आएँगे और विद्यालय के पवित्र यातावरण में खुले-आम या प्रच्छन्न रूप में विष घोलते रहेंगे। इसलिए छात्रों की निवास आदि की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय में ही पूरी होनी चाहिए।

ऐसा करने से अन्य अनेक लाभ होंगे। बहुत से छात्र इतने निर्धन होते हैं कि उन्हें घर पर स्वास्थ्यप्रद भोजन नही मिल सकता। बहुतों के घर ऐसे होते है, जिनमें स्वतन्त्रता-पूर्वक एकान्त में पढ़ने का स्थान मिलता कठिन होता है। बहुतों के माता-पिताओं के अपने आचार-विचार इतने अष्ट होते हैं कि उनका सम्पर्क विद्यालय के समस्त सुसंस्कारों को प्रभावहीन बना देता है। बहुत से छात्र कुसंग में पड़कर अपना अमूल्य समय बरबाद करने लगते हैं। बहुत से छात्र माता-पिता की गरीबी अथवा अमीरी के कारण नाना-प्रकार की कुभावनाओं तथा कुवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं। यदि छात्रों की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय में ही पूरी हो सकें, तो वे अपने गुरुओं की देख-रेख में समतुलित जीवन बिताते और अपने समय का अधिक से अधिक सदुपयोग करते हुए कम

से कम व्यय में अधिक से अधिक विद्या प्राप्त करके समाज के सुयोग्य पुत्र सिद्ध हो सकते हैं।

ऐसी स्थिति बननी चाहिए कि विद्यालय स्वतन्त्रता-पूर्वक छात्रों की उचित आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक पर्याप्तता तथा बाह्य हस्तक्षेप का अभाव ये दो आवश्यक शर्तें है। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि विद्यालयों का सम्पूर्ण भार समाज अथवा राज्य वहन करे और छात्रों के अभिभावकों को सीधे-सीधे विद्यालयों को कुछ न देना पड़े। ऐसा न होने पर बहुत से अभिभावक अध्यापकों को समाज के पूज्य सेवकों के स्थान पर अपने नौकरों सा मानकर ऐसी अवांछनीय परिस्थिति उत्पन्न कर सकते है, जिसमें अध्यापक-वर्ग आत्मसम्मान तथा स्वतन्त्रता के साथ अपना उत्तरदायित्व न निभा सके। यदि ऐसा होना असम्भव हो, तो समृद्ध अभिभावकों से शुल्क आदि लिये जाएँ और निर्धनों का सम्पूर्ण भार उदारतापूर्वक समाज उठाए। बाह्य हस्तक्षेप कभी कभी अभिभावकों की ओर से और कभी-कभी प्रबन्धकों की ओर से होता है। उस पर भी कठोर प्रतिबंध एवं नियन्त्रण रहना चाहिए।

(६) जिन्हे छात्रो के अभिभावकों का पूर्ण सहयोग मिलता रहता हो;

छात्रों में आधान करने के योग्य जिन गुणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों मे की जा चुकी है, उनका अच्छे प्रकार आधान हो जाए, इसके लिए निम्न-लिखित तीन बातें अत्यन्त आवश्यक हैं।

(अ) छात्रों को उनसे सम्बन्धित जानकारी मिल जाए;

(आ) छात्रों को उनका विधिवत् अभ्यास करा दिया जाए।

(इ) विद्या-प्राप्ति एवं अभ्यास के मार्ग मे बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों की निदान-पूर्व चिकित्सा होती रहे,

(ई) छात्रो के मन पर विरोधी संस्कार न पड़ने पाएँ।

छात्र विद्यालयों की देख-रेख में अधिक लगभग आठ घंटे रहते है। इस बीच में उपरिलिखित चारों बातों में से प्रथम द्वितीय तथा चतुर्थ के अनुकूल परिस्थितियाँ बनाए रखना विद्यालय का उत्तरदायित्व है। इस समय के उपरान्त उन पर अध्यापकों का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। इसके पश्चात् वे अपने अभिभावकों अथवा समाज के प्रभाव मे रहते हैं। उस काल में विद्यालय अपने छात्रों से जिस प्रकार का व्यवहार चाहता है, उस प्रकार के व्यवहार को उनसे कराने तथा विद्यालय की शक्ति के बाहर की चिकित्सात्मक व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व अभिभावकों अथवा समाज को स्वीकार करना चाहिए। अभिभावकों को एक बात सदैव याद रखनी चाहिये कि यदि वे चाहते है कि

उनके बालक-बालिकाएँ उनके तथा राष्ट्र के सम्मान के रक्षक बनें, तो उन्हें सावधानी के साथ विद्यालय का पूरक बनकर चलना चाहिए। यदि विद्यालय को उनका सहयोग न मिला, तो यह बिलकुल निश्चित है कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य में विद्यालय सफल नहीं हो सकेंगे। आज छात्रों की अनुशासन-हीनता की जो शिकायतें सुनने को मिलती है, उनका बहुत अंश में कारण अपने बच्चों के व्यवहार के प्रति अभिभावकों की उदासीनता है। अध्यापक वर्ग भी उसमें दोषी है परन्तु उतना नहीं जितना कि उसे कहा या समझा जाता है।

(६) जो प्रौढ़ और वयस्क लोगों के लिए भी शिक्षण की व्यवस्था करते रहते हों ?

(अ) शिक्षा जीवन-व्यापिनी प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन-भर—मृत्यु-पर्यन्त-सीखता रहता है। विद्यालय छोड़ने के बाद भी प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता रहती है। उनको शिक्षित करते रहने का उत्तरदायित्व भी विद्यालय को संभालना चाहिए। यदि विद्यालय सचमुच अपने चारों ओर विद्यमान सामाजिक जीवन का संक्षिप्त रूप है, तो वह सदैव इस स्थिति में रहेगा कि समाज के लोग उसके सम्पर्क मे आकर अपने-अपने विशिष्ट कार्य तथा सामान्य सामाजिक जीवन के विषय मे उससे सीखते रहे।

विद्यालयों द्वारा यह उत्तरदायित्व संभाल लिये जाने पर इससे उसे भी अनेक लाभ होंगे। उनमें से कुछ निम्नलिखित है :

(अ) समाज के लोगों को विद्यालय-जीवन मे आचरण के विषय बने हुए आदर्शों से नवीन प्रेरणाएँ प्राप्त होगी।

(आ) विद्यालय मे कार्य करने वाले विभिन्न विषयों तथा कलाओं के विशेषज्ञो को व्यावहारिक समस्याओं के प्रकाश मे अपनी जानकारी तथा कला-कुशलता को बार-बार निखारने का अवसर मिलेगा।

(इ) समाज के लोगों की दृष्टि मे विद्यालय की उपयोगिता तथा उसके अध्यापकों की योग्यता मे श्रद्धा बढ़ेगी फलतः उनका सामाजिक स्तर ऊँचा होगा।

(ई) छात्रों के निर्माण में अभिभावकों तथा समाज के लोगों का अधिक सहयोग मिल सकेगा। अध्यापक अभिभावकों का तथा अभिभावक अध्यापक का दृष्टिकोण समझ कर व्यर्थ की गलत-फहमी से बचे रहेंगे और छात्रों को इधर-उधर बातें मिलाकर काम टालने तथा अनुचित व्यवहार करने का अवसर नहीं रहेगा। अध्यापकों को यह भी अवसर रहेगा कि वे अभिभावकों तथा समाज के लोगों को उनके शिक्षा-विषयक उत्तरदायित्व का अनुभव करा सकें।

यह बात तो समाज के उन प्रौढ़ व्यक्तियों के विषय में रही, जिन्होंने कभी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है। अपने देश में दुर्भाग्य से ऐसे लोग भी हैं, जिन्होंने किसी विद्यालय में कभी शिक्षा नहीं पाई। उनमें से बहुत से तो ऐसे हैं, जो बिलकुल निरक्षर हैं। ऐसे लोगो के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व भी विद्यालय को विशेष रुचि के साथ स्वीकार करना चाहिए।

अभिभावको की ओर से असहयोग की जो शिकायत प्रायः विद्यालय को रहती है वह अधिकतर ऐसे ही अभिभावकों की ओर से रहती है। यदि किसी प्रकार इनसे विद्यालय का सम्पर्क स्थापित हो जाए, तो सम्पूर्ण समस्या का अधिकाँश स्वयं हल हो जाए। इस प्रकार शिक्षा के स्वरूप एवं महत्त्व से परिचित होकर अभिभावक स्वयं अपने बच्चों की शिक्षा में उचित रुचि लेने लगेंगे।

(८) जो अपने आपको समाज की सांस्कृतिक गति-विधियों का केन्द्र बना लेते है;

प्रत्येक समाज मे पुस्तकालयों तथा वाचनालयों के संचालन, विभिन्न उपयोगी विषयों पर अधिकारी विद्वानों के प्रवचन, राष्ट्रीय पर्वों के आयोजन तथा शिक्षा-प्रद मनोरंजन कार्यक्रमों के संगठन आदि के रूप में नानाविध सांस्कृतिक गति-विधियाँ चलती रहती है। इनके माध्यम से समाज के शिक्षित एवं अशिक्षित सभी वर्गों के शिक्षण एवं मनोरंजन दोनों होते रहते हैं। इन सबको जितने सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत रूप मे विद्यालय चला सकता है, उतना कोई अन्य संगठन नहीं चला सकता। उसके पास अध्यापकों के रूप में विद्वान् एवं सुसंस्कृत कार्यकर्ता, छात्रों के रूप में उत्साही स्वयं-सेवक, क्रीड़ा-प्राँगणों के रूप में बड़े-बड़े मैदान तथा बैठने के लिए आवश्यक साज-सज्जा सब कुछ होता है। अन्य के नेतृत्व में चलाए जाने पर इन आयोजनों में जो गन्दगियाँ उत्पन्न हो जाती है, विद्यालयों के नेतृत्व मे वे भी नही हो सकेंगी और संस्कृतिक जीवन का प्रवाह शुद्ध रूप में बढ़ता रहेगा। विद्यालय को भी ऐसे आयोजनों से सामाजिक जीवन मे महत्व मिलेगा, और समाज-सेवी व्यक्ति स्वतः उनकी ओर सेवा और सहायता के लिए आकृष्ट होंगे।

(९) जो समाज के अन्य अभिकरणों द्वारा आयोजित सांस्कृतिक गति-विधियों में भी अपना उचित योग-दान करते रहते है;

समाज में कुछ ऐसी भी गति विधियाँ चलती रह सकती है, जिनका आयोजन समाज के स्वतन्त्र अभिकरणों द्वारा किया जाता है। ऐसे आयोजनों मे विद्यालय को, जो भी सहायता और सेवा संभव हो, करनी चाहिए। शिक्षकों के नेतृत्व में छात्रों के दल जाकर प्रबन्ध-व्यवस्था में व्यवस्थापकों की सहायता

कर सकते हैं। जल पिलाना, भूले-भटकों को यथास्थान पहुँचाना, रोगियों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था करना, आगन्तुकों को यथास्थान बैठाना तथा आवश्यकता पड़ने पर शान्ति स्थापित करना आदि, ऐसे अनेक कार्य है, जिनमें विद्यालय के छात्र उपयोगी कार्य कर सकते है। इससे विद्यालय को यश तथा जनता की श्रद्धा मिलेगी और छात्रों को सामाजिक अनुभव।

(१०) जो प्रत्येक स्तर पर छात्रों को अध्येय वस्तु चुनने तथा शिक्षण-काल-समाप्ति के उपरान्त उपर्युक्त कार्य प्राप्त करने में यथोचित सहायता करते है;

विद्यालय-जीवन में छात्रों के सम्मुख अध्येय विषय चुनने की बड़ी समस्या रहती है। कोई अभिभावक चाहते है कि उनका पुत्र या पुत्री डाक्टर बने, कोई चाहते है कि इंजीनियर बने। छात्र की अपनी रुचि किसी और ओर होती है। कभी विभिन्न अध्यापक उसको विभिन्न क्षेत्रों मे भेजना चाहते है। यह परिस्थिति छात्र के लिए बहुत [illegible] हो जाती है। इस परिस्थिति से उद्धार भी विद्यालय ही कर सकता है। उसे चाहिए कि वह अपने संगठन मे ऐसे विशेषज्ञ रखे जो वैज्ञानिक ढंग से जाँच पड़ताल कर के छात्रों तथा उसके अभिभावकों का पथ-प्रदर्शन कर सके।

जब छात्र विद्यालय का स्नातक हो जाता है, तब उसके सामने जीविका की समस्या आती है। अपने छात्र को समाज के आर्थिक जीवन में उचित स्थान मिल सके, इसके लिए विद्यालय को भी प्रयत्न करना चाहिए। विद्यालय व्यवसायपतियो, कामदिलाऊ कार्यालयो तथा औद्योगिक सगठनों से सम्पर्क रखकर अपने छात्रो को काम दिला सकते है और यदि कभी उनके तथा उनके वृत्ति-दाताओं के बीच में कोई मतभेद या गलतफहमी उत्पन्न हो जाए, तो उसे दूर करने में भी सहायता कर सकते हैं।

अध्ययन-समाप्ति से पश्चात् भी विद्यालय की सहायता मिलते रहने से युवक गुरुजनों के प्रति श्रद्धावान् और विद्यालयों की आवश्यकताओं की पूर्ति में सचेष्ट रहेगा। इस सम्बन्ध से समाज तथा विद्यालय दोनों ही लाभान्वित होगे। अमेरिका आदि देशो में ऐसी परम्परा है। उसकी समृद्धि के अनेक कारणों मे से एक यह भी है।

इस प्रसंग में दूसरा प्रश्न यह है कि क्या करते हुए समाज अपने विद्यालयों से अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकता है। हमारी सम्मति में अधिक से अधिक लाभान्वित होने के लिए समाज को चाहिए कि :—

(१) वह आर्थिक दृष्टि से असम्पन्न अध्यापक का भी सम्मान करे; विद्या और जल सदैव नीचे की ओर प्रवाहित होते है। इसीलिए सभी

विद्वानों ने कहा है कि छात्र को गुरु के प्रति श्रद्धावान् होना चाहिए। हम एक कदम आगे बढकर यह कहना चाहते हैं कि केवल छात्र के ही नहीं सम्पूर्ण समाज को अध्यापक के सम्मुख श्रद्धावान् होना चाहिए। यदि समाज की ऐसी वृत्ति रहेगी तो छात्र स्वयमेव श्रद्धालु होगा। इसका परिणाम यह होगा कि अध्यापक स्नेह से विद्यादान करेगा और छात्र तथा समाज दोनों उससे लाभान्वित होंगे।

समाज द्वारा अध्यापक के प्रति सम्मान प्रकट करने का एक लाभ यह भी होगा कि समाज मे युवकों द्वारा बड़ों का सम्मान करने की परम्परा बनेगी और सभी को सम्मान मिलेगा। जो व्यक्ति अपने विद्या-गुरुओ का आदर नही करेगा, वह अपने अशक्त एव वृद्ध माता-पिता का आदर कर सकेगा, इसकी संभावना बहुत कम है।

(२) वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे कि अध्यापन के कार्य की ओर योग्य, प्रतिभा-सम्पन्न, सच्चरित्र एव समाज-सेवी व्यक्ति आकृष्ट हों;

किसी कार्य की ओर कोई व्यक्ति निम्नलिखित पाँच ही कारणो से आकृष्ट होकर आता है :—

(अ) व्यक्ति समझता हो कि उस कार्य को स्वीकार करके ही वह अपने आदर्शों के प्रति सच्चा रहते हुए समाज की सेवा कर सकता है;

(आ) उस कार्य के माध्यम से ही वह जीवन मे अभीष्ट सफलता प्राप्त कर सकता है;

(इ) वह कार्य उसे समाज मे समुचित सम्मान दिला सकेगा;

(ई) उस कार्य से उसे समाज में सुख और सम्मान के साथ रहने योग्य धन मिल सकेगा।

(उ) उसके लिए उस कार्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

इन कारणों में से प्रथम द्वितीय तथा पंचम कारण से जो अध्यापन-कार्य स्वीकार करना चाहते हैं, वे तो प्रत्येक परिस्थिति में इस ओर आएँगे ही। यदि सम्मान एवं अर्थ की दृष्टि से समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाएँ, तो ये व्यक्ति निश्चिन्तता और प्रसन्नता के साथ अधिक से अधिक अच्छा काम कर सकेंगे और समाज इनसे पूरी तरह लाभान्वित हो सकेगा। तृतीय और चतुर्थ कारणों से अध्यापक बनने की इच्छा दुर्भाग्यवश आज के समाज में कोई नही करता। आज का समाज न तो अध्यापक का सम्मान करता है और न उसे पर्याप्त धन देता है। फलतः प्रतिभा-सम्पन्न तथा सम्मान-प्रिय व्यक्ति प्रथम तो इस ओर आते ही नही हैं और जो तत्कालिक जीविका-सबधी

आश्यकताओ से प्रेरित होकर इधर आ भी जाते है, वे अवसर मिलते ही अन्य व्यवसायों में चले जाते है। फल यह होता है कि जो रह जाते है, उनमें बहुत कम उस श्रद्धा और आदर के पात्र होते है, जो प्रत्येक अध्यापक को मिलने चाहिए। यह स्थिति समाप्त होनी चाहिए। राष्ट्र के नेताओं को चाहिए कि वे अध्यापक की आर्थिक दशा मे ऐसा सुधार करदें कि अच्छे व्यक्ति इस ओर आएँ और उनमे से भी उपयुक्त व्यक्ति चुनकर लिए जा सकें।

राज्य-सरकारे तथा केन्द्रीय सरकार अब इस विषय मे सावधान और सचेष्ट हो रहे है। दुर्भाग्यवश मनुष्य निर्माण करने वाले सामाजिक अभिकरणों को उनकी ओर से प्राथमिकता नहीं मिल रही है। फलतः एक तरफ समृद्धि बढ़ रही है परन्तु दूसरी ओर चरित्र गिर रहा है। एक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह भी है कि जनता में अपने-अपने बच्चो को शिक्षित करने की चेतना तो बढ़ रही है परन्तु अध्यापकों की स्थिति सुधारने के विषय में वह लगभग उदासीन है। एक बात सभी सम्बद्ध व्यक्तियों को समझ लेनी चाहिए कि अध्यापकों की स्थिति में सुधार किये बिना वर्कशोपों, सेमिनारों, आश्वासनों तथा उपदेशों से कोई लाभ होने वाला नही है।

(३) वह विद्यालय के लिए वित्त तथा अन्य आवश्यक उपकरण उदारता के साथ जुटाए;

विद्यालय के सगठन और संचालन के लिए किस प्रकार की साधन-सम्पत्ति अपेक्षित होती है, इसकी चर्चा अगले किसी अध्याय मे की जायगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसके जुटाने में समाज को उदार वृत्ति रखनी चाहिये। बिना साधन-सम्पत्ति के अध्यापकों का बहुत सा समय तथा श्रम व्यर्थ चला जायगा।

(४) वह विद्यालय द्वारा चाहे हुये सहयोग को प्रस्तुत करना अपना प्रथम कर्तव्य माने;

नई पीढ़ी के शिक्षण के विषय मे अभिभावकों तथा समाज के कर्तव्य की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इस विषय में समाज में कर्तव्य-चेतना उत्पन्न होनी चाहिये। बहुत से अभिभावक तथा समाज के व्यक्ति के विद्यालय सहयोगी न बन कर आलोचक की भूमिका में काम करते हैं। उचित यह है कि वे पहले सहयोग दें और यदि उसका उचित उपयोग न किया जाय, तब आलोचक बने। कोरी आलोचना से विद्यालय के हाथ कमजोर होते हैं और राष्ट्र-निर्माण के कार्य में बाधा पड़ती है। आलोचना करते समय यह बात तो सदैव ध्यान रखनी चाहिये कि वह छात्रों के सम्मुख कभी न की जाय।

(५) वह विद्यालय द्वारा आयोजित गति-विधियों में उत्साह से भाग ले;

शिक्षित-पुनःशिक्षण, अशिक्षित-शिक्षण, तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में यदि समाज के लोग उत्साह से भाग नहीं लेंगे, तो वे गतिविधियाँ उत्साह-हीनता के वातावरण में कुछ दिन चलकर बन्द हो जायेंगी। इसमें विद्यालय तो घाटे में रहेगा ही, समाज को उसकी विशिष्ट योग्यताओं से लाभान्वित होने का अवसर नहीं मिलेगा। साथ ही असहयोग का एक ऐसा वातावरण समाज में बन जायगा कि समाज के छात्रों के समुचित विकास में एक बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। इसके साथ समाज की एक हानि यह भी होगी कि उसमें आदर्श-चेतना का प्रसार रुक जायगा और नैतिक मूल्यों का अनादर होने लगेगा। मूलों का शान्ति एवं समृद्धि के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

(६) वह नैतिक आदर्शों के आचरण में अत्यधिक सावधान रहे;

अच्छे चरित्र के निर्माण के लिये अच्छे सामाजिक वातावरण का होना आवश्यक होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतर व्यवहार अनुकरण-प्रेरित होता है। संकल्प-पूर्वक अपने आचरण को असामाजिक धाराओं में न बहने देने की योग्यता बहुत कम व्यक्तियों में और वह भी पर्याप्त शिक्षा तथा सामाअनुभव के पश्चात् आती है। अच्छे वातावरण मे उस योग्यता का अभाव भी उच्छृङ्खलता उत्पन्न होने का कारण नही बनता। समाज की नई पीढ़ी के आचरण असामाजिक न हो जाएँ इसके दो ही उपाय है। प्रथम, या तो निर्माण आयु में छात्र समाज से दूर शिक्षा-उपनिवेशो से रहै अथवा सम्पूर्ण समाज अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रखे। समाज उच्छृङ्खलतापूर्वक जैसा चाहे वैसा व्यवहार करता रहे और उसमे रहते हुए भी युवक बिगड़ें न, यह नही हो सकता। आज जबकि पृथक् शिक्षा-उपनिवेशों की परम्परा टूट चुकी है और उनकी स्थापना की ओर किसी का ध्यान नही है, आचरण के विषय में समाज का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। अपने देश के छात्रों के नैतिक व्यवहार के स्तर के गिरने का बहुत अंश में यही कारण है कि समाज अपने व्यवहार पर नियन्त्रण न रखकर युवकों से आशा करता है कि वे भिन्न मार्ग पर चलकर नैतिक बने रहें। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा जाता है कि बहुत से लोग अपने बच्चों से ही यह चाहते है कि वे उनके प्रति तो सद्व्यवहारी तथा सदाचारी बने रहें परन्तु अन्यों के साथ उनका व्यवहार वैसा हो, जिसमें तात्कालिक लाभ, सुख तथा सुविधा प्राप्त होने की अधिक से अधिक सम्भावना हो। इससे काम नहीं चलेगा और यदि समाज युवकों में नैतिकता का प्रसार चाहता है तो उसे जीवन के प्रति अधिक आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

जिस राष्ट्र के समाज तथा विद्यालय परस्पर इस प्रकार के कर्तव्यो के

माध्यम से बँधे रहते हैं, वह दिन दूना रात चौगुना फूलता-फलता है। जहाँ के विद्यालय अथवा समाज एक दोनों दूसरों के कर्त्तव्यों की चिन्ता न करके अपने अपने कर्त्तव्यों के पालन में जुटे रहते हैं, वहाँ भी थोड़े समय के उपरान्त दूसरा पक्ष नैतिक दबाब के कारण स्वतः सुधर जाता है। परन्तु जहाँ विद्यालय समाज से और समाज विद्यालयो से कर्त्तव्य-पालन की पहल कराने के लिए अड़जाते हैं, वहाँ एक कुचक्र बन जाता है और राष्ट्र दिनों दिन अधोगति को प्राप्त होता जाता है। प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक हितैषी का पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने यहाँ इस कुचक्र को न उत्पन्न होने दे और यदि यह उत्पन्न हो जाए तो उसको तोड़ने में अपनी पूरी शक्ति लगा दे।

अपने देश में शिक्षा के क्षेत्र में जो दुरवस्था फैली हुई है, उसका कारण यही कुचक्र है। अध्यापक चाहते हैं कि पहले समाज उनकी माँगे पूरी करे और समाज अथवा राज्य चाहता है कि अध्यापक अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हों। अध्यापक बन्धुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि इस कुचक्र को तोड़ने में वे पहल करें। अपने वर्गीय सङ्गठन तथा सुशिक्षण से वे वर्तमान समाज तथा भावी समाज (अपने छात्रों) दोनो को शिक्षक के महत्व और महत्ता का अनुभव कराने का प्रयत्न करें जिससे आज का समाज जो कुछ कर सके वह तो करे ही, अगली पीढ़ी कासमाज अध्यापको का समाज में उचित गरिमापूर्ण स्थान दे सके। समाज का प्रतिनिधि राज्य अपनी ओर से कुछ पहल कर रहा है परन्तु मनचाही स्थिति बन जाने तक प्रतीक्षा करना हमारे वर्ग के सम्मान के अनुकूल नहीं होगा।

परिवार और विद्यालय

समाज और विद्यालय के सम्बन्धों के विषय में बहुत बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब थोड़ा-सा विचार विद्यालय और परिवार के सम्बन्धों पर भी कर लेना चाहिए। समाज की सबसे छोटी सामाजिक इकाई परिवार होते है। समाज और विद्यालय के बीच जिन सम्बन्धों की चर्चा की जा चुकी है, उनमें बहुत से परिवार के माध्यम से ही चलते हैं। उदाहरणार्थ, समाज के जो बच्चे विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे परिवारों से ही निकल कर वहाँ पहुँचते हैं। इसी प्रकार जो स्नातक विद्यालय से निकल कर समाज में जाते है वे पहले परिवार का अंग बनकर ही समाज के अंग बनते हैं। इसलिए विद्यालय और परिवार के सम्बन्ध पर विचार करना उचित ही है।

परिवार विद्यालय के पोषक

परिवार धन और जन द्वारा विद्यालयों के पोषक होते हैं। परिवारों से निकलकर ही बच्चे विद्यालय में जाते हैं अतः इस रूप में वे भी विद्यालयों के

पोषक होते हैं। साधारणतया शुल्कों के तथा कभी-कभी दान रूप में धन देकर वे विद्यालयों का आर्थिक पोषण भी करते ही है। अपनी सन्तानों को विद्यालयों में भेजे बिना परिवार अपने को कर्तव्य-मुक्त नहीं समझते। इस प्रकार वे उन्हें मान्यता का पोषण भी प्रदान करते है।

परिवार विद्यालय से पूरक

विद्यालय की सीमाओं में बाहर आकर छात्र अपना अधिकतर समय परिवार में तथा कुछ समय परिवार के बाहर खुले समाज में बिताते है। फलतः परिवार उन्हें विद्यालय मे सीखे हुए विचारों के आचरण का अवसर प्रदान करते है। सामाजिक गुणों के अभ्यास के लिए आवश्यक आत्मीयता की जो कमी विद्यालय में रह जाती है, परिवार उसकी कमी की भी पूर्ति करते हैं। अध्ययन की दृष्टि से गृहकार्य आदि जो कुछ विद्यालय में नही किया जा पाता, परिवार उसके लिए उचित स्थान बन जाते हैं। व्यक्तित्व-निर्माण के लिए आवश्यक भोजन-आदन आदि की व्यवस्था करके भी परिवार विद्यालय के पूरक का ही कर्तव्य पूरा करते है। अच्छे शिक्षित एवं सुसंस्कृत परिवार अच्छा वातावरण बनाकर शिक्षा के विद्यालयीय क्षेत्र में भी अपना योगदान करते रहते है। उनसे विद्यालयों को सुसंस्कृत बच्चे मिलते हैं, जिन पर विद्यालयों को अपेक्षाकृत कम श्रम व्यय करना पड़ता है।

परिवार विद्यालय के आदर्श

परिवार विद्यालय के आदर्श भी होते है। छात्र स्नातक बनकर पहले परिवारों में ही जाते है और वहाँ आदर्श पुत्र, पति, पिता, पुत्री, पत्नी, माता, भाई, बहन आदि का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। विद्यालय को सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि जहाँ उसके स्नातक सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पदों पर योग्यता-पूर्वक काम कर सकें; वहां वे पारिवारिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह में भी अयोग्य न सिद्ध हों। उसे अपने पाठ्यक्रम आदि का निर्धारण इस बात को भी दृष्टि में रखकर करना पड़ता है। इस प्रकार परिवार विद्यालय के लिए आदर्श बने रहते है।

परिवार विद्यालय के लिए एक अन्य प्रकार से भी आदर्श होता है। किसी भी स्वस्थ और सुव्यवस्थित परिवार का संचालन जिन सिद्धान्तो के आधार पर होता है और उसके सदस्य जिस प्रकार परस्पर कर्तव्यों की मर्यादाओं से बँधे रहते हैं, सम्पूर्ण समाज तथा विद्यालय में भी उन्ही को मान्यता मिलनी चाहिए। जो विद्यालय इस प्रकार परिवार को आदर्श समझते है उनमें अनुशासन और व्यवस्था की समस्याएँ कभी उत्पन्न नही होतीं। इसी बात को

दृष्टि में रखकर एक विद्वान् ने कहा हैं "परिवार सामाजिक व्यवहार की प्रथम पाठशाला होते हैं।"

विद्यालय की स्थिति

समाज और विद्यालय के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि वे परस्पर पोषक पूरक तथा आदर्श होते हैं। यही बात परिवार तथा विद्यालय के सम्बन्धों के विषय में समझनी चाहिए। विद्यालय परिवारों से अशिक्षित बच्चों को लेते हैं और उन्हें पूरी तरह शिक्षित एवं योग्य बनाकर परिवारों को वापस कर देते हैं। इस प्रकार वे परिवारों के पोषक होते है। बच्चे परिवारों में उत्पन्न होते हैं। उन्हें शिक्षित करना प्रथमतः परिवारों का ही उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व को विद्यालय उठा लेते हैं, इस प्रकार वे परिवारों के पूरक होते हैं। ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि विद्यालय समाज के संक्षिप्त, सरलीकृत एवं परिष्कृत रूप होते हैं। इस कारण उनमें सभी परिस्थितियाँ आदर्श रूप में रखी जाती है। अपनी आदर्श परिस्थितियों के कारण वे परिवार के लिये आदर्श होते हैं। जो व्यवहार-सिद्धान्त विद्यालय में चलते है, यदि उन्हें परिवार अपनाए रहे तो वे सुख-शान्ति सम्पन्न तथा तेजस्वी बने रह सकते हैं।

परस्पर उपयोगी कैसे हों ?

विद्यालय तथा समाज के विषय में इस प्रश्न का उत्तर विचार से दिया जा चुका है। उसे पढ़कर थोड़े से परिवर्तन के साथ इस प्रश्न का उत्तर स्वयं निकल आता है। इसलिए इस विषय में अधिक लिखकर पुस्तक का कलेवर नहीं बढ़ाया जा रहा है। पाठक वही देखने की कृपा करें।

उपसंहार

इस प्रकार विद्यालय, समाज तथा परिवार से सम्बन्धित प्रश्नों पर संक्षेप से विचार हो चुका है। इसमें जितनी बातें विद्यालय के संगठन और संचालन के लिए उपयोगी हैं, उनका ध्यान रखते हुए किस प्रकार अध्यापक, प्रधानाध्यापक तथा कर्मचारी काम करें, इसकी चर्चा अगले अध्यायों में की जायगी।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय विद्यालयों का साध्य तथा कार्य-पद्धति

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; "सफल जीवन" पहले निर्णय; सफल जीवन का स्वरूप—दर्शन परस्पर-विरोधी, प्रतीक्षा नहीं की जा सकती, केवल एक मार्ग, संविधान-परिषद् का निर्णय, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगा जीवन सफल; विशिष्ट समाज के लिए उपयुक्त व्यक्ति आवश्यक; जनतन्त्र का स्वरूप एवं विशेषताएँ; जनतन्त्र के लिए आवश्यक गुण; कतिपय सामान्य गुण ; विद्यालय का साध्य गुणाधान; विद्यालय की सामान्य कार्य-पद्धति ।

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि समाज की उगती हुए पीढ़ी को सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणों से भूषित करने की प्रक्रिया को शिक्षण कहा जाता है। यह भी वहीं कहा जा चुका है यह प्रक्रिया विधि-बद्ध रूप से विद्यालय में चला करती है। इतने कथन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि अपने देश के विद्यालयों का एक मात्र साध्य नई पीढ़ी में आवश्यक गुणों का आधान है। परन्तु इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि वे

आवश्यक गुण कौन से हैं और उनका आधान किस प्रकार किया जायगा। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

"सफल जीवन" पहले निर्णय

जिन गुणों की चर्चा हम इस अध्याय में करना चाहते हैं, उन्हें हम इसलिए आवश्यक मानते हैं क्योंकि वे नई पीढ़ी के लिए सफल जीवन बिताने के प्रयोजन से आवश्यक होंगे। फलतः जब तक यह निर्णय न कर लिया जाये कि किस प्रकार के जीवन को सफल समझना उचित होगा, उसके लिये आवश्यक गुणों की चर्चा संभव नहीं है। आइये, पहले सफल जीवन के स्वरूप पर ही विचार कर लिया जाए।

सफल जीवन का स्वरूप

दर्शन परस्पर विरोधी—भारतवर्ष चिरकाल से विचार-स्वतन्त्रता-वादी देश रहा है। परिणामस्वरूप जितने दार्शनिक सम्प्रदाय यहाँ उत्पन्न हुये, उतने संसार के सभी देशों में मिलाकर भी नहीं हुये। उनके अतिरिक्त विदेशी आक्रमणों के साथ आकर अनेक विदेशी विचार-धाराएँ भी यहाँ आकर जम गईं। इस देश में प्रचलित दार्शनिक विचार-धाराओं की गणना की जाये, तो निश्चय ही उनकी संख्या कोड़ियों में निकलेगी। मानव-जीवन के उद्देश्य का चिन्तन प्रत्येक दर्शन का प्रिय विषय होता है। प्रत्येक दर्शन मानव-जीवन के उद्देश्य के विषय में कोई न कोई धारणा रखता है और साथ में यह भी घोषणा करता है कि जो व्यक्ति अपने जीवन को उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति में खपा देता है, उसे ही अपने जीवन को सफल समझना चाहिए। इतना ही नहीं, वह यह भी कहता है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति में नहीं लगाया, उसे समझना चाहिए कि उसका जीवन बिलकुल नष्ट होगया।

प्रतीक्षा नहीं की जा सकती—दार्शनिकों में यह झगड़ा सृष्टि के आरम्भ से चल रहा है और कोई नहीं कह सकता कि कब समाप्त होगा। यदि किसी व्यक्ति को अपने लिए सफल जीवन का स्वरूप निश्चित करना हो तो वह उनमें से जिसकी बात उसकी समझ में आजाए, उसके पीछे चल सकता है। परन्तु हमें तो सम्पूर्ण समाज के लिए सफल जीवन का स्वरूप निर्धारित करना है अतः हम किसी एक को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर नहीं चल सकते। और यदि प्रत्येक दार्शनिक से पूछ-पूछ कर प्रत्येक की पूर्ण सहमति से सफल जीवन के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाए, तो हमें उतनी ही सफलता मिलने की आशा है, जितनी मेंढक तौलने के प्रयत्न में मिल सकती है।

यह भी संभवतः उचित एवं संभव नहीं है कि जब तक वे आपस में पूरी तरह सहमत हो लें, तब तक हम प्रतीक्षा करते रहें।

केवल एक मार्ग :—ऐसी परिस्थिति में हमारे सामने एक यही मार्ग रह जाता है कि हम उन सब विचारधाराओं में से सामान्य तत्वों को ग्रहण कर के उनके आधार पर "सफल जीवन का स्वरूप" बनालें और उसी को अपना राष्ट्रीय साध्य मानकर चल दें। इस प्रकार स्वरूप-निर्णय की बाधा को पार करने के पश्चात् उसके लिये आवश्यक गुणों के चिन्तन एवं निर्धारण दोनों सरल हो जाएंगे।

संविधान परिषद् का निर्णय—शताब्दियों की पराधीनता के पश्चात् १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ। स्वाधीनता के साथ उसे स्वतन्त्र वायु-मंडल में साँस लेते हुये अपने लिए संविधान बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस अधिकार का प्रयोग करने के लिए सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधि संविधान परिषद् के रूप में एकत्रित हुए। इस संविधान-परिषद् में देश के सभी दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वर्गीय हितों के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सबने गम्भीर विचार-विनिमय के पश्चात् एक विशेष प्रकार के राष्ट्रीय समाज तथा राज्य की स्थापना को अपने राष्ट्रीय प्रयत्नों का उद्देश्य निश्चित किया। अपने प्रयोजन की दृष्टि से हमें संविधान-परिषद के निर्णय को इस देश में विद्यमान समस्त विचार-धाराओं का सामान्यीकृत रूप मान लेना उचित प्रतीत होता है। शुद्ध दार्शनिक चिन्तन के आधार पर भी हम उस परिणाम पर पहुँच सकते हैं परन्तु अनावश्यक विस्तार के भय से हम उससे बचकर आगे बढ़ना उचित समझते हैं।

राज्य और राष्ट्र के भावी स्वरूप के विषय में भारतीय संविधान की प्रासंगिक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

"हम भारत के लोग भारत को एक सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न जन-तन्त्रीय गण-राज्य में परिणत करने तथा इसके समस्त नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, श्रद्धा तथा पूजा की स्वाधीनता और स्थिति तथा अवसर की समानता देने एवं व्यक्ति के गौरव तथा राष्ट्रीय एकता का आश्वासन देने वाली भ्रातृ-भावना को विकसित करने का गम्भीर निश्चय करके आज २६ नवम्बर १९४९ को अपनी संविधान परिषद् में इस संविधान को स्वीकार करते, कानून का रूप देते तथा अपने आप को प्रदान करते हैं।"

"राज्य अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक ढँग से एक ऐसी सामाजिक

व्यवस्था को जन्म देगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की भावना राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं में व्याप्त रहेगी और वह उसकी रक्षा करते हुए जनता के कल्याण में [illegible] रहेगा।"

"राज्य अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि करने, राष्ट्रों के बीच न्यायानुमोदित एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने, संगठित राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहारों में सन्धियों तथा अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के प्रति आदर-भाव भरने तथा अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिमय निबटारों को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करेगा।"

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगा जीवन सफल—इन उद्धरणों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने मिलकर भारत को एक सर्वशक्ति-सम्पन्न जनतन्त्रीय गणराज्य तथा भारतीय जनता को एक शान्ति-प्रिय जनतन्त्रीय समाज में परिणत करना अपने राष्ट्रीय प्रयत्नों का लक्ष्य निश्चत किया है। फलतः हम यह कह सकते हैं कि लौकिक दृष्टि से हमे उस जीवन को सफल समझना चाहिए, जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के ऊपर वर्णित स्वप्न को साकार करने में खप जाए। सफल जीवन का यह स्वरूप पारलौकिकता-प्रधान दर्शनों की मान्यताओं से एकदम विरुद्ध भी नही है क्योंकि यह उनको व्यावहारिक रूप देने के लिए व्यक्तिगत जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को बिलकुल स्वतन्त्र छोड देता है।

विशिष्ट समाज के लिए उपयुक्त व्यक्ति आवश्यक

किसी भी समाज की रचना व्यक्तियों से मिलकर होती है। जिस प्रकार किसी भवन की दृढ़ता अन्य बातों के साथ-साथ उसके निर्माण में प्रयुक्त ईंटों और गारे की उपयुक्तता पर भी निर्भर होती है, उसी प्रकार समाज को विशिष्ट प्रकार का बनाने के लिए विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति भी अनिवार्यतः आवश्यक होते हैं। जनतन्त्रीय समाज की स्थापना में उपयोगी होने के रूप में सफल जीवन का स्वरूप निर्धारित होजाने पर अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न स्वतः उपस्थित होगया है कि इस प्रकार के समाज के लिये व्यक्ति में किन २ गुणों का आधान आवश्यक होगा। इस प्रश्न का उत्तर भी सीधे-सीधे निकलना कठिन है। पहले हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि अन्य तन्त्रों की तुलना मे जनतन्त्र की अपनी कौन-कौन सी विशेषताएं होती हैं। उनके आधार पर ही यह निश्चय किया जा सकेगा इस तन्त्र के लिए कौन-कौन गुण उपयोगी होगे।

जनतन्त्र का स्वरूप एवं विशेषताएँ

साधारणतया यह समझा जाता है कि जनतन्त्र एक विशेष प्रकार की शासन-पद्धति होता है। इसकी प्रसिद्ध परिभाषा "जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा प्रशासन" ही इस धारणा का आधार प्रतीत होती है। परन्तु अब उसे केवल एक शासन-पद्धति ही नहीं, जीवन-पद्धति[1] माना जाता है। यदि "प्रशासन" शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में किया जासके कि मानव-जीवन के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में चलने वाले प्रशासन भी इसकी सीमा में आजाएँ, तो यह परिभाषा भी हमें "जीवन-पद्धति" का अर्थ दे सकती है। हमारे संविधान में जनतन्त्र शब्द इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह बात सदैव हमारे ध्यान में रहनी चाहिए।

जीवन की समस्त पद्धतियों को एकतन्त्र, वर्गतन्त्र, तथा जनतंत्र इन तीन स्थूल वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैसा कि नामों से स्पष्ट है कि जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न एवं समस्या के हल के विषय में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार एकतंत्र में किसी एक परम्परागत अथवा निर्वाचित व्यक्ति को, वर्गतंत्र में किसी विशिष्ट आधार पर बने हुए वर्ग को तथा जनतंत्र में सम्पूर्ण नागरिक-समष्टि अथवा उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों को होता है। प्रथम दो तन्त्रों में सर्वसाधारण का कोई अधिकार नहीं होता। उसमे उसको केवल यही आदर्श अथवा सिद्धान्त रखने के लिए विवश होजाना पड़ता है कि सम्बद्ध व्यक्ति अथवा वर्ग किसी विषय में जो भी निर्णय करदे, वह उसको बिना किसी ननु-नच के क्रियान्वित करे।

इसके विपरीत जनतन्त्र निम्नलिखित मान्यताओं को आधारभूत मानकर चलता है —

(१) जाति, धर्म, वर्ग, नस्ल, लिङ्ग, तथा आयु का विचार बिना रखे, प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व आदरणीय है।

(२) प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को अपने को प्रभावित करने वाले निर्णयों पर पहुँचाने वाले विचार-विनिमयों तथा उन निर्णयों का क्रियान्वयन और मूल्यां-

1. Democracy is "a mode of associated living, of conjoint communicated experience." Democracy & Education P. 101. It is a from of Government; it is a kind of economy; it is an order of society; it is all these things together.
The Education of Free Man in American Democracy. p. 32.
"Unless Democracy comes to govern all human behaviour and unless it is reflected in all our thought & action. it can not survive".

शन करने वाले अभिकरणों[1] में समानता के आधार पर भाग लेने का जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त है[2],

(३) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विकास का अवसर, योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार सामाजिक स्थिति, तथा पारिश्रमिक मिलना चाहिए,

(४) किसी व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत योग्यता के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर विशेषाधिकार पाने का अधिकार नहीं है,

(५) किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को किसी अन्य व्यक्ति अथवा वर्ग का शोषण नहीं करना चाहिए,

(६) राज्य के कानून के सम्मुख सभी व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव के समान है और प्रत्येक व्यक्ति को विधान-सम्मत कानून के आधार पर ही, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति एवं जीवन से विमुक्त किया जा सकता है,

(७) प्रत्येक व्यक्ति विचार करने, अपने विचारों को लेखनी अथवा वाणी द्वारा प्रकट करने, मनचाहे धर्म में विश्वास करने, अपने धर्म का प्रचार करने, अपने विचारों का प्रचार करने तथा उन्हें क्रियात्मक रूप देने के लिए संगठन बनाने, बने हुए संगठनों में सम्मिलित होने, मनचाहे जीविका-साधन को अपनाने, अपने देश की सीमा में स्वतन्त्रता-पूर्वक आने-जाने तथा निवास करने और वैयक्तिक सम्पत्ति को अपने स्वत्व में रखने में पूरी तरह स्वतंत्र है,

(८) प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रयोग तथा कर्तव्यों के पालन में इस प्रकार सजग रहना चाहिए कि उसकी सुविधा किसी अन्य के लिए असुविधा का कारण न बन जाए,

(९) जो व्यक्ति अथवा वर्ग जितना ही अधिक असहाय अथवा असमृद्ध है, उसे इतनी ही अधिक सहानुभूति मिलनी चाहिए,

(१०) अल्पमतों को अपने हितों की रक्षा के लिए न्यायोचित संरक्षण मिलने चाहिए,

(११) मतभेदों को न केवल सहा जाना चाहिए अपितु उन्हें आदर के साथ सुनकर उन पर विचार किया जाना चाहिए,

(१२) एक समाज के व्यक्तियों की भाँति सम्पूर्ण विश्व के सभी राष्ट्रों को भाईचारे, शान्ति और सहयोग के साथ रहना चाहिए।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जनतन्त्रीय व्यवस्था स्वतंत्रता, समता,

1. Agencies. 2. Democeacy demands that each human being be dealt with by his fellows as a living, growing and potentially flowering organism that has a right to be a participant in decisions that stand to affect him.—R. Mont Paul.

विश्वबन्धुत्व एवं योग्यता के महान् आदर्शों से अनुप्राणित होकर चलती है। अन्यतंत्रों में या तो यह विशेषता होती ही नहीं है और यदि होती भी है तो वह बहुत ही सीमित क्षेत्र में रहती है।

जनतन्त्र के लिये आवश्यक गुण

जनतंत्र की इस विशेषता को समझ कर अब हम यह निश्चय कर सकते हैं कि इस पर आधारित राष्ट्र और समाज के निर्माण तथा संचालन के लिए उसके प्रत्येक व्यक्ति में किन गुणों का आधान आवश्यक होगा। हमारे विचार से जनतन्त्रीय व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति में निम्नलिखित गुण उत्पन्न किये जाने चाहिए :—

१. अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ गहरा आत्मवद्भाव; [१]

आत्मवद्भाव अनेकानेक सामाजिक गुणों का जनक है। उपरिलिखित जनतंत्रीय मान्यताओं में व्यक्ति के जिन आधारभूत अधिकारों की चर्चा की गई है, उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए तो चाहता ही है, परन्तु अन्य व्यक्ति भी उन्हें अपने लिए चाहकर अनुचित नहीं करते, यह बात तभी समझ में आजाती है, जब कि किसी की अनुभूति मे यह बात उतर जाती है कि दूसरे भी अपने ही समान है। आत्मवद्भाव को ही दूसरे शब्दों में समता का भाव कहते हैं। इसके बिना जनतंत्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

मनुष्य की कुछ ऐसी प्रकृति है कि वह दुःख चाहे, अकेले झेल ले परन्तु आनन्द मनाने के लिये साथी चाहता है। ऐसे अवसरों पर वह साथी भी उन्हे ही बनाना चाहता है, जिन्हे अपना आत्मीय मानता है। यह भी संभवतः प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव का अंग ही है कि वह जिन्हें अपना आत्मीय मानता हैं, उनके दुःख में दौड़कर सम्मिलित हो जाना चाहता है। जनतन्त्रीय व्यवस्था के सुसंचालन के लिए यह आवश्यक है कि समाज अथवा राष्ट्र के प्रत्येक घटक (व्यक्ति) के हृदय में अपने आनन्द में सम्पूर्ण राष्ट्र के अन्य व्यक्तियों को साथी बना लेने तथा दुःख के समय में उनका सहयोगी बन जाने की भावना हो। इसी भावना को दूसरे शब्दों में भाईचारे या भ्रातृत्व की भावना भी कहते है। यह भावना प्रत्येक व्यक्ति में जितनी ही अधिक गहरी होगी, वह दूसरों के हित की बात उतनी ही ममता के साथ सोचेगा और जनतन्त्र ईर्ष्या, द्वेष, तथा छल आदि दुर्भावों से उत्पन्न समस्याओं से उतना ही निर्मुक्त होकर चलेगा।

३— वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं के विषय में व्यापक सामान्य ज्ञान;

---

१. आत्मौपम्येन भूतेषु समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमोमतः। गीता ६।३२

समाज की रचना किसी तन्त्र पर आधारित हो, अपनी व्यक्तिगत तथा अपने निकटवर्ती समाज में उठने वाली समस्याओं तथा उनके हलों से प्रत्येक व्यक्ति को परिचित होना पड़ता है। उसके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता। जनतन्त्रीय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत तथा निकटवर्ती सामाजिक समस्याओं को हल करने के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र की समस्याओं के विषय में चिन्तन एवं सम्मति-दान करना पड़ता है। सबकी सम्मतियों के सहारे ही राष्ट्र-नीति का निर्धारण होता है। विशेषज्ञों की सम्मतियों पर भी अन्तिम मुहर जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों को ही लगानी पड़ती है। स्वस्थ राष्ट्रनीति राष्ट्र को समृद्धि के शिखर पर चढ़ा देती है और अस्वस्थ राष्ट्र-नीति से वह सर्वनाश के गर्त में गिरकर विनष्ट हो जाता है। नागरिकों में स्वस्थ राष्ट्रनीति के निर्धारण की योग्यता व्यापक सामान्य ज्ञान से ही उत्पन्न हो सकती है।

४—स्वस्थ चिन्तन, अभीष्ट प्रभावोत्पादक अभिव्यंजन तथा सहचिन्तन[1] का अभ्यास;

स्वस्थ चिन्तन—उपस्थित परिस्थिति के पूर्वाग्रह-मुक्त वस्तुगत विश्लेषण,[2] परिणाम-निर्धारण तथा सत्यापन[3] पर आधारित चिन्तन को स्वस्थ कहा जा सकता है। उसमें चिन्तक के पूर्वाग्रहों तथा वाह्य प्रभावों का प्रवेश होते ही वह अस्वस्थ हो जाता है। प्रत्येक विषय मे ठीक निर्णय पर स्वस्थ चिन्तन के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है। सहचिन्तन तथा चुनाव-प्रचार के अवसरों पर जब विभिन्न व्यक्ति परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते है और जब भावनायें भड़का कर अपने-अपने पक्ष में सम्मति-दान कराने का प्रयत्न चला करता है, तब व्यापक सामान्यज्ञान से सम्पन्न तथा स्वस्थचिन्तन का अभ्यासी व्यक्ति ही बहकावे से बच सकता है। अन्य प्रकार के तन्त्रों में, जहाँ एक या कुछ व्यक्तियों को सबके बदले निर्णय करना पड़ता है, थोड़े से व्यक्तियो में ही इस योग्यता के उत्पन्न कर लेने से काम चल सकता है, पर जनतन्त्री पद्धति में यह गुण सर्वसाधारण में उत्पन्न करना आवश्यक होता है।

जनतन्त्रीय पद्धति की एक कमी यह बताई जाती है कि उसमें निर्णय करने में समय बहुत लगता है। अस्वस्थ चिन्तन के अभ्यासी व्यक्तियों के कारण ही यह आरोप लगा करता है। ऐसे व्यक्ति न तो दूसरे व्यक्तियों की बात जल्दी समझ पाते हैं और न वे जल्दी यह जान पाते हैं कि उनकी स्थापना में किस स्थल पर क्या दोष है। परिणाम यह होता है कि विचार-विनिमय

1. Co-operative thinking
2. Unprejudiced objective analysis. 2. Verification.

वाद-विवाद में बदल कर लम्बा खिंचता चला जाता है। यदि विचार-विनिमय में भाग लेने वाले सभी व्यक्ति स्वस्थ चिन्तन के अभ्यासी हों, तो व्यर्थ की बातचीत मे बिगड़ने वाला समय बच जाता है।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि वह अपनी तथा दूसरों की व्यक्तिगत विशेषताओं तथा कमियों की सीमाओं को स्पष्टतया समझे। इसके अभाव मे मानव-सम्बन्ध-मूलक अनेकानेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। स्वस्थ चिन्तन का अभ्यासी किसी अन्य की सीमाएँ जान पाए या न पाए परन्तु अपनी सीमाओ को अच्छी प्रकार समझ लेता है और इस प्रकार प्राप्त आत्म-ज्ञान के सहारे बहुत सी उलझनों मे फँसने से बचा रहता है। उसकी इस वृत्ति से समाज को भी लाभ होता ही है।

अभीष्ट प्रभावोत्पादक अभिव्यंजन—अपने विचारों और भावों को अभीष्ट प्रभावोत्पादक रूप मे व्यक्त करना एक महत्त्वपूर्ण कला है। जब कभी निर्णय पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद किये जाते हों, तब इस कला का महत्त्व और अधिक बढ जाता है। यही कारण है कि जिस-जिस समाज में जनतन्त्रीय पद्धति प्रचलित रही है, उस-उसमे इस कला को विशेष महत्त्व दिया गया है। वैदिक राष्ट्रगीत "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो" में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र के युवक सभाचतुर हो। अमेरिका आदि जनतन्त्रीय देशों में इस कला के शिक्षण के लिए अनेक विद्यापीठ खुले हुए है। कार्नेगी इंस्टीट्यूट उन्ही में से एक है। प्राचीन यूनानी शिक्षा में भी इसको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था।

इसके अभाव में बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति अपनी सही बात भी दूसरों को नहीं समझा पाता और जिनके पास यह कला होती है वह अपनी गलत बात को भी श्रोताओं से मनवा लेता है। सहचिन्तन पर आधारित पद्धति में यह विशेषता प्रत्येक नागरिक मे यथासंभव अधिक से अधिक होनी चाहिए। यहाँ अभिव्यंजना से तात्पर्य लिखित और मौखिक दोनों प्रकारों के अभिव्यंजनों से है। सभी जानते है कि जनतन्त्रीय पद्धति में और विशेषतया आजकल समाचार-पत्रों आदि लिखित उपकरणों का महत्त्व मौखिक से अधिक हो गया है।

सहचिन्तन—जनतन्त्रीय पद्धति में प्रत्येक समस्या का हल सहचिन्तन के माध्यम से किया जाता है। बौद्धिक स्तर पर सम्पूर्ण जनतन्त्रीय व्यवस्था सहचिन्तन का ही विशाल रूप है। इसमें विचार-विनिमय अनेक औपचारिक समूहों में होता है। जनतन्त्रीय समाज के घटकों को विभिन्न प्रकार के समूहों की रचना तथा कार्य-पद्धतियों से परिचित होना चाहिए। उन्हें आत्मसंयम का

इतना अभ्यासी भी होना चाहिए कि वे सदैव शिष्ट तथा यथावसरभाषी रहें। इस गुण के अभाव में समूह ठीक निर्णय तो कर ही नहीं पाते, वे कभी-कभी युद्ध-भूमि का रूप धारण कर लेते हैं। जिन्हें सहचिन्तन का अभ्यास नहीं होता, वे अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी जनतन्त्रीय नागरिक का कर्तव्य कदापि नहीं निभा सकते।

४—मिलजुल कर काम करने का अभ्यास;

जनतन्त्रीय पद्धति में सहचिन्तन के आधार पर किये हुए निर्णयों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व भी सबके ऊपर ही होता है। जिस समय कोई समूह किसी काम में जुटा हुआ होता है, उस समय उसके प्रत्येक सदस्य की तीन में एक स्थिति अवश्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति या तो उस समूह का नेता होता है, या नेता का सहयोगी होता है, या होता है उसका अनुगामी। जो व्यक्ति इन तीनों में से कोई स्थिति नहीं बना पाता वह उस समूह की दृष्टि से व्यर्थ होता है और वह उसमें निभ नहीं पाता है। इस विषय में जो स्थिति छोटे समूहों की होती है, वही विशालतर परिमाण में समाज की होती है।

ऐसे समूहों में काम करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह समूह की सफलता को ही अपनी व्यक्तिगत सफलता अनुभव करता हुआ अपना सर्वोत्तम सहयोग अपने सहकारियों को दे और अन्यो के सहयोग को सद्भावना के साथ स्वीकार करे। उसके मन में अपनी स्थिति तथा कार्य के विषय में अहंकार तथा ग्लानि का भाव कभी नहीं उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार का व्यवहार वस्तुतः अभ्यास का विषय होता है। इसके बिना बहुधा उचित मानते हुए भी बहुत से लोग समूहों में पूर्ण मनोयोग से काम नहीं कर पाते और बहुत बढिया-बढ़िया योजनाएँ यों ही पड़ी रह जाती है। अपने देश में योजनाओं के क्षेत्र में जो शिकायतें सुनने को मिलती है, उनसे कारणों की खोज इस दृष्टि से भी की जानी चाहिये।

५—कर्तव्यनिष्ठा;

जनतन्त्रीय समाज के प्रत्येक घटक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् तथा अन्यों के अधिकारों का सम्मान करने वाला हो। ऐसी स्थिति रहने पर प्रत्येक के अधिकार स्वतः सुरक्षित रहेंगे। विपरीत स्थिति में सर्वत्र अस्तव्यस्तता फैल जायगी, सौहार्द नष्ट हो जाएगा और पद-पद पर पुलिस की सहायता से काम चलाना पड़ेगा।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी राष्ट्र में व्यक्ति की कर्तव्यनिष्ठा का क्षेत्र राज्य के क्रिया-कलाप ही होते हैं। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति परिवार आदि अनेक सामाजिक समूहों का सदस्य होता है और उससे आशा की जाती है कि

वह सर्वत्र कर्तव्यनिष्ठ रहे। पुत्र, भाई, पिता, बहन, माँ, पति, पत्नी मित्र तथा पड़ोसी आदि सभी रूपों में उसे कर्तव्य-निष्ठ रहना चाहिए। उसे मर्यादोल्लंघन के विचार को तो मन में भी नहीं आने देना चाहिए।

कर्तव्य-निष्ठा की सबसे बड़ी शत्रु व्यक्तिगत सुख, लाभ तथा सुविधा को सर्व-प्राथमिकता देने की भावना है। दूर-दृष्टि से विचार करने से यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह भावना समाज के विभिन्न अंगों की सेवा-कुशलता को क्षति पहुँचाती हुई मन में ऐसी भावना रखने वाले व्यक्ति के लिए भी हानिकर एवं दुखदायी सिद्ध होती है। ऐसी व्यापक दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के पास नही होती : ऐसे विरले ही महानुभाव होते हैं, जो एकान्त में भी कर्तव्यच्युत नही होते। परन्तु दृढ़ कर्तव्यनिष्ठा का आधान जनतन्त्रीय व्यवस्था की आधारभूत आवश्यकता है।

६—उदारता-मूलक सहिष्णुता;

जनतन्त्रीय पद्धति की आधारभूत मान्यताओं में से छठी, आठवीं, दसवीं तथा ग्यारहवी के अनुसार वही राष्ट्र व्यवहार कर सकता है, जिसके सदस्य सहिष्णु हों। उनकी सहिस्णुता का आधार भी विवशता की भावना नही, अपितु उदारता होनी चाहिए। आत्मवद्भाव तथा आत्मीयता की भावनाओं के उत्पन्न हो जाने पर उदारतामूलक सहिष्णुता स्वयं उत्पन्न हो जाती है परन्तु विशेष रूप में ध्यान आकृष्ट करने के लिये इसका पृथक् परिगणन कर दिया है।

सम्पूर्ण मानव-जाति को एक विशाल भाईचारा मानकर सबके साथ शांति और सहयोग के साथ रहना सहिष्णुता के आधार पर ही चल सकता है। समाज में सुख-सुविधाओं का वितरण आवश्यकताओं की विभिन्नता के कारण तराजू से बराबर-बराबर तौल कर नही किया जा सकता। ऐसी करना जनतन्त्रीय विचारधारा की आधारभूत मान्यताओं के विरुद्ध होगा। इसमें तो प्रत्येक व्यक्ति को इतना उदार बनना पड़ेगा कि समाज के अन्य व्यक्तियों की सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रखना, अधिक आवश्यकता-ग्रस्त व्यक्तिओं को प्रसन्नतापूर्वक अपने से अधिक सुविधाएँ मिल जाने देना, और अवसर आने पर अपनी सुख-सुविधाओं को अपने हाथ से दूसरों को दे डालना, उसके लिए आनन्ददायक बन जाय। प्रत्येक व्यक्ति को बहुमत के निर्णय को, व्यक्तिगत रूप से मतभेद रखते हुये भी आदर के साथ सहना ही पड़ेगा। कभी कभी ऐसे निर्णय अपने व्यक्तिगत विरोधियों द्वारा अहंकारपूर्वक समर्थित भी होते हैं। जिनमें ऐसी सहिष्णुता नहीं है, वे जनतन्त्रीय व्यवस्था नहीं चला सकते।

७—स्वावलम्बन-शीलता;

विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता को प्यार करता है परन्तु वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतन्त्र रह पाता है, जिस सीमा तक वह स्वावलम्बी होता है। यह बात व्यक्ति और समाज दोनो पर समान रूप से लागू होती है। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरो की कृपा पर निर्भर रहता है, वह या तो अपनी विचार और कार्य की स्वतन्त्रता खो बैठता है, या अन्यों का शोषक बन जाता है। दोनो प्रकार के व्यक्ति जनतन्त्रीय व्यवस्था की दृष्टि से अवांछनीय होते हैं क्योंकि इसमें स्वतन्त्र रहना तथा स्वतन्त्र रहने देना दोनो ही बातें आवश्यक होती है।

सब प्रकार के स्वावलम्बनो मे आर्थिक स्वावलम्बन सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी उसी व्यक्ति को कहते है जो अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह के योग्य धन अपनी योग्यता से कमा लेता है। वही व्यक्ति ऐसा कर सकता है, जो समाज अथवा राष्ट्र के लिए उपयोगी किसी कला अथवा विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त करके उसका प्रयोग समाज के हित मे करने लगता है। इससे न केवल वह व्यक्ति ही अपितु उसका समाज भी समृद्ध एक आत्म-निर्भर बनता है। इस योग्यता को "जीविकोपार्जन-योग्यता" इस शीर्षक से भी कहा जा सकता है।

इस योग्यता को प्राप्त करके व्यक्ति तो स्वावलम्बी हो ही जाता है, समाज को भी उसकी योग्यता से बहुत बड़ा लाभ यह हो जाता है कि उसे विचार-विनिमय के अवसर पर विभिन्न क्षेत्रो के विशेषज्ञो की व्यवहार-सिद्ध सम्मतियाँ प्राप्त होती रहती है और वह बेकार एवं परोपजीवी व्यक्तियों द्वारा उठाई हुई बहुत-सी समस्याओं से मुक्त रहता है।

आर्थिक एव सामाजिक दृष्टि से निरन्तर अधिकाधिक जटिल होते हुए समाज में किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बिलकुल स्वावलम्बी बना रहना असंभव है। ऐसे व्यक्ति को भी स्वाव-लम्बी ही समझना चाहिए, जो दूसरों द्वारा की हुई अपनी सेवा या सहायता के बदले श्रम या धन के रूप में और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपयुक्त मूल्य चुका देते है। परन्तु इस मूल्य का समाजानुमोदित विधियों से अर्जन प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए। इसी व्यापक अर्थ मे स्वावलम्बन शब्द का प्रयोग इस प्रसग में समझा जाना चाहिए।

८—जनतन्त्रीय पद्धति मे अविचल आस्था;

जनतन्त्रीय पद्धति मे प्रत्येक स्तर एवं पग पर चलने वाले विचार-विनिमय मे समाज के धनी और निर्धन, प्रतिभासम्पन्न और कमसमझ तथा प्रभाव-

शाली और सामान्य जन सभी समानता के आधार पर भाग लेते हैं। उनमें निर्णयों में कभी-कभी क्षोभजनक विलम्ब भी लग जाता है। कभी-कभी विचारकों को एक दूसरे की बुद्धि अथवा नियत मे भी सन्देह हो जाता है। कभी निर्णय गलत हो जाते है और पूरे समाज को घोर हानि उठानी पडती है। कभी निर्णय अपने हितों तथा मान्यताओं के सरासर विरुद्ध हो जाते है। कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इस पद्धति का परित्याग कर देने से प्रगति एवं समृद्धि की गति तीव्र हो सकती है। ऐसी सब परिस्थितियो में वही व्यक्ति दृढ़ता से खड़ा रह सकता है, जिसकी इस पद्धति में दृढ आस्था हो।

ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि जनतन्त्रीय पद्धति समता, स्वन्त्रता, भ्रातृत्व तथा योग्यता के पायों पर खड़ी रहती है। समता का अतियोग योग्य व्यक्तियों के अनादर में परिणत हो सकता है। स्वतन्त्रता का अतियोग समाज में उच्छृङ्खलता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। भ्रातृत्व के अतियोग से अपराधियों तथा जनतन्त्र-विरोधियों को उनकी दुरभिरुचियों से रोकना असभव हो सकता है। और योग्यतावाद के नाम पर जनता के जनतन्त्री अधिकार छीने जा सकते है। जिस व्यक्ति की जनतन्त्रीय पद्धति में गहरी आस्था है, वह अपने व्यवहारो मे सब प्रकार के अतिवादों से दूर रहकर तथा अन्यो को रखकर जनतंत्रीय व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करता रहता है।

जब कभी जनतन्त्री राष्ट्रो का, अजनतन्त्रीय राष्ट्रों के साथ सघर्ष हो जाता है, तब प्रत्येक नागरिक की सच्ची परीक्षा का अवसर उपस्थित होता है। विदेशी जासूस धन और छल के बल से राष्ट्रीय रहस्यो का पता लगाने, जनता में असन्तोष उत्पन्न करने तथा तोड़ फोड़ के कार्यो को भड़काने का प्रयत्न करते है। ऐसी परिस्थिति में संकटों को वे ही जनतत्री राष्ट्र पार कर पाते हैं, जिनके घटक किसी प्रकार के प्रलोभनों तथा दबाब में आने से स्पष्ट इनकार कर देते है और अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को आदर्शों के लिए छोड़ देने के लिए तैयार हो जाते है। यह विशेषता गंभीर आस्था से ही उत्पन्न हो सकती है।

कतिपय सामान्य गुण

इन गुणों की चर्चा तो जनतंत्रीय व्यवस्था को दृष्टि मे रख कर की गई है। कतिपय ऐसे गुण भी हैं, जो तन्त्र-निरपेक्ष है। यदि वे व्यक्तियों में उत्पन्न होजाएँ, तो समाज किसी भी तन्त्र पर आधारित रहे, वह सुखी और समृद्ध रहेगा। हमारे विचार से ऐसे गुणों में से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

(१) संयम, (२) ज्ञान की न बुझने वाली प्यास, (३) स्वास्थ्य-चेतना, (४) समृद्धि-कामना, (५) समय-पालन, (६) श्रम-प्रेम, (७) दृढ़-संकल्पता,

यदि ये तथा ऐसे ही अन्य आवश्यक गुण समाज के प्रत्येक घटक में उत्पन्न हो जाएँ, अथवा किये जा सकें, तो जनतन्त्र अपनी समस्त विशेषताओं से युक्त तथा निर्बलताओ से मुक्त रूप में चलता रह सकता है। जिस समाज अथवा राष्ट्र के घटको में ये गुण जितनी ही अधिक मात्रा मे होंगे, वहाँ जनतन्त्र उतना ही सुचारू-रूपेण चलेगा और उतना ही अधिक अभेद्य रहेगा। जिसमें ये गुण जितनी ही कम मात्रा में रहेंगे, उसमें वह उतने ही उखड़े-उखड़े रूप में चलेगा और आन्तरिक तथा बाह्य संकट सदैव उसे सताते रहेंगे।

विद्यालय का साध्य—गुणाधान

पिछले अध्यायों में यह कई स्थलों पर कहा जा चुका है कि समाज अपनी उगती पीढ़ी को आवश्यक गुणों से भूषित करने के लिए ही विद्यालयों की स्थापना करता है। इस अध्याय की ऊपर की पंक्तियों मे यह बात पूरी तरह स्पष्ट की जा चुकी है कि जनतन्त्रीय व्यवस्था में आस्था रखने के कारण हमारे देश के युवकों में किन गुणों का आधान करना आवश्यक है। इस सबसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश के विद्यालयों का साधन देश की उगती पीढ़ी में कथित गुणों का आधान करना है। वे जिस मात्रा में इस कार्य में सफल होंगे, उसी मात्रा में समझा जायगा कि उन्होंने अपना साध्य प्राप्त कर लिया है।

विद्यालय की सामान्य कार्य-पद्धति

इस स्थिति में एक प्रश्न स्वभावत: उठता है कि अपने साध्य की सिद्धि के लिए हमारे विद्यालयों की सामान्य कार्य-पद्धति क्या होगी। किन्ही गुणों के स्वरूप तथा उपयोगिता का परिज्ञान करा देने मात्र से वे जीवन के अङ्ग नहीं बन जाते। उन्हें जीवन का अभिन्न अङ्ग बनाए बिना उनका लाभ नहीं उठाया जा सकता। कोई गुण जीवन का अभिन्न अंग तब बनता है जब श्रद्धा के साथ उनका दीर्घकाल तक अभ्यास किया-कराया जाए। अभ्यास भी उस समय तक किया-कराया जाए, जब तक वह 'आदत' का विषय न बन जाए। किसी गुण का ऐसा अभ्यास कराने का सबसे अधिक सरल तथा प्रभावकारी ढँग यह है कि वह वातावरण-निर्माण के माध्यम से कराया जाए। जिस वातावरण में अभीष्ट गुण परम्परा का रूप धारण कर लेता है, उसमे रहने वाले सभी व्यक्ति स्वभावत: उस गुण को अपने व्यवहार का विषय बनाते रहते हैं और धीरे-धीरे वह आदत में बदल जाता है। उपयुक्त वातावरण के अभाव में अभीष्ट गुण ज्ञान के विषय तो बन जाते हैं, परन्तु आचरण के विषय नहीं बन पाते। विद्यार्थियों के असामाजिक व्यवहारों की जो शिकायतें साधारणतया मिलती हैं, उनका

एकमात्र कारण यही है कि नागरिकशास्त्र का अध्यापन तो विद्यालयों में चलता है परन्तु छात्रों को ऐसा वातावरण नहीं मिलता, जिसमें उन्हें नागरिकता के गुणों का अभ्यास करने को मिलता हो। फलतः वे परीक्षा तो पास कर लेते हैं, परन्तु आचरण में अनागरिक सिद्ध होते है।

हमारे विद्यालयों को आदत बनाने के इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए छात्रों को विषयों की जानकारी से सज्जित करते हुए उन्हें ऐसा वातावरण देना पड़ेगा, जिसमें वे अभीष्ट गुणों को अभ्यास के द्वारा अपनी आदत का विषय बनालें। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि हमारे विद्यालय को स्वयं ऐसे आदर्श समाजों का रूप धारण कर लेना पड़ेगा, जिनमें आधेय गुण परम्परा रूप में सभी के आचरण के विषय हों। ऐसा होने पर उनमें जो रहेगा और रहने के लिए आएगा, वह स्वयमेव अभीष्ट गुणों से भूषित होता जाएगा। संक्षेप में, भारतीय विद्यालयों की यही कार्य-पद्धति होनी चाहिए और होगी।

पंचम अध्याय

विद्यालय के अंग-प्रत्यंग

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; उत्पादक संगठन का स्वरूप; विद्यालय का विश्लेषण; छात्रों की स्थिति; विद्यालय के प्रत्यंग; उपसंहार।

प्रस्तावना

यदि उथली दृष्टि से विचार किया जाए, तो विद्यालय अध्यापकों और छात्रों का एक समूह मात्र प्रतीत होता है। परतु यदि हमें विद्यालय की स्थापना अथवा उसका संचालन करने के लिए सामग्री जुटाने काम करना हो, तो हमें प्रतीत होने लगेगा कि वह छात्रों और अध्यापकों का समूह-मात्र न होकर कुछ और भी है। कुछ अधिक गंभीरता से विचार करने पर हमें यह दिखाई पड़ने लगेगा कि विद्यालय छात्रों और अध्यापकों की भीड़ के अतिरिक्त जो कुछ "और" है, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना, जिस कार्य के लिए ये सब यहाँ एकत्रित हुए या किये गये हैं, वही नहीं हो पाएगा। इस अध्याय में हम विद्यालय का विश्लेषण करके यह दिखाना चाहते हैं कि विद्यालय का वास्तविक रूप क्या होता है और वह किन अंग प्रत्यगों से मिलकर बनता है।

उत्पादक संगठन का स्वरूप

प्रत्येक उत्पादक संगठन अपने आप में साध्य, साधक, साधन, उपादान तथा

साधना इन पाँच का समुच्चय होता है। साध्य वह उद्देश्य होता है, जिसको दृष्टि मे रखकर उस संगठन की स्थापना की गई होती है और बाद में उसका संचालन चलता है। साधक वे लोग होते हैं, जो उस लक्ष्य को अपनाकर उस संगठन का संचालन करते है। जो व्यक्ति अथवा वस्तुएँ उस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं, उन्हें साधन कहा जाता है। साधनों की प्राप्ति तथा सुरक्षा के लिए किये गये प्रयत्न और उनका उपयोग करते हुए सम्पादित क्रियाकलाप साधना कहलाते हैं। इन पाँचों में मे एक को भी हटा देने से संगठन की सत्ता समाप्त हो जाती है। यदि हम उसके साथ अत्यधिक उदारता प्रदर्शित करना चाहें, तो हम उसे निष्क्रिय संगठन कह सकते हैं।

विद्यालय का विश्लेषण

विद्यालय भी एक उत्पादक संगठन होता है। इसका साध्य वे उद्देश्य होते हैं, जिनको दृष्टि में रखकर राष्ट्र अथवा उसके किसी प्रतिनिधि ने उसकी स्थापना की हुई होती है और तदनन्तर भावना रूप मे जिनका ध्यान उसके व्यवस्थापक सदैव रखते है। अपने देश में विद्यालयों का साध्य क्या है, इसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। विद्यालयों के वस्तुतः साधक वे अध्यापक होते हैं जो उसके उद्देश्यों को सच्चे हृदय से अपना लेते हैं। सामान्य रूप में अध्यापक मात्र को भी साधक कहा जा सकता है। साधन जड़ और चेतन दोनों प्रकार के हो सकते हैं। विद्यालय की दृष्टि से चेतन साधन छात्रों के अभिभावक तथा वे कार्यालय-सहकारी तथा भृत्य आदि होते हैं, जिनका प्रयोजन साधको अर्थात् अध्यापकों को साधना में सब प्रकार की सुविधायें पहुँचाना तथा असुविधाओं से मुक्त रखना होता है। अचेतन अथवा जड़ साधकों के साधनों के रूप में भूमि, भवन, साज-सज्जा आदि वस्तुओं का ग्रहण होता है। समस्त साधनों का प्रयोग करते हुए अध्यापक लोग जो अध्यापन, कार्यक्रम-निर्माण, उसका क्रियान्वयन तथा अनुशासन की स्थापना आदि कार्य करते है, उन्हें सामूहिक रूप से हम साधना कह सकते हैं।

छात्रों की स्थिति

इस वर्गीकरण को पढ़कर यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है कि इस संगठन में छात्रों की क्या स्थिति होती है। विद्यालयों की स्थापना राष्ट्र की उगती हुई पीढ़ी में कतिपय वांछनीय गुणों का आधान करके उसे राष्ट्र का उपयोगी सदस्य बनाकर निकाल देने के लिए होती है। इसी दृष्टि से छात्र विद्यालयों में प्रवृष्ट किये जाते है। वे वहाँ न तो स्वेच्छा से आते हैं और न रहते हैं। उनकी वृत्तियों को वहाँ नानाविधि उपायों से सुसंस्कृत बनाना

जाता है। इस दृष्टि से वे एक प्रकार के उपादान होते हैं। जड़ उपादानों की अपेक्षा इनमें यह विशेषता अवश्य होती है कि इनमें चेतन होने के कारण अपनी इच्छाशक्ति होती है और वे उसके अप्रयोग, कुप्रयोग तथा सत्प्रयोग द्वारा अध्यापक के कार्य को कठिन एवं सरल बना सकते हैं। विद्यालय के प्रसंग में हम छात्रों को चेतन उपादानों की श्रेणी मे रखना चाहते हैं। विद्यालय इस समेत पाँचों का समुच्चित रूप होता है।

विद्यालय के प्रत्यंग

विद्यालय के इन पाँचों अङ्गों के प्रत्यंगों पर भी अधिक परिचित भाषा में विचार करना उचित होगा। सबसे पहले साधक अर्थात् अध्यापक पर विचार कर लिया जाए। प्रत्येक विद्यालय में अनेक अध्यापक होते हैं। उनमें से एक प्रधानाध्यापक होता है। शेष अध्यापक कहलाते हैं। प्रधानाध्यापक का मुख्य कार्य प्रशासन होता है, यों वह कुछ अन्तर अध्यापन भी करता है। शेष अध्यापकों का मुख्य कार्य अध्यापन होता है। कार्य की दृष्टि से अध्यापकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : (१) कक्षाध्यापक, (२) विषयाध्यापक। कक्षाध्यापक किसी कक्षा को सभी विषयों का अध्ययन कराते हैं। वे अध्यापक विषयाध्यापक कहलाते है, जो किसी एक विषय का ही अध्यापन किया करते हैं और इस कार्य के लिए उन्हें विभिन्न कक्षाओं में जाना पड़ता है। माध्यमिक विद्यालयों में विषयाध्यापक पद्धति ही चलती है। कथाध्यापक-पद्धति का प्रचलन प्राथमिक तथा कुछ निम्नमाध्यमिक विद्यालयों में ही है। माध्यमिक विद्यालयों के विषयाध्यापकों को पाठ्यविषयों के नाम पर भूगोल-अध्यापक, इतिहास-अध्यापक, कला-अध्यापक तथा व्यायाम-अध्यापक आदि नामों से भी पुकारा जाता है। माध्यमिक विद्यालयों में भी कुछ अध्यापकों को कक्षाध्यापक कहा जाता है। वे वस्तुतः अध्यापक के लिए कक्षाध्यापक नहीं होते, अपितु शुल्कों तथा अर्थदण्डों की वसूली तथा प्रगति-विवरण एवं परीक्षा-परिणाम तैयार करने के लिए उन-उन कक्षाओं के पर्यवधायक होते हैं।

विद्यालय के साधनों में निम्नलिखित का परिगणन किया जाता है :

(१) प्रतिवेश (पड़ोस) (२) स्थल, (३) भवन, (४) कक्षा-कक्ष, (५) पुस्तकालय, (६) वाचनालय, (७) कार्यालय, (८) सभा-भवन, (९) वस्तु-भंडार, (१०) व्यायाम-शाला, (११) शौचालय, (१२) क्रीड़ाक्षेत्र, (१३) छात्रावास, (१४) भोजनालय, (१५) उद्यान, (१६) पाठ्यक्रम, (१७) समय विभाग, (१८) आचार-संहिता, (१९) पुरस्कार-दण्ड-विधान, (२०) परम्परा (२१) समाज-सम्पर्क (२२) इन सबके लिए आवश्यक साज-सज्जा।

छात्र विद्यालय की उपादान वस्तु होते हैं, यह पहले कहा ही जा चुका है।

विद्यालयों में छात्रों का शिक्षण मुख्यतया कक्षाओं, कक्षा-विभागों, समूहों अथवा टोलियों में होता है । व्यक्तिगत अध्यापन की पद्धति अभी अपने देश के विद्यालयों में प्रचलित नहीं है। सामूहिक अध्यापन को ही अधिक से अधिक व्यक्तिगत बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

संगठन का अंतिम घटक साधना है। समाज के लिए उपयोगी सदस्यों का निर्माण अपने आपमें एक महान एवं श्रमसाध्य कार्य है । इसके लिए किये जाने वाले क्रिया-कलाप को "साधना" शब्द के कहना, नवीन अवश्य है, पर अनुचित नहीं। जिन साधनों की ऊपर की पंक्तियों में चर्चा की गई है, उसकी प्राप्ति, संरक्षण, तथा उनके समुचित प्रयोग में किया जाने वाला नाना-विध क्रिया-समूह सचमुच ही साधना होता है। यदि वह क्रिया-समूह समुचित प्रकार का हो जाए, तो संगठन में सुव्यवस्था रहती है और अभीष्ट प्रकार के नागरिकों के निर्माण में कोई संदेह नहीं रहता।

उपसंहार

ग्रन्थ की अगली पंक्तियों में निर्माणकारी संगठन के इन पाँचों तत्वों का क्रमशः तथा विस्तार से निरूपण एवं वर्णन किया जाएगा । समझने-समझाने की सरलता के लिए साधना के क्षेत्र में आने वाले क्रिया-कलापों की चर्चा साधनों के साथ कर दी जाएगी। इससे साधना के स्वरूप का स्पष्टीकरण तो हो ही जाएगा, साधनों के प्रयोग की विधि भी स्पष्ट हो सकेगी।

षष्ठ अध्याय

विद्यालय के साधक

अध्याय-संक्षेप :—

(अ) समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापक—**व्यवस्थापक का अर्थ, व्यवस्थापक का महत्त्व, व्यवस्थापकों के प्रकार, व्यवस्थापकों के दोष, व्यवस्थापकों के कर्तव्य, व्यवस्थापक के रूप में सरकारी शिक्षा-विभाग, शिक्षा-विभाग तथा अन्य विभाग, व्यवस्थापक के रूप में स्थानीय निकाय, व्यवस्थापक के रूप में निजी संस्थाएँ**, (आ) व्यवस्थापको के सहयोगी अध्यापक—**अध्यापक का महत्व, अध्यापक का उत्तरदायित्व, अध्यापक की योग्यता, नियुक्ति में सावधानी आवश्यक, अध्यापकों की नियुक्ति-विधि, अध्यापकों की संख्या, अध्यापकों का लिङ्ग, अध्यापकों का वर्गीकरण, अध्यापक तथा अन्य लोग, अध्यापक तथा विद्यालय का हित, शिक्षक-क्लब, प्रधानाध्यापक—महत्त्व, प्रधानाध्यापक के गुण, प्रधानाध्यापक के कर्तव्य,** (विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था, विद्यालय की बाह्य व्यवस्था); उपसंहार ।

(अ) समाज के प्रतिनिधि—व्यवस्थापक

व्यवस्थापक का अर्थ

हम पहले ही कह चुके हैं कि विद्यालय समाज का लघु रूप होता है और

समाज विद्यालय की स्थापना और संचालन अपने कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करता है। सिद्धान्ततः इन कार्यों के लिये सम्पूर्ण समाज उत्तरदायी अवश्य होता है किन्तु कार्य का वास्तविक भार और उसका सम्पादन समाज के कुछ प्रतिनिधियों के कँधों पर रहता है। समाज के इन प्रतिनिधियों को हम "व्यवस्थापक" की संज्ञा दे सकते है। जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापक का कार्य वहाँ की सरकार, वहाँ के स्थानीय निकाय अथवा वहाँ की निजी संस्थाएँ करती हैं। भारतीय गणतंत्र में तीनों प्रकार के व्यवस्थापक पाये जाते हैं।

व्यवस्थापक का महत्त्व

समाज के प्रतिनिधि के रूप में व्यवस्थापक विद्यालय के मुख्य सधक होते हैं। समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं एवं उसके उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु वे इन विद्यालयों की स्थापना एवं व्यवस्था करते हैं। किसी भी देश की शिक्षा की उत्तमता, सफलता एवं प्रभावशालिता अथवा उसकी निकृष्टता, विफलता एवं प्रभावहीनता शिक्षा के व्यवस्थापकों की योग्यता पर निर्भर होती है। शिक्षा के वातावरण, उसके साधनों, अन्य सहयोगी साधकों तथा पाठ्य-क्रम इत्यादि का चयन एवं संग्रह व्यवस्थापक ही करता है। यदि व्यवस्थापक उदार, परमार्थी एवं योग्य हैं, तो वे समाज की आवश्यकताओं एवं शिक्षा-उद्देश्यों से तादात्म्य अनुभव करते हुए, उनकी पूर्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहेंगे।

व्यवस्थापकों के प्रकार

हम पहले कह आये हैं कि आधुनिक जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापक तीन प्रकार के हो सकते हैं—सरकार, स्थानीय निकाय एवं निजी संस्थाएँ तथा व्यक्ति। इनका शिक्षा-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यदि यह दृष्टिकोण स्वस्थ एवं उदार हो, तो शिक्षा भी उन्नतिशील एवं समर्थ होगी। किन्तु यदि दृष्टिकोण संकुचित और स्वार्थपूर्ण है, तो शिक्षा-क्षेत्र में अनेक समस्यायें उठ खडी होंगी और शिक्षा का वातावरण विषाक्त हो उठेगा। हमारे देश में तीनों ही प्रकार के व्यस्थापक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य कर रहे है। सभी भारतीय विद्यालय या तो सरकारी हैं, या जिला-परिषद तथा नगर-पालिका जैसे स्थानीय निकायों के नियंत्रण में हैं अथवा व्यक्तिगत हैं।

व्यवस्थापकों के दोष

यों तो सरकार का कुछ न कुछ नियंत्रण सभी प्रकार के विद्यालयों पर है, किन्तु हमें खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता कि किसी भी मापदंड से भारतीय-विद्यालय-व्यवस्था संतोषजनक नहीं है। विद्यालयों में कुछ को छोड़

कर, अधिकतर की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस दयनीय दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व भारतीय व्यवस्थापकों पर है। इसमें संदेश नहीं कि आधुनिक भारत में शिक्षा का व्यापक प्रसार अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इस परिस्थिति से लाभ उठाकर, शिक्षा-प्रसार के नाम पर, अपना स्वार्थ साधन करना और शिक्षा को माध्यम बनाकर, अपनी निकृष्ट आकांक्षाओं की पूर्ति करना देश-द्रोह एवं अधमता है। आज समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो शिक्षा को व्यापार बना बैठे हैं। जन-सेवा के बहाने, अपना उल्लू सीधा करते है और विद्यालय को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ कर, उचित और अनुचित मार्ग का अवलम्बन कर, अपना स्वार्थ साधते हैं।

व्यवस्थापकों का कर्तव्य

एक सच्चे और उत्तम व्यवस्थापक के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह समाज के शिक्षा-आदर्शों और उद्देश्यों से पूर्ण तादात्म्य अनुभव करे और उनकी पूर्ति के साधनों एवं मार्गों का उचित मूल्यांकन करे। व्यवस्थापक का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण और सम्माननीय होता है। उसे निस्पृह, कर्मनिष्ठ, एवं परमार्थी साधक के रूप में कार्य करना चाहिए। उसमें जन-सेवा की भावना ही सर्वोपरि होनी चाहिए। जब उसमें स्वार्थ-भावना आ जाती है, तब वह अपने गौरवपूर्ण पद से स्खलित हो, श्री-हीन हो जाता है। ऐसी दशा में वह उस श्रद्धा का अधिकारी नहीं रह जाता, जो एक सच्चे साधक की अनुगामिनी होती है।

यदि व्यवस्थापक अपने उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार से समझले और अपने गौरवपूर्ण पद को निष्कलंक रख सके, तो आधुनिक शिक्षा में व्याप्त अनेक समस्याओं का हल स्वंय निकल आये। किन्तु जब तक व्यवस्थापक में स्वार्थ-भावना, पद-लिप्सा एवं लोलुपता रहेगी, और विद्यालय को निजी सम्पत्ति समझ कर उसका दुरुपयोग होगा, जब तक होनहार भावी नागरिको के जीवन से खिलवाड़ किया जायगा और अध्यापकों का शोषण होगा, तब तक शिक्षा का वातावरण विषक्त रहेगा और समस्याएँ बढती ही जायेंगी। हमें प्रसन्नता है कि सरकार और समाज दोनों ही इस दिशा में अधिक सतर्क हो रहे है और शिक्षा के पुनीत वातावरण को विषाक्त करने वाले गंदे तत्वों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे है।

ऊपर कही गई कुछ कड़वी बातों के लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं, किन्तु हमारा अटल विश्वास है कि भारतीय राष्ट्र की नवोदित शिक्षा-व्यवस्था के लिये उचित प्रकार के ऐसे दूरदर्शी, बुद्धिमान, सुयोग्य व्यवस्थापकों की आवश्यकता है, जो निस्वार्थ सेवाभाव के साथ शिक्षा की बागडोर अपने सुदृढ़ और सुयोग्य हाथों

में ले सकें, जिससे राष्ट्रीय शिक्षा के उचित स्वरूप का निर्माण हो सके। व्यवस्थापकों की साधना जितनी उच्च कोटि की होगी, हमारी शिक्षा-व्यवस्था भी उसी अनुपात में उत्कृष्ट हो सकेगी। अतः हम शिक्षा-व्यवस्थापकों में उन सभी गुणों का समावेश चाहते है, जो एक सच्चे साधक के लिये अनिवार्य हैं। साधक जब तक अपनी साधना के महत्व को नहीं समझता, तब तक वह वांछित गुणों के उपार्जन का गभीर प्रयत्न कदापि नही कर सकता। भारतीय व्यवस्थापकों ने अभी अपनी साधना के महत्व को नही पहचाना है। वे उसके प्रति उदासीन है। अधिकतर उससे अनभिज्ञ है। स्वार्थपरता और अज्ञान ने उनकी दृष्टि को संकुचित और धुँधला बना दिया है। आत्म-तुष्टि ने उनकी कल्पना को कुंठित कर रखा है। वे अपनी ही बात को, अपने ही स्वार्थ को, सर्वोपरि रखते हैं। देश और समाज की चिन्ता, देश और समाज का कल्याण, अधिकतर भारतीय व्यवस्थापकों के लिये गौण है, मुख्य हैं अपना स्वार्थ। व्यवस्थापकों का कर्तव्य है कि वे अपनी वृत्ति मे परिवर्तन करके देश के लिए अधिक उपयोगी बनें।

कोई भी देश अथवा राष्ट्र, जो अपने नागरिकों की कल्याण-कामना करता है, उपर्युक्त परिस्थिति को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। उनके स्वयं सुधार न करने पर अन्य शक्तियाँ सक्रिय होंगी, जिनकी गति-विधियो का उनकी स्थिति पर विभिन्न रूप से अनभीष्ट प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

व्यवस्थापक के रूप में सरकारी शिक्षा-विभाग

हम कह चुके है कि भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को साधक तीन शक्तियाँ है। सरकार, स्थानीय निकाय तथा विभिन्न व्यक्तिगत सस्थाएँ। व्यवस्थापक के रूप मे सरकारी मशीनरी कुछ जटिल सी है। सम्पूर्ण भारतीय जनतंत्र की शिक्षा का कुछ उत्तरदायित्व संघीय सरकार के ऊपर है। इस उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिये भारत सरकार मे शिक्षा-मत्री एवं उपमंत्री होते है और उनकी सहायता के लिये उनके आधीन शिक्षा-मंत्रालय है। शिक्षा-मत्रालय एक महत्व-पूर्ण विभाग है और इसमें अनेक अधिकारी एव कर्मचारी कार्य करते है।

किन्तु भारतीय संविधान के अनुसार शिक्षा राज्य-सरकार का विशेष उत्तरदायित्व है अतः प्रत्येक राज्य के मंत्रि-मण्डल में एक शिक्षा-मंत्री होता है। स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक राज्य का शिक्षा-विभाग एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विभाग माना जाता है और उसकी बागडोर किसी सुयोग मंत्री के करों में ही दी जाती है। मंत्री के अधीन शिक्षा-विभाग के सम्पूर्ण अधिकारी, कर्मचारी शिक्षा-सचिव एवं सभा-सचिव आदि कार्य करते हैं। शिक्षा-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी शिक्षा-संचालक, शिक्षा-मंत्री का मुख्य परामर्शदाता होता है और विभाग के

कार्य का संचालन एवं शिक्षा-नीतियों का पालन उसका मुख्य उत्तरदायित्व होता है। शिक्षा-सचिव, शिक्षा-मंत्री एवं शिक्षा-संचालक के बीच की कड़ी होता है।

शिक्षा-विभाग तथा अन्य विभाग

स्वतन्त्रता से पूर्व अन्य विभाग अथवा मंत्रालय शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करते थे और अपने से सम्बन्धित शिक्षा-क्रियाओं पर प्रभुत्व बनाये रखते थे। किन्तु क्रमशः संघीय एवं राज्य सरकारें यह प्रयत्न कर रही हैं कि किसी भी प्रकार की शिक्षा पर शिक्षा-विभाग का ही प्रभुत्व हो और हर प्रकार की शिक्षा शिक्षा-मंत्रालय का ही उत्तरदायित्व रहे। विभिन्न प्रकार की शिक्षा के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करने के दृष्टिकोण से यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षा का संचालन एक ही विभाग (शिक्षा-विभाग) द्वारा किया जाय।

शिक्षा-मंत्रालय एवं शिक्षा-विभाग के साथ अन्य मंत्रालयों एवं विभागों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। भारत की वर्तमान परिस्थिति में सभी विभागों के सहयोग से ही शिक्षा-योजनाएँ सफल हो सकती है। सभी की शक्ति और सहयोग का बल पाकर ही शिक्षा आगे बढ़ सकती है।

समाज द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति करें। अतः शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर जन-प्रातनिधियों एवं अधिकारियों की विभिन्न समितियाँ और परिषदें होनी चाहियें। सम्पूर्ण देश की शिक्षा-विषयक विस्तृत योजना होनी चाहिए, जिसका स्वरूप और उद्देश्य दोनों पूर्णतया स्पष्ट हों। इस योजना का निर्माण अत्यन्त सावधानी एवं जनमत के सहयोग से किया जाना चाहिए और फिर सभी सम्बन्धित समितियों तथा परिषदों को योजना को मूर्त रूप देने में जुट जाना चाहिए। इसी उद्देश्य से भारत सरकार तथा राज्य सरकारें विभिन्न समितियों और परिषदों का निर्माण कर रही हैं ताकि सामान्य शिक्षा, प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा और अन्य शिक्षा के बीच संतुलन और सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

व्यवस्थापक के रूप में स्थानीय निकाय

दूसरी व्यवस्थापक शक्ति स्थानीय निकाय हैं। ये अर्ध-सरकारी संस्थाएँ हैं और सरकार के नियन्त्रण में रहती हैं। जिला-परिषदें, नगर-पालिकाएँ और इस कोटि की अन्य संस्थाएँ प्रायः प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करती है। इनमें से अधिकांश की आर्थिक परिस्थिति ठीक नहीं रहती और न उनमें शिक्षा-साधक की योग्यताएँ ही पाई जाती हैं। दलबन्दी से ऊपर उठना प्राय

इनके लिये सम्भव नहीं हो पाता और न इनमें शिक्षा के उच्च आदर्शों की अनुभूति हो पाती है। कहीं-कहीं इनके द्वारा शिक्षा की जो दुर्गति होती है, उसे देख-सुनकर अशिक्षित भी लज्जित हो उठते हैं। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार और जनता इन स्थानीय संस्थाओं को उन्नत एवं कर्त्तव्यशील बनाने के लिये सतर्क होकर सतत प्रयत्न करें। ग्राम-पंचायतें, जिला-परिषदें और नगर-पालिकाएं व्यवस्थापक के रूप में बहुत प्रशसनीय कार्य कर सकती हैं वशर्ते कि उनके सदस्यों में जन-सेवा की भावना प्रबल हो। हम अनुभव करते हैं कि जब तक भारत में जनतन्त्र की भावना दृढ़ न हो जाय, तब तक सरकार का सक्रिय नियन्त्रण स्थानीय निकायों पर रहना परमावश्यक है।

व्यवस्थापक के रूप में निजी संस्थाएं

तीसरी व्यवस्थापक शक्ति निजी संस्थाएं हैं। ये विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। इनमें धार्मिक संस्थायें, जातीय संस्थाएं, रजिस्टर्ड ट्रस्ट निजी संस्थाएं अथवा व्यक्ति हो सकते हैं। इन निजी संस्थाओं और व्यक्तियों में अनेक ऐसे है जिनका शिक्षा-विषयक ज्ञान शून्य के बराबर होता है। इनके विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु पुस्तक के कलेवर को अनावश्यक रूप से बढ़ाने के पक्ष में हम नही हैं। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि व्यवस्थापक के रूप में व्यक्तिगत संस्थाओं और व्यक्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं। राष्ट्र का कल्याण इस बात में निहित है कि शीघ्रता से हम देश में व्याप्त धार्मिक एवं जातीय संकीर्णताओं को समाप्त कर दें। धार्मिक एवं जातीय संकीर्णताओं ने एक नहीं अनेक बार देश को रसातल में भेज दिया है। इसके ध्वंसात्मक तत्वों को जितना शीघ्र नष्ट किया जा सके, उतना ही उत्तम होगा। धार्मिक एवं जातीय संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालय प्रायः अराष्ट्रीय तत्वों के गढ़ हैं। इनमें प्रायः दूषित वातावरण मिलता है, जो देश के भावी नागरिकों के मस्तिष्क को विकृत एवं संकुचित बना देता है। ट्रस्ट द्वारा संचालित विद्यालयों में भी ट्रस्ट करने वाले की इच्छा ही सर्व प्रधान होती है। व्यक्तियों द्वारा संचालित विद्यालय तो पूर्णतः अभिशाप ही सिद्ध हुये हैं।

• इन सब बातों को देख सुनकर बड़ी निराशा होती है। सरकार प्रयत्न कर रही है कि इस दिशा में अपेक्षित सुधार हो। ऐसे शिक्षा-अधिनियम बनाये जा रहे है कि कोई भी अन-रजिस्टर्ड संस्था विद्यालय का संचालन न कर सके। व्यक्तियों को व्यवस्थापक के रूप में समाप्त करने के लिये भी सरकार क्रियाशील हो रही है। क्या हम आशा करें कि भारतीय विद्यालयों के व्यव-

स्थापक सच्चे अर्थ में साधक बनकर, निकट भविष्य में एक महान आदर्श की स्थापना करेंगे ?

(आ) व्यवस्थापकों के सहयोगी--अध्यापक

अध्यापक आवश्यक सहयोगी

समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापक विद्यालय की स्थापना करते हैं और उनके द्वारा वे समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकता एवं समाज के शिक्षा-आदर्शों की पूर्ति का प्रयत्न करते है । किन्तु यह सम्भव नहीं है कि वे अकेले ही इस भार को वहन करके सफल हो जायँ अतः साधक के रूप में उन्हें अपना सहयोगी नियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है । यह सहयोगी अध्यापक-वर्ग के रूप में प्राप्त होता है । साधना के क्षेत्र में सहयोगी का महत्व व्यवस्थापक से भी अधिक ऊँचा उठ जाता है क्योंकि साधना का प्रमुख भार सहयोगी के कंधो पर डाल कर साधक निश्चिन्त हो जाता है ।

अध्यापक का महत्व

सदैव से ही अध्यापक का पद समाज में अत्यन्त ऊँचा और गौरवपूर्ण रहा है । सम्भव है, कतिपय विशेष परिस्थितियों मे और आधुनिक अर्थ-प्रधान व्यवस्था में, अध्यापक कुछ हेय समझा जाय, किन्तु इतिहास साक्षी है कि अति प्राचीन काल से ही अध्यापक का पद विशिष्ट एवं सम्मानित रहा है । अध्यापक, नवीन पीढ़ी का निर्माता, नवीन राष्ट्र का निर्माता तथा भावी नागरिकों का निर्माता आदि नामों से विभूषित किया जाता है । अध्यापक को समस्त शिक्षा व्यवस्था की धुरी माना गया है । कोई भी शिक्षा-योजना अध्यापक के बिना अपूर्ण है । अध्यापक की तुलना कुशल माली, कुशल कुम्हार, कुशल कारीगर तथा कुशल मार्ग-दर्शक आदि से की गई है । जैसे मिट्टी और चाक मात्र को एकत्र कर देने से सुन्दर पात्रों का निर्माण सम्भव नहीं है, इस कार्य के लिये तो कुशल कुम्हार की साधना आवश्यक है, वैसे ही विद्यालय-भवन बनवा कर छात्रों को एकत्रित कर देने मात्र से ही शिक्षा का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता । उनमें प्राण फूँकने के लिये कुशल अध्यापक की साधना आवश्यक है ।

अध्यापक का उत्तरदायित्व

सम्भव है आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में ऊपर की युक्ति पुरानी जँचे । किंतु हमारा अभिप्राय केवल उसके भावार्थ से है । आधुनिक शिक्षा में अध्यापक का पद अधिक महत्वपूर्ण तथा पहले से अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण हो गया है । मनोविज्ञान के अध्ययन और शोधो ने अध्यापक के कार्य और उत्तरदायित्व के

नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। समाज उनसे नवीन आशायें रखने लगा है। अध्यापन की प्राचीन मान्यताएं समाप्त हो रही हैं और अध्यापक के समक्ष नवीन आदर्शों की स्थापना हो रही है। अब अध्यापक का केवल माली, केवल कुम्हार, केवल कारीगर ही होना पर्याप्त नही है। वह उससे बहुत ऊँचे उठ चुका है। आधुनिक शिक्षा में अध्यापक का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उत्तर-दायित्वपूर्ण है क्योंकि अब उसके लिए क्रियाशील दार्शनिक बनना भी आवश्यक होगया है।

आधुनिक शिक्षा बालक-केन्द्रित शिक्षा है। बालक उपादान के रूप मे एक सजीव प्राणी है। सजीव और चेतन उपादान एक विशिष्ट प्रणाली की अपेक्षा रखता है। उसका प्रयोग निर्जीव, अचेतन सामग्री के सदृश नहीं हो सकता। इस सजीव प्राणी में नैसर्गिक शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। उनके विकास के लिये समुचित वातावरण की आवश्यकता है। इस वातावरण का सृजन अध्यापक का उत्तरदायित्व है परन्तु केवल वातावरण उपस्थित कर देना ही पर्याप्त नहीं होता है। सर्वाङ्गीण विकास के लिये समुचित निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है। यह भी अध्यापक का ही उत्तरदायित्व है। प्राचीन काल के अध्यापकों के समान आधुनिक अध्यापक बालक की मानसिक प्रगति से ही संतुष्ट नही हो सकता। वह तो बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिये उत्तरदायी है। बालक की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, संवेगात्मक तथा रागात्मक शक्तियो का, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, चरम उत्कर्ष ही आधुनिक अध्यापक को सन्तुष्ट कर सकता है। आत्म-संतुष्टि ही साधक की साधना का प्रमुख लक्ष्य होती है। साधक के रूप में अध्यापक को यह अनुभव होना चाहिए कि उसकी साधना पूर्णतया सफल हुई है।

अध्यापक की योग्यता

यदि आधुनिक अध्यापक का पद इतना महत्वपूर्ण है, तो उसकी योग्यताएँ क्या होनी चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में देना अत्यन्त कठिन है। किसी भी शिक्षा-व्यवस्था की सफलता अथवा विफलता उसके अध्यापकों पर निर्भर करती है। उत्तम से उत्तम शिक्षा-व्यवस्था बुरे अध्यापकों के हाथों में पड़ कर निकृष्ट सिद्ध हो जायगी और निकृष्ठ शिक्षा-व्यवस्था भी उत्तम शिक्षकों द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त कर सकती है अतः अध्यापकों के व्यक्तिगत गुण, उनकी शैक्षणिक योग्यताएँ, उनका जीवन-दर्शन, उनका चरित्र एव व्यक्तित्व, आज असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज में विद्यालय की प्रसिद्धि और उसका प्रभाव विद्यालय के अध्यापकों पर ही पूर्णतः निर्भर है। व्यवस्थापक का कर्तव्य है कि अपने सहयोगी अर्थात् अध्यापक की नियुक्ति

करते समय उसे भले प्रकार से जाँच-पड़ताल ले। विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्यापक की योग्यताएँ परख लेना नितान्त आवश्यक है। वर्तमान परिस्थितियों में तो सुयोग्य अध्यापकों का मिलना ही दुष्कर हो रहा है, क्योंकि वर्तमान अध्यापक की दयनीय एवं शोचनीय आर्थिक और सामाजिक दशा के फलस्वरूप शिक्षा-क्षेत्र सुयोग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने में असफल है। किंतु एक उन्नत समाज में, अध्यापक की आदर्शरूप योग्यताएँ निम्नांकित प्रकार की होनी चाहिये :—

(१) **शैक्षणिक योग्यताएँ**—अध्यापक का प्रमुख कार्य है अध्यापन। कुशल अध्यापक वही है जो अध्यापन-कार्य में सफल हो। अध्यापन-कार्य में सफल होने के लिये अध्यापक को विद्या-व्यसनी होना आवश्यक है। उसे अपने विषय में पारंगत होना चाहिये। केवल प्रमाण-पत्र और डिग्रियों को प्राप्त कर लेने से ही कोई कुशल अध्यापक नहीं बन जाता है। उसे अपने विषय पर अधिकार होना चाहिये। जब तक अध्यापक किसी वस्तु का प्रतिपादन कक्षा में अधिकार-पूर्वक नही करेगा, तब तक उसका अध्यापन वाँछित फल प्रदान नहीं कर सकता। विषय पर अधिकार—विषय का सम्यक ज्ञान, अध्यापक की सर्वोपरि आवश्यकता है। अन्य गुणों में कुछ कमी तो समाज सहन भी कर सकता है किंतु अध्यापक में वांछित विद्या-विषयक योग्यता का अभाव वह कदापि सहन नही कर सकता है। जो कुछ अध्यापक कक्षा में कहता है, जो कुछ ज्ञान वह विद्यार्थियों को देना चाहता है, अथवा जिस विषय में वह विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करता है, वह विद्यार्थियों पर स्थायी प्रभाव डालता है। यदि अध्यापक का ज्ञान अधूरा है, यदि वह अपने विषय में पूर्ण पारंगत नहीं है, तो वह विद्यार्थियों की बहुत बड़ी हानि कर सकता है। अन्य किसी भी व्यक्ति की बात को विद्यार्थी उतना प्रमाणिक नहीं मानता, जितना अपने अध्यापक की बात को। ऐसी स्थिति में यदि अध्यापक अशुद्ध कथन कर जाय तो उसका क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना हम भले प्रकार कर सकते हैं।

इसलिये अध्यापक की विद्वत्ता संदेह से परे होनी चाहिए। इस प्रकार की विद्वत्ता अध्यापक कैसे प्राप्त करे? उक्ति है कि अच्छा अध्यापक होने के लिये अच्छा विद्यार्थी होना आवश्यक है। विद्यार्थी-जीवन यदि उचित प्रकार से व्यतीत हुआ है, तो अध्यापक को विषय का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये। किन्तु ज्ञान की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है। इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है, अतः अध्यापक को अपना ज्ञान आधुनिकतम रखने के लिये स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, अन्वेषण आदि का आश्रय लेना पड़ता है। अध्यापक के लिये स्वाध्याय का अत्यन्त महत्व है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन बातों, तथ्यों

तथा नवीन दृष्टिकोणों की वृद्धि होती रहती है। अध्यापक को अत्यन्त सतर्क सजग और क्रियाशील होने की आवश्यकता है। विभिन्न स्रोतों से उसे अपने विषय की जानकारी बढ़ाते रहना चाहिये। अध्यापक जिसदिन विद्यार्थी बनना बन्द कर देगा, उसी दिन अध्यापक के रूप में उसकी क्षमता निर्जीव हो जायगी। निरन्तर स्वाध्याय, गहन चिन्तन एवं मनन ही उसे अध्यापक के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित बने रहने में सहायक हो सकते है। विद्वत्ता, ज्ञान की गरिमा, विद्या-व्यसन एवं विचारशीलता अध्यापक के अभिन्न अंग हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे अध्यापक का सामान्य ज्ञान भी उच्च कोटि का होना अनिवार्य है। विज्ञान ने विभिन्न विषयों एवं ज्ञान-क्षेत्रों की प्राचीन धारणाओं और पारस्परिक सम्बन्धो को परिवर्तित कर दिया है। कोई भी विषय अपने आप में पूर्ण नही है। प्रत्येक विषय कुछ अन्य विषयों से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है। विद्यार्थी को आज सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। इस ज्ञान को विभिन्न स्वतन्त्र टुकड़ो मे विभाजित किमा जा सकता। किसी भी विषय अथवा स्तर का अध्यापक सह-सम्बन्धित विषयों की उपेक्षा नही कर सकता है। उन विषयों की सामान्य जानकारी अध्यापक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि अध्यापक अपने विद्यार्थियों को अपने विषय का स्पष्ट और सुव्यवस्थित ज्ञान देना चाहता है, तो उसे अपने सामान्य ज्ञान की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न शील रहना चाहिये। इसके लिए अध्यापक को सामयिक साहित्य एवं पत्र और पत्रिकाओं का पठन-पाठन करते रहना चाहिये।

भारतीय जनतन्त्र में विभिन्न शिक्षा-स्तरों के अध्यापकों की शैक्षणिक योग्यताएँ प्रायः निर्धारित कर दी गई हैं। प्राथमिक अथवा बेसिक शिक्षा के अध्यापकों को कम से कम मिडिल, जूबियर हाई स्कूल अथवा समकक्ष परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिये। अब हाई स्कूल अथवा हायर सेकेन्डरी परीक्षा उत्तीर्ण करके भी लोग इनमें जाने लगे हैं। मिडिल अथवा जूनियर हाई स्कूलों के अध्यापक के लिये न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता मिडिल अथवा हाई स्कूल पास है। किन्तु अब इनमें अधिकाँश हाई स्कूल अथवा हायर सेकेन्डरी उत्तीर्ण व्यक्ति लिये जा रहे हैं। कुछ स्नातक भी इन विद्यालयों में अध्यापन कार्य कर रहे है। माध्यमिक स्तर पर स्नातकोत्तर-परीक्षा-उत्तीर्ण अध्यापक कार्य कर रहे हैं। उच्च शिक्षा में स्नातकोत्तर-परीक्षा-उत्तीर्ण और विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अनुसधान की डिग्रियाँ प्राप्त कर अध्यापन कार्य करते है। प्राविधिक एवं व्यावसायिक विद्यालयों में उस विषय के डिग्री अथवा डिप्लोमाधारी अध्या-

पक नियुक्त किये जाते है । उच्च शिक्षा स्तर को छोड़कर प्रायः सभी प्रकार के अध्यापकों के लिये प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया है ।

(२) **स्वस्थ जीवन-दर्शन**—बालक अनुकरणशील एवं शीघ्र प्रभावित होने वाला प्राणी है । माता के बाद उसके जीवन को प्रभावित करने वाला प्रमुख व्यक्ति अध्यापक ही होता है । अध्यापक के विचारों और मान्यताओं का, मानव जीवन के प्रति उसके विभिन्न दृष्टिकोणों का तथा उसकी आधारभूत धारणाओ का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है । ये प्रभाव प्रायः अमिट और स्थायी बन जाते है । अतः अध्यापक का अपना जीवन-दर्शन अत्यन्त स्वस्थ एवं उदार होना चाहिए । विद्यार्थी कक्षा के भीतर और कक्षा के बाहर, अध्यापक द्वारा प्रकट किये गये दृष्टिकोणों को ग्रहण करता रहता है और उनके अनुरूप अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता रहता है । हम पहले ही कह आए हैं कि विद्यालय समाज का एक लघु रूप है । अध्यापक समाज का एक अङ्ग है और उससे प्रभावित होता है । आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रों मे समाज मे व्याप्त धारणाओं से अध्यापक अछूता नही रह सकता है । वह उससे प्रभावित होता है और अप्रत्यक्ष रूप से वह विद्यार्थियो को अपनी धारणाओं से प्रभावित करता रहता है ।

इस प्रकार विद्यालय समाज से अभिन्न रूप में सम्बन्धित है । वह समाज से प्रभावित होता है और समाज को प्रभावित करता है क्योकि आज के बालक ही कल के नागरिक है । अध्यापक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपने विचारो और धारणाओ से बालक को प्रभावित करता रहता है और इस प्रकार वह समाज और राष्ट्र का निर्माता है । इस दिशा में समाज और अध्यापक दोनो ही को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए । यदि अध्यापक का अपना जीवन-दर्शन स्वयं अस्वस्थ और संकुचित है, यदि वह स्वयं अवांछनीय वादों और सिद्धान्तों से जकड़ा हुआ है, यदि वह अंधविश्वासों और परम्पराओं का भक्त है, तो वह स्वस्थ, सबल और सजग नागरिकों का निर्माण कर ही नहीं सकता ।

जो लोग यह मान लेते हैं कि अध्यापक का कार्य केवल अध्यापन है, उसके जीवन के प्रति व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से हमें क्या करना है, वे वास्तव में महान भूल करते हैं । अध्यापक में महान शक्ति निहित है । अस्वस्थ तथा अवांछनीय दृष्टिकोण रखने वाला अध्यापक समस्त समाज को नष्ट भ्रष्ट कर सकता है । जीवन के शाश्वत मूल्यो के प्रति श्रद्धा रखने वाला, उदारमना और आशावादी अध्यापक अपने छात्रों में भी आशा और उत्साह उत्पन्न करता है । निराशावादी संकीर्णमना, और असफल-जीवन अध्यापक अपने छात्रों मे भी इन्हीं दृष्टिकोणों का सृजन करता है । समाज का आधुनिक

जीवन अत्यन्त जटिल और दुरूह हो चला है। जीवन में अनेक समस्याएँ आती हैं और उनको सुलझाने का प्रयत्न करना पड़ता है। जीवन आज अनेक वादों और सिद्धान्तों के भंवर में फँसा हुआ है। कालचक्र इतनी शीघ्रता से चल रहा है कि किसी को जैसे रुक कर सोचने का अवसर ही नहीं है। आज संक्रान्ति का, परिवर्तन का समय है। अतः अध्यापक का उत्तर दायित्व महानतर होगया है। उसके कंधों पर यह भार है कि वह भावी नागरिकों को जीवन का एक स्वस्थ, सुन्दर और उपयोगी दर्शन प्रदान करे। यह सरल कार्य नहीं है। इसमें सफल होने के लिये पहले अध्यापक को अपना जीवन-दर्शन उच्च और स्वस्थ बनाना होगा।

समाज की वर्तमान परिस्थितियों में क्या अध्यापक का कोई सर्वमान्य जीवन-दर्शन हो सकता है? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही अत्यन्त जटिल है। हम पूर्व ही संकेत कर चुके हैं कि आज संक्रान्ति एवं परिवर्तन का युग है। वादों, सिद्धान्तों, विचारों और सतत परिवर्तित होती हुई मान्यताओं की धमाचौकड़ी में अध्यापक स्थिर नहीं रह सकता। विभिन्न परिस्थितियों के संघर्ष का प्रभाव अध्यापक पर भी पड़ता है। उसका स्वंय का जीवन-दर्शन भी परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहता है। फिर अध्यापक क्या करे? समस्या जटिल है। जहाँ तक हम समझते हैं, इस विषय में अध्यापक को अधिक से अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। उसका आदर्श अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण होना चाहिये। आवश्यक नहीं है कि अध्यापक अपने जीवन-दर्शन को विद्यार्थियों पर थोप दे। उत्तम अध्यापक कभी आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न दृष्टिकोणों को निष्पक्ष भाव से विद्यार्थियों के सम्मुख उपस्थित कर देता है और फिर उन्हें अपने अनुकूल निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतंत्र छोड़ देता है। किन्तु साधारण परिस्थितियों में छात्रों का अध्यापक के जीवन-दर्शन से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इन कारणों से अध्यापक का चुनाव करते समय उसकी मानसिक परिपक्वता और उसके जीवन-दर्शन का मूल्यांकन करना उचित है।

(३) **चरित्र**—अध्यापक के महत्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति का चरित्र भी समाज के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय होना चाहिए। अध्यापक के चरित्र का महत्व उसकी विद्वत्ता और उसके जीवन-दर्शन से कम नहीं है। छात्र-वर्ग अध्यापक के चारित्रिक गुणों से प्रभावित होता है और उसके गुण एवं अवगुणों का अनुकरण करता है। समाज और विद्यार्थी-वर्ग सदैव अध्यापक की ओर अपने आदर्शों के लिए उत्सुकता एवं आशाभरी दृष्टि से देखते हैं। वह अध्यापक से प्रेरणा ग्रहण करता है। अध्यापक के चारित्रिक गुण सदैव छात्रों

के सम्मुख रहते हैं और उन पर टीका-टिप्पणी होना भी स्वाभाविक है। इस कारण अध्यापक एक पल के लिए भी इस ओर से असावधान नहीं हो सकता। चरित्र-बल ही वह महान सत्ता है, जिसके बल पर अध्यापक प्राचीन काल से ही समाज का मार्ग-दर्शन करता आया है।

चरित्र की कोई सीमित परिभाषा तो नहीं दी जा सकती है। किन्तु प्रत्येक समाज, वर्ग, राष्ट्र, देश, जाति और समुदाय की कुछ मान्य चारित्रिक विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसी आधार पर हम मानव-चरित्र, राष्ट्रीय चरित्र जातीय चरित्र आदि की व्याख्या करते हैं। चरित्र में उन समस्त सद्गुणों का समावेश किया जाता है, जो समाज द्वारा मान्य एवं प्रतिष्ठित हैं। एक अध्यापक में उन समस्त गुणों की उपस्थिति की कल्पना की जाती है जो समाज द्वारा आदर्श रूप में प्रतिपादित हैं। यह आधुनिक युग में केवल कल्पना मात्र रह सकती है, क्योंकि किसी भी एक व्यक्ति में इन समस्त गुणों का पाया जाना संभव नहीं है। फिर भी अध्यापक का विशिष्ट उत्तरदायित्व है और उसमें अधिक से अधिक गुणों का होना ही वांछनीय है। यदि अध्यापक बन्धु यह निश्चय करलें कि वे ऐसा कोई कार्य एकान्त में नहीं करेंगे, जिसे वे अपनी परिस्थितियों में भी अपने पुत्रों तथा शिष्यों को नहीं करने देना चाहते, तो उनसे कोई चारित्रिक भूल नहीं हो सकती।

अध्यापक के नैतिक दृष्टिकोण का स्वस्थ एवं उच्च होना आवश्यक है। आधुनिक युग में अनैतिकता की वृद्धि हो रही। समाज के अनेक तत्वों में अनैतिक आचार, विचार एवं व्यवहार बढ़ गये हैं। अध्यापक भी इनसे अलिप्त नहीं रह सकते हैं। आज अध्यापक की भी नैतिकता कसौटी पर है। उसके सम्मुख अनेक प्रलोभन उपस्थित हैं और परिस्थितियाँ उसकी नैतिकता की जड़ों को खोखला बना रही हैं। अध्यापक-वर्ग अपने उच्च चरित्र से गिरता जा रहा है। उसके आचार, विचार और व्यवहार पर आज समाज क्षुब्ध हो उठा है। सत्य तो यह है कि समाज में व्याप्त वातावरण का ही प्रभाव शिक्षक पर पड़ रहा है, किन्तु अध्यापक का पद तो राष्ट्र-निर्माता का पद है। उसकी त्रुटियाँ अक्षम्य हैं। यदि अध्यापक के पैर डगमगा उठें तो वह दूसरों का क्या पथ-प्रदर्शन कर सकेगा? सामाजिक परिस्थितियों को कोसते रहने से ही अध्यापक के कार्य की इतिश्री नहीं हो जायगी। उसे आगे बढ़ कर अपना उत्तरदायित्व निभाना होगा और सामाजिक नेतृत्व करना होगा। प्राचीन काल से ही यह अध्यापक-वर्ग का विशेष उत्तरदायित्व रहा है। अध्यापक के चरित्र को भली प्रकार परखकर ही उसे साधक का पद दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार एक मछली तालाब को गन्दा कर देती है, उसी प्रकार

एक चरित्रहीन अध्यापक भी अध्यापक-वर्ग पर कलङ्क लगा सकता है और सहस्रों छात्रों के जीवन को नष्ट कर सकता है।

(४) **व्यक्तित्व**—व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आधुनिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है। अध्यापक विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को विकसित करने की क्षमता तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि उसका स्वयं का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित हो। व्यक्तित्व की भी, चरित्र के समान ही, कोई निश्चित परिभाषा नहीं है और न विद्वानों में इसके विषय में अभी तक मतैक्य ही पाया जाता है। आधुनिकतम विचारों के अनुसार व्यक्तित्व में वे सभी वाह्य और आन्तरिक विशिष्टताएँ सम्मिलित हैं, जो किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो से अलग सिद्ध करती हैं। इसका अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु इसका पूर्णतः विश्लेषण नहीं हो सकता। हम किसी से सहज ही प्रभावित हो जाते है, किसी के प्रति आकर्षित होजाते हैं, किसी के प्रति उदासीन रहते है, किसी से घृणा कर उठते है, और किसी से विद्वेष करने लगते है। ऐसा क्यों होता है ? ये सब व्यक्तित्व के ही चमत्कार हैं। व्यक्तित्व में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, संवेगात्मक अथवा रागात्मक तत्वों का संतुलित समन्वय होना आवश्यक है। व्यक्ति में निहित इन नैसर्गिक शक्तियों का चरम उत्कर्ष ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कहा जा सकता है।

विद्यार्थी अध्यापक के निकट सम्पर्क में रहता है। उसका अपना व्यक्तित्व रहता है और उसका यह व्यक्तित्व अध्यापक के व्यक्तित्व के संघर्ष में आता है। अध्यापक के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव विद्यार्थी के व्यक्तित्व पर पड़ता है और तदनुसार ही उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। उसके विकास की प्रेरणा और आदर्श प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अध्यापक के व्यक्तित्व से प्राप्त होती हैं। इस कारण अध्यापक को उच्च एवं आदर्श व्यक्तित्व का व्यक्ति होना अत्यन्त आवश्यक है।

अध्यापक के वाह्य व्यक्तित्व में उसके शरीर की गठन, आकृति, स्वास्थ्य, वेशभूषा, शारीरिक क्रियायें जैसे चलना, उठना, बैठना, हाव-भाव-प्रदर्शन आदि, हास्य तथा वाणी इत्यादि प्रमुख हैं। जब अध्यापक सर्वप्रथम किसी कक्षा में अध्यापन हेतु पदार्पण करता है, तो समस्त कक्षा उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना आरम्भ कर देती है। यह मूल्यांकन जान और अनजान दोनों विधियों से होता है। सच पूछा जाय तो यह मूल्यांकन अति वास्तविक और सत्य होता है। बालक अध्यापकों के सर्वोत्तम आलोचक होते हैं। उनका मूल्यांकन किसी विशेषज्ञ के मूल्यांकन से कदापि कम नहीं होता। यह मूल्यांकन होता किस प्रकार है ?

कक्षा के विद्यार्थियों के सम्मुख अध्यापक का वाह्य व्यक्तित्व ही पहिले आता है। उसी का प्रभाव पहले पड़ता है और उसी का मूल्याङ्कन भी पहिले होता है। विद्यार्थी पहले अध्यापक के शारीरिक गठन और आकृति पर ध्यान देता है। यदि शरीर की गठन और अङ्गप्रत्यंग, की बनावट तथा अध्यापक की आकृति सुडौल है, तो उसका विद्यार्थियों पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। किन्तु यदि इसके विपरीत कोई असाधारणता अध्यापक की शारीरिक बनावट में होती है, तो उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। कुडौल शरीर, विकृत अंग-प्रत्यंग, शारीरिक हीनता, सदैव से हास्य एवं व्यंग के उत्प्रेरक रहे हैं। ऐसे अध्यापक कभी भी कक्षा में समुचित अनुशासन नहीं रख सकते। यह सत्य है कि शरीर एवं आकृति बनावट बहुत अंशों में प्रकृति की देन है और प्रकृति की देन में मानव बहुत अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता है; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्रयत्न एवं अभ्यास से मनुष्य अपनी शारीरिक गठन को उत्तम और आकृति को आकर्षक बना सकता है। अध्यापक को सदैव इसके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

स्वास्थ्य— यदि शारीरिक गठन और आकृति प्रकृति-प्रदत्त है, तो स्वास्थ्य स्व-अर्जित सम्पदा है। कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है। यदि शरीर रोगी है, तो मानसिक स्वास्थ्य भी दुर्लभ है। अस्वस्थ अध्यापक विद्यार्थियों के लिये एक अभिशाप सिद्ध होता है। वह अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार से निभा नहीं सकता है। कक्षा में भी चिड़चिड़ा बना रहता है और केवल बेगार करता है। आये दिन अवकाश लेता रहता है और इस प्रकार अध्यापन-कार्य में बाधा पड़ती है। इसका परिणाम बालकों को भुगतना पडता है। स्वास्थ्य का अर्थ शरीर के मुटापे और कृशता से नहीं है। ये दोनों तो स्वयं रोग हैं। स्वास्थ्य का अर्थ नीरोग शरीर से है। किसी प्रकार का रोग शरीर में न हो, तो उस व्यक्ति को नीरोग कहा जा सकता है। वर्तमान परिस्थितियों में अध्यापक अपने लिये पुष्टिकर भोजन और व्यायाम की उचित व्यवस्था नहीं कर पाता अतः उसका स्वास्थ्य भी दयनीय होता जा रहा है। नाना प्रकार की चिंताओं के कारण भी वह स्वस्थ नहीं रह पाता। अधिकतर अध्यापकों के लिये उचित चिकित्सा का प्रबन्ध करना भी दुष्कर है। किन्तु इन समस्त बाधाओं के होते हुये भी अध्यापक का पुनीत कर्तव्य है कि वह यथासंभव और यथाशक्ति अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने का प्रयत्न करें। दुर्बलता एवं अस्वस्थता महान पाप हैं। हँसने वाले का साथ इस संसार में सभी देते हैं, किंतु रोने वाले का साथ कोई नहीं देता।

सादा और पुष्टिकर भोजन, संयत जीवन, दुर्व्यसन-हीनता और नियमित व्यायाम अध्यापक को इन पापों से बचा सकते हैं।

वेश-भूषा—आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के व्यक्तित्व पर उसके पहिनावे, वेशभूषा आदि का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। विद्यार्थी ऐसे ही अध्यापकों को पसन्द करते हैं, जो उन्हीं में से एक हो, अर्थात् उन्ही जैसा हो। कोई भी असाधारणता तुरन्त पकड़ ली जाती है। अध्यापक की वेशभूषा सरल, सादी, सस्ती और स्वच्छ होनी चाहिये। इसमें बनावट आ से अध्यापक हास्यास्पद हो उठता है। अध्यापक को शारीरिक स्वच्छता के के साथ-साथ अपने वस्त्रों की स्वच्छता पर भी ध्यान देना चाहिये। पोशाक कोई भी क्यों न हो उसे अपने आप में एक पूर्ण इकाई होना चाहिये। पोशाक बेमेल (जैसे धोती और बुश-शर्ट, या चूड़ीदार पायजामा चोर खुले गले का अमेरिकन कोट) नही होनी चाहिये। इसी प्रकार ढीली ढाली, भद्दी पोशाक भी उचित नहीं है। पोशाक के वस्त्रों के चयन से भी आन्तरिक मनोवृत्ति का पता चलता है। अध्यापकों को अपने वस्त्रों का चुनाव भी बहुत सावधानी और गम्भीरता से करना चाहिये। चुस्त, शिष्ट और प्रभावोत्पादक पोशाक व्यक्तित्व को बढ़ा देती है। फैशन के इस युग में अध्यापक भी अवांछनीय फैशन से अप्रभावित नही रह सका है। चल-चित्रों के खल-नायकों की पोशाक के अनुकरण की वृत्ति आधुनिक विद्यालयों के अध्यापक में भी यदा-कदा पाई जाती हैं। अध्यापक के लिये यह उचित और स्वस्थ परम्परा नहीं है। उन्हें सदैव अपनी पोशाक ऐसी रखनी चाहिए जिससे शालीनता, सुरुचि एवं गम्भीरता प्रकट हों।

शारीरिक-क्रियायें—अध्यापक के व्यक्तित्व में उसकी शारीरिक क्रियायें भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। वह कैसे चलता है, कैसे बैठता है, कैसे खड़ा होता है, कैसे हाथ-पैर चलाता है, कैसे हँसता है, कैसे बोलता है, आदि पर भी विद्यार्थी निरन्तर ध्यान देते रहते हैं और ये क्रियायें उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना की सामग्री जुटाती रहती हैं। यदि अध्यापक की शारीरिक क्रियायें स्वाभाविक और साधारण हैं, तो विद्यार्थी संतुष्ट हो जाते हैं किन्तु जहाँ थोड़ी-सी भी अस्वाभाविकता और असाधारणता दिखाई पड़ती है, वहाँ अध्यापक की आलोचना आरम्भ हो जाती है और वह विद्यार्थियों की श्रद्धा में कमी पाने लगता है। कुछ अध्यापक स्वभाव एवं अभ्यासवश विद्यार्थियों के सम्मुख भद्दे ढंग से हाथ-पैर चलाते हैं और हावभाव प्रदर्शन में अश्लील हो उठते हैं। यह सब नितान्त अवांछनीय है। अध्यापन कोई जादूगरी नहीं है। उछल-कूद

मचाना अध्यापक के लिये शोभनीय नहीं है। अध्यापक की प्रत्येक शारीरिक-क्रिया शालीनता, शिष्टता एवं गम्भीरता से पूर्ण होनी चाहिये। उसका हास्य मधुर और निष्कपट होना चाहिये और उसकी वाणी तेजस्वी प्रभावोत्पादक और अधिकार-पूर्ण होनी चाहिये। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन क्रियाओं के लिये भी प्रशिक्षण और अभ्यास आवश्यक है। निरन्तर अभ्यास से अध्यापक अपने वाह्य व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बना सकता है।

व्यक्तित्व के आन्तरिक तत्व—अध्यापक के आन्तरिक व्यक्तित्व में उन सभी गुणों का समावेश और परिगणन किया जा सकता है, जो उसे एक व्यक्ति के रूप में प्राप्त हैं। इसमें उसके मानसिक, अध्यात्मिक, संवेगात्मक तथा चारित्रिक आदि गुण आते हैं। मानसिक गुणों में विद्वत्ता, न्यायप्रियता, मानसिक स्वास्थ्य एवं मानसिक परिपक्वता आदि सम्मिलित हैं। विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता तो अध्यापक के लिये अनिवार्य हैं ही, किन्तु उसमें सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का होना "सोने में सोहागा" के समान होता है। विभिन्न विचारों, तथ्यों और कथनों का निष्पक्ष विश्लेषण और उनके विषय में संतुलित विचार-व्यञ्जना अत्यन्त आवश्यक है। संतुलित, स्वस्थ तथा परिपक्व मस्तिष्क ही संतुलित, स्वस्थ और परिपक्व दृष्टिकोण उपस्थित कर सकता है। विकृत मस्तिष्क समाज की बहुत बड़ी हानिकर सकता है। यदि अध्यापक में मानसिक परिपक्वता नहीं आपाई है तो वह स्थिर-बुद्धि, स्थिर-वाक् दृढ़-विचार, उदार, गम्भीर और न्यायप्रिय हो ही नहीं सकता है। और इन गुणों का अभाव उसे कभी आदर्श और प्रभावशाली अध्यापक नहीं बनने देगा।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी अध्यापक को पूर्ण विकसित होना चाहिये। उसके धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण का स्वस्थ होना भी अत्यन्त आवश्यक है। आधारभूत सिद्धान्तों, मूल्यों और विश्वासों में जिसकी आस्था नही है, आध्यात्मिक दृष्टि से उसके व्यक्तित्व का विकास अपूर्ण ही रहेगा। मानव-जीवन की कुछ शाश्वत धारणायें और मान्यताएँ हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की आवश्यकता आज भी विश्व में है। नैतिकता के सर्वमान्य सिद्धान्त और मूल्यों का आदर आज भी है। अध्यापक के आचार-व्यवहार का व्यापक प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। सच्ची कर्तव्यशीलता सच्चरित्रता, ईमानदारी, सहानुभूति, आत्म-विश्वास, परोपकार-भावना और निःस्वार्थ सेवा-भाव, आदि अनेक सद्-गुण, बिना स्वस्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के, प्राप्त होने असम्भव हैं।

अध्यापक में संवेगात्मक परिपक्वता का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जो व्यक्ति अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। अध्यापक के लिये तो यह परिपक्वता अत्यन्त

आवश्यक गुण है। क्रोध, भय, घृणा तथा प्रेम इत्यादि संवेगों पर अध्यापक का पूर्ण नियंत्रण होना आवश्यक है। छोटी-छोटी बातों पर अनावश्यक क्रोध प्रकट करने वाले अध्यापक का आदर विद्यार्थी कभी नहीं कर पाते। बात बात पर झल्लाना उचित नहीं होता। इससे अध्यापक की कमजोरी सिद्ध होती है। इसी प्रकार भय, घृणा, प्रेम, उत्साह, आशा, आदि संवेगों पर अध्यापकों को पूर्ण नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करना चाहिये, नहीं तो उसके व्यक्तित्व में त्रुटि रह जायगी। अध्यायक को तो शांत, गम्भीर, शीलवान, उत्साही, आशावादी, निष्पक्ष, धीर, एवं आत्म-विश्वासी होना चाहिए। ये गुण अध्यापक में तभी आ सकते हैं, जब उसमें संवेगात्मक परिपक्वता आ जाय।

नियुक्ति में सावधानी आवश्यक

ऊपर हमने उन सामान्य योग्यताओं का साधारण वर्णन किया है, जो प्रत्येक अध्यापक में होनी आवश्यक है। किन्तु अध्यापक में कुछ विशिष्ट योग्यताएँ होनी भी आवश्यक हैं। उनका वर्णन हम यथा-प्रसंग करेंगे। व्यवस्थापक को उचित है कि वह अपने सहयोगी अध्यापक रूपी साधक की नियुक्ति करते समय उपर्युक्त सामान्य योग्यताओं की परख भले प्रकार कर ले ताकि वह निश्चिन्त होकर अध्यापक के ऊपर उत्तरदायित्व सौंप कर साधना के क्षेत्र में अग्रसर हो सके।

अध्यापकों की नियुक्ति-विधि

अध्यापक की नियुक्ति के लिये अभी तक कोई एक सर्व-सम्मत विधि नहीं बनाई गई है। विभिन्न देशों, विभिन्न राज्यों एवं प्रान्तों में विभिन्न विधियाँ अपनाई जाती हैं। भारतीय गणराज्य में भी विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न विधियाँ अपनायी जाती हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र में अच्छे व्यक्तियों को, अच्छे अध्यापकों को आकर्षित करने के लिये अध्यापक-नियुक्ति-विधि पर विशेष ध्यान दिया जाय। भारत में अभी तक इस क्षेत्र में संतोषप्रद व्यवस्था नहीं हो पाई है। सरकारी विद्यालयों के लिये, सरकारी शिक्षा-विभाग प्रबन्ध करता हैं और माध्यमिक एवं उच्च स्तर पर सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों का चुनाव जन-सेवा-आयोग करता है। आयोग को परामर्श देने के लिये शिक्षा-संचालक अथवा शिक्षा-विभाग का कोई अधिकारी रहता है। अर्ध-सरकारी विद्यालयों के लिए शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के परामर्श से स्थानीय निकाय अध्यापकों की नियुक्ति करते हैं। निजी संस्थाओं में अभी तक कोई नियमित विधि नहीं अपनाई गई है। इनमें से अधिकाँश नियुक्ति योग्यता के आधार पर न होकर जातीयता, साम्प्रदायिकता, धार्मिकता, तथा भाई-

भतीजा-वाद के आधार पर होती है। देश और राष्ट्र को इस विषैले वातावरण से शीघ्र मुक्त करने की आवश्यकता है।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन (१९५२-५३) ने इस विषय में बहुत सुन्दर सुझाव दिया है। कमीशन की राय में देश के सभी निजी विद्यालयों में, अध्यापकों की नियुक्ति करने के लिये एक समिति होनी आवश्यक है। विद्यालय के प्रधानाचार्य को भी इस चुनाव-समिति का सदस्य रखना चाहिये। इस समिति में शिक्षा-विभाग के किसी प्रतिनिधि का होना भी वांछनीय है। कमीशन की राय में सरकारी, अर्ध सरकारी और निजी विद्यालयों के अध्यापकों की नियुक्ति-पद्धति में साम्य होना चाहिये। नियुक्ति-समिति के सदस्यों का उत्तरदायित्व महान है। उनको राष्ट्र, विद्यालय तथा विद्यार्थियों के हित को सर्वोपरि रखना चाहिये। नियुक्ति सर्वथा योग्यता और विद्यालय के हित के आधार पर होनी चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना या होने देना चाहिए कि योग्य व्यक्तियों के रहते अयोग्य व्यक्ति चुन लिए जाएँ। अध्यापकों की नियुक्ति पर ही विद्यालय का भविष्य निर्भर करता है। यदि विद्यालय में उचित प्रकार के सुयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति हो जाय, तो वह विद्यालय उन्नति कर सकेगा। किन्तु अयोग्य अध्यापक के हाथों में पड़कर विद्यालय नष्ट हो जायगा। प्रधानाध्यापक की नियुक्ति में तो विशेष सतर्कता एवं सावधानी अपेक्षित है।

कमीशन की राय में स्थायी पद पर नियुक्त अध्यापक को एक वर्ष तक प्रोबेशन पर रखना उचित है। विशेष परिस्थियों में यह प्रोबेशन-काल दो वर्षों का हो सकता है। इस अवधि में अध्यापक को भली भाँति से जाँच-पड़ताल लेना चाहिये और फिर उसे स्थायी कर देना चाहिये। किन्हीं-किन्हीं निजी संस्थाओं में प्रोबेशन की अवधि बढ़ाते रहते है। ऐसा करना अनुचित और अनैतिक है। इससे विद्यालय को बहुत हानि पहुँचती है क्योंकि आध्यापक परिश्रम और लगन से काम नहीं करता और अपने भविष्य के विषय में सदैव शङ्काशील बना रहता है। अध्यापक से उचित प्रकार का काम लेने के लिये अति आवश्यक है कि उसे अपने पद की सुरक्षा की भावना उत्पन्न कराई जाय। अनिश्चित परिस्थितियों में उत्तम कार्य की आशा कभी नहीं की जा सकती है।

अध्यापकों की संख्या

अध्यापकों की संख्या विद्यालय के विस्तार के अनुपात में ही निश्चित की जा सकती है। इस विषय में विभिन्न शिक्षा-विभागों ने कुछ निश्चित अधिनियम बना दिये हैं। विद्यालय में कितने अध्यापक हों, यह इस बात पर

निर्भर है कि विद्यालय में कितनी कक्षाएँ, कितने अनुभाग और कितने विद्यार्थी है; और उस विद्यालय में कितने विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की जानी है। प्रत्येक विद्यालय में एक प्रधानाध्यापक होना तो अनिवार्य ही है। बाकी अध्यापकों की नियुक्ति विद्यालय की आवश्यकता के अनुसार होगी। विद्यालय में कुछ विषय तो अनिवार्य होते है और कुछ ऐच्छिक। अध्यापकों की संख्या उतनी हो, जितने से अनिवार्य तथा ऐच्छिक विषयों के अध्यापन का कार्य सरलता से चल सके। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच उचित अनुपात का अभाव है। विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात से अभी वांछित संख्या में अध्यापक नहीं है। हमारे विचार से अध्यापकों तथा छात्रों में १:२० से अधिक अनुपात कभी नहीं होना चाहिए।

अध्यापकों का लिङ्ग

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुसार पुरुष ही अध्यापक हुआ करता था। स्त्री अध्यापिकाओं की संख्या अत्यन्त नगण्य थी। लड़कियों के पढ़ाने के लिये भी प्रायः वृद्ध पुरुष ही नियुक्त होते थे। कतिपय बालिका-विद्यालयों में यत्र तत्र अध्यापिकायें पाई जाती थी। किन्तु आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अनुकरण हो रहा है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप भारत में भी सह-शिक्षा का प्रचलन हो गया है। प्राथमिक और उच्चशिक्षा में सह-शिक्षा का अधिक प्रचलन है। माध्यमिक स्तर पर सहशिक्षा अभी कम है। इस प्रकार उन संस्थाओं का प्रचलन बढ़ रहा है जिनमें सह-शिक्षा हो। इस प्रकार की परिस्थिति में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अध्यापक का लिङ्ग क्या हो ? पुरुष, स्त्री, अथवा दोंनों का मिश्रित मण्डल ? इस विषय में मतैक्य नही है। आधुनिक मनोविज्ञान की धारणा है कि शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापिकाएँ अधिक सफलता से कार्य कर सकती हैं। स्त्रियों में स्नेह और सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है अतः उनके तत्वावधान में बच्चों को घर का सा वातावरण विद्यालय में प्राप्त होगा और बालक तथा बालिकाएँ अधिक सरलता से अपने व्यक्तित्व को विकसित कर सकेंगे। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में अध्यापिकाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षित स्त्रियों के लिये अध्यापन का पेशा अधिक उपयुक्त समझा जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि पूर्वप्राथमिक और प्राथमिक स्तर पर स्त्री-अध्यापिकाएँ अधिक उपयुक्त होती है।

सह-शिक्षा की संस्थाओं में यदि केवल पुरुष अध्यापक हों, तो यह भी निर्विवाद है कि उसमें शिक्षा पाने वाली लड़कियों का विकास उचित प्रकार से न हो सकेगा। लड़कियों के स्वभाव में जो एक स्वाभाविक और

परम्परागत संकोचशीलता होती है, उसके कारण वह पुरुष अध्यापकों से उतना लाभ नहीं उठा पाती जितना अध्यापिकाओं से प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु यदि विद्यालय में केवल अध्यापिकाएँ हों, तो बालकों के लिये एक समस्या हो जायगी। वे या तो उदण्ड और अनुशासनहीन हो उठेंगे या फिर अत्यन्त संकोची और लज्जाशील हो जायँगे। फिर क्या करना चाहिये? क्या विद्यालय में मिश्रित अध्यापक-मण्डल की नियुक्ति हो? हमारे विचार से पूर्व-प्राथमिक और प्राथमिक स्तर पर केवल अध्यापिकाएँ ही नियुक्त की जायँ। किन्तु माध्यमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक ही नियुक्त करना योग्य है। केवल लड़कियों के विद्यालय और महाविद्यालयों में अध्यापिकाओं की ही नियुक्ति होनी चाहिये। हाँ, जिस विद्यालय में लड़कियों की संख्या पर्याप्त हो वहाँ मिश्रित अध्यापक-मण्डल नियुक्त किया जा सकता है। परन्तु ऐसी संस्थाओं के प्रधानाचार्यों को किसी प्रकार के अनैतिक वातावरण उत्पन्न न होने देने के विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

अध्यापकों का वर्गीकरण

अध्यापक के महत्व, योग्यता, नियुक्तिविधि, संख्या, लिंग आदि का विवरण हम दे चुके हैं। यहाँ हम अध्यापकों के विषय की अन्य बातों का वर्णन करेंगे।

आधुनिक विद्यालयों में प्रायः दो प्रकार के अध्यापक पाये जाते हैं—कक्षाध्यापक और विषयाध्यापक। कक्षाध्यापक उसे कहते है, जिस पर किसी कक्षा के सम्पूर्ण विषयों को पढ़ाने का भार डाल दिया जाय। विषयाध्यापक वह होता है, जो किसी एक विषय को विभिन्न कक्षाओं में पढ़ाता हो और उस विषय का मर्मज्ञ हो। दोनों ही प्रणालियों में कुछ गुण और कुछ अवगुण पाये जाते हैं। इनका विवेचन आवश्यक है।

कक्षाध्यापक-पद्धति—इसमें किसी कक्षा के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को पढ़ाने का उत्तरदायित्व एक ही अध्यापक पर रहता है। वह कक्षा में अधिक समय तक रहता है और छात्रों के घनिष्ठ सम्पर्क में आता है। वह प्रत्येक छात्र के गुण-अवगुण योग्यता और बुद्धि से परिचित हो जाता है और उन पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे सकता है। घनिष्ठ सम्पर्क के कारण उसके व्यक्तित्व का पूरा प्रभाव छात्रों पर पड़ता है और वह उन्हें वांछित मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकता है। वह सम्पूर्ण कक्षा के लिये उत्तरदायी होता है अतः वह अधिक रुचि और परिश्रम से अपना कार्य करता है। वह विभिन्न विषय उसी कक्षा में पढ़ाता है अतः वह विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ध्यान दे सकता है। वह सम्पूर्ण ज्ञान को एक इकाई बनाकर कक्षा के सम्मुख उपस्थित कर सकता है। किसी

विषय को कब और कितने समय तक पढ़ाया जाय, इसका निर्णय भी वह अच्छी तरह कर सकता है। वह आदर्श मनोवैज्ञानिक समय-सारणी बनाकर उसे सफलता-पूर्वक चला सकता है। किसी विषय पर कितना बल देना आवश्यक है, यह भी वह अपने अनुभव से जान लेता है। वह विभिन्न विषयों के पढ़ाने का कार्यक्रम इस प्रकार बनाता है कि जिससे अध्यापन और अध्ययन में रोचकता बनी रहे। लिखित और मौखिक कार्य का वितरण भी वह भली भाँति कर सकता है। किसी विद्यार्थी की किसी विषय की कमजोरी का पता भी वह सरलता से लगा लेता है और उसके लिये तदनुसार व्यवस्था कर सकता है। वह सम्पूर्ण कक्षा को प्रोत्साहित कर उनमें ऐक्य की भावना भर सकता है और प्रत्येक क्रिया में उन्हें आगे बढ़ा सकता है।

सीमाएँ—कक्षाध्यापक-प्रणाली में उपर्युक्त गुण पाये जाते हैं किन्तु यह प्रणाली केवल नीची कक्षाओं के लिये ही उपयुक्त हो सकती है। प्रश्न यह उठता है कि एक अध्यापक कितने विषयों में पारगत हो सकता है? वह सभी विषयों का विशेषज्ञ तो हो नहीं सकता है और न सभी विषयों में उसकी समान रुचि ही हो सकती है। इसका प्रभाव उसके अध्यापन पर भी पड़ता है। वह कुछ विषयों को भली भाँति जानता है और उन्हें अच्छी तरह से पढ़ा सकता है किन्तु जिन विषयों को वह नहीं जानता और जिनमें उसकी रुचि नहीं है, उन्हें पढ़ाने में वह आत्म-विश्वास का अनुभव नहीं कर सकेगा। आधुनिक शिक्षा में विभिन्न विषयों की शिक्षण-प्रणाली में पर्याप्त विकास और परिवर्तन हो रहे हैं। एक अध्यापक के लिये सम्भव नहीं कि वह प्रत्येक विषय की शिक्षण-प्रणाली से परिचित हो। ऐसी दशा में उसका शिक्षण प्रभावशाली नहीं हो पाता। एक ही अध्यापक के साथ सम्पूर्ण समय पढ़ने से विद्यार्थियों में भी अरुचि उत्पन्न हो सकती है। अध्यापक भी ऊब जाता है। कक्षा की रुचि को बनाये रखने के लिए उसे नित-नवीन विधियों को अपनाना पड़ेगा। यह सभी कक्षाध्यापकों के लिये सम्भव नहीं है। यदि अध्यापक कुशल और आदर्श चरित्र वाला है, तो कक्षा को उन्नत बना सकता है। किन्तु यदि उसमें किसी प्रकार का दुर्गुण हुआ, तो समस्त कक्षा पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। अत्यन्त सुयोग्य अध्यापक ही कक्षाध्यापक-प्रणाली में सफल हो सकता है। प्राथमिक कक्षाओं में यह प्रणाली अधिक उपयुक्त हो सकती है क्योंकि वहाँ विषयवस्तु का परिमाण सीमित ही रहता है।

विषयाध्यापक-पद्धति—विषयाध्यापक एक ही विषय को विभिन्न कक्षाओं में पढ़ाता है। वह अपने विषय का विशेषज्ञ होता है और उसमें उसकी रुचि होती है। इस कारण स्वाभाविक है कि वह अपने विषय का पूर्ण जान-

कार और विद्वान हो। वह निरन्तर स्वाध्याय द्वारा उस विषय का पारंगत होने का प्रयत्न करता है, उसे विषय-वस्तु पर अधिकार होता है और वह पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ उस विषय का अध्यापन करता है। वह विषय की शिक्षण-विधियों से भी भली प्रकार परिचित होता है और शिक्षण को अधिक प्रभावपूर्ण और रोचक बना सकता है। छात्र भी उससे पढ़ने मे अधिक रुचि दिखलाते है। छात्र विभिन्न विषयाध्यापकों के सम्पर्क मे आते है और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते है। इस प्रकार छात्रो का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत होता है। छात्रों का सम्पर्क उस विषय के विषयाध्यापक से कई वर्षो तक रहता है। जैसे विज्ञान का अध्यापक जिन छात्रों को कक्षा ८ में पढ़ाता है उन्हे ही कक्षा ९ और दस मे भी विज्ञान पढ़ाता है। इस प्रकार कई वर्षों के सम्पर्क के कारण छात्र अध्यापक के गुणो और विशेषताओं से भली प्रकार परिचित हो जाते हैं और अध्यापक भी उनकी योग्यता को जान जाता है और उसके अनुसार अपने शिक्षण को संगठित करता है। विषयाध्यापक जितने उत्साह से अपने विषय को पढ़ाता है, उतने उत्साह से कक्षाध्यापक नही पढा सकता। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव छात्रों पर विशेष रूप से पड़ता है। छात्रों का उत्साह और रुचि भी उन्हीं विषयों में अधिक पढ़ते हैं, जिनके अध्यापक अच्छे होते हैं। ऊँची कक्षाओं में यह प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है क्योकि विषयवस्तु का स्तर ऊँचा उठता जाता है और कोई विशेषज्ञ ही उस विषय को योग्यता और क्षमता से पढ़ा सकता है।

सीमाएँ :—विषयाध्यापक-प्रणाली भी दोष रहित नहीं है। इसके आलोचकों का कथन है कि इस प्रणाली द्वारा छात्र और अध्यापक के बीच वह वांछित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता जो छात्र के विकास के लिये आवश्यक है। एक विषयाध्यापक उस विषय के अनेक छात्रों के सम्पर्क में आता अवश्य है किन्तु थोड़े समय के लिये ही। अतः वह छात्रों को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर पाता है। फिर किसी विद्यालय में एक विशेष विषय के लिये कई अध्यापक हो सकते हैं और वे विभिन्न कक्षाओं को पढ़ा सकते हैं। दूसरा दोष यह भी है कि प्रत्येक विषयाध्यापक अपने ही विषय को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह विभिन्न विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने विषय में रुचि रखने के कारण सदैव उसी पर बल देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान गुम्फित होकर एक समन्वय के रूप में बालकों के सम्मुख न आकर, असम्बन्धित खण्डों के रूप में आता है। प्रत्येक विषयाध्यापक अपने कार्य को ही महत्व देता है और विद्यार्थियों पर पड़ने वाले अन्य विषयों के भार को समझने का प्रयत्न नहीं करता है। विषयों के इस प्रकार के अलग

अलग विभाजन से छात्र कुछ विषयों से रुचि लेते है और कुछ की ओर से उदासीन हो जाते है। अध्यापक का दृष्टिकोण भी एक ही विषय पढ़ाने से संकुचित हो जाता है और वह पढ़ाते-पढ़ाते ऊब भी जाता है। विषय पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण अध्यापक छात्रों की व्यक्तिगत बातो पर ध्यान कम दे पाता है। विभिन्न विषयो का समुचित संतुलन न हो पाने के कारण छात्रों को प्रायः अनावश्यक परिश्रम करना पड जाता है।

निष्कर्ष—वास्तव में दोनों प्रणालियों का समन्वय करना ही सर्वोत्तम होगा। किसी विद्यालय मे कक्षाध्यापक भी होने चाहियें जो कि नीची कक्षाओ में दो या दो से अधिक विषय पढावे और कक्षाध्यापक बन कर कक्षाओं के निकटतम सम्बन्ध में रहे, और विषयाध्यापक भी हो, जो उच्च कक्षाओं में एक ही विषय को पढ़ावे। विशेषज्ञ अध्यापक को भी, यदि वह रुचि और योग्यता रखता है, तो किसी अन्य विषय को पढ़ाने का अवसर देना चाहिय। माध्यमिक शिक्षा मे दोनों प्रकार के अध्यापकों का होना आवश्यक है। उच्च शिक्षा में विषयाध्यापक की उपयोगिता बढ जाती जाती है। कौशल, विज्ञान, कृषि, वाणिज्य एवं संगीत जैसे विषयों के लिये विशेषज्ञ का होना ही आवश्यक है।

अध्यापक तथा अन्य लोग

मुख्याध्यापक की ही भाँति अध्यापकों के कर्त्तव्य भी बहुविध होते है। अध्यापक के सामान्य गुणों का विवेचन हम पहले कर चुके है। उसका प्रधान कर्तव्य अध्यापन है और उसमें सफल होने के लिये उसे अपने विषय का पंडित होना आवश्यक है। किन्तु अध्यापन के अतिरिक्त, प्रधानाध्यापक, व्यवस्थापक, सहयोगी अध्यापक-वर्ग, सहकारी वर्ग, छात्र, अभिभावक, अपना परिवार, तथा सामान्य समाज के प्रति भी अध्यापक के कर्तव्य है और उसे सचाई के साथ इन कर्तव्यो निभाना चाहिए।

अध्यापक और प्रधानाध्यापक—विद्यालय एक परिवार होता है जिसका मुखिया होता है [illegible]। उसके वरिष्ठ सदस्य होने के नाते अध्यापक को अपने प्रधानाध्यापक पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए। प्रधानाध्यापक के प्रत्येक आदेश और निर्देश को मानना अध्यापक के लिये आवश्यक है। उसका भाव आज्ञाकारिता का होना चाहिए। प्रधानाध्यापक द्वारा दिए गए कार्य को सचाई और निष्ठा के साथ पूरा करने का प्रयत्न प्रत्येक अध्यापक को करना चाहिए। विद्यालय की प्रत्येक क्रिया और योजना में उसे प्रधानाध्यापक को यथाशक्ति सहयोग प्रदान करना चाहिए। यदि अध्यापक किसी कार्य अथवा विषय में प्रधानाध्यापक के विचारों से सहमत न भी हो, तो भी उसे पूर्ण निष्ठा के साथ आदेशों का पालन करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर वह विनम्र

शब्दों में अपनी असहमति प्रधानाध्यापक से प्रकट कर सकता है और अपनी तर्कों को उसके सम्मुख रख सकता है। किन्तु यदि प्रधानाध्यापक उसकी राय से सहमत न हो सके, तो अध्यापक को बुरा न मानना चाहिए और न उस कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता ही दिखलानी चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक को विश्वास हो जाए कि कोई अध्यापक विद्यालय के हित को ही सर्वोपरि मानता है और सदैव विद्यालय की उन्नति के लिए ही कार्य करता है, तो प्रधानाध्यापक सदैव उसका सम्मान करेगा और उसकी बातों को मानने के लिये बाध्य होगा। किन्तु केवल अहम्मन्यतावश अपने विचारों को मानने के लिये प्रधानाध्यापक को वाध्य करना अध्यापक के लिये अनुचित है।

अध्यापक को अनुचित बातों के लिये कभी भी प्रधानाध्यापक पर दबाब नही डालना चाहिये। उसका कार्य-भार वैसे ही अत्यधिक होता है। अपने स्वार्थवश उस पर किसी बात के लिए दवाब देना ठीक नहीं है। कुछ अध्यापकों का स्वभाव होता है कि प्रत्येक छोटी मोटी शिकायत को लेकर प्रधानाध्यापक के पास पहुँचते रहते हैं अथवा अपने स्वार्थ की बातों में उससे सहायता चाहते रहते हैं। इन बातों से अध्यापक प्रधानाध्यापक की निगाह में नीचे गिर जाता है। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक कार्य करने के लिये तत्पर रहे और अनेक बातों में प्रधानाध्यापक का हाथ बँटावे। प्रधानाध्यापक स्वयं ही उसके हित की बातों का ध्यान रखेगा। सभी अध्यापक सामूहिक रूप से विद्यालय की सफलता के प्रति उत्तरदायी हैं। उन्हें सदैव प्रधानाध्यापक के नेतृत्व में विश्वास रखकर, एकमत होकर, संगठित रूप से विद्यालय की उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अध्यापक और व्यवस्थापक—अध्यापक का सीधा सम्पर्क व्यवस्थापक से नहीं रहता है। नियुक्ति के बाद वह विद्यालय के प्रधानाध्यापक के निर्देश में ही कार्य करता है अतः अध्यापक को बुलाये बिना अथवा वगैर अत्यावश्यक कार्य के प्रबन्ध-समिति के सदस्यों के पास कभी नहीं जाना चाहिए। अभाग्यवश कुछ प्राइवेट प्रबन्ध-समितियों के सदस्य अध्यापकों को अपना व्यक्तिगत नौकर समझते हैं और उनको तरह-तरह के कार्यों के लिए बाध्य करते हैं। इसमें विद्यालय का अपयश और अध्यापकों का नैतिक पतन होता है। इस परिस्थिति के लिए अध्यापक स्वयं भी कुछ सीमा तक जिम्मेदार हैं। वह स्वयं सदस्यों को प्रसन्न करने के प्रयत्न में उनके सम्पर्क में आने का प्रयत्न करते हैं और अपने स्वार्थवश प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकों की बुराई करके स्वयं पदोन्नति के लिए लालायित रहते हैं। किन्तु इस प्रकार के कार्यों का परिणाम सदैव बुरा होता है और विद्यालय में दलबन्दी हो जाती है,

जिससे विद्यालय की उन्नति में बाधा पड़ती है। अध्यापक को चाहिए कि वह व्यवस्थापकों के साथ शिष्टता और सज्जनता का व्यवहार करे, किन्तु अपने गौरव को नष्ट न करे। यदि उसे कुछ माँग रखनी हो, तो वह प्रधानाध्यापक के द्वारा ही समिति से प्रार्थना करे।

अध्यापक और उसके सहयोगी एव सहकारी—अध्यापक को अपने सहयोगियों और सहकारियों से भाईचारे का व्यवहार रखना चाहिए। प्रत्येक के साथ स्नेह सहानुभूति और मित्रता का व्यवहार रखने से वह सबका स्नेह-पात्र बना रह सकता है। हम कह चुके हैं कि अध्यापक विद्यालय-परिवार के वरिष्ठ सदस्य होते है। वे सब एक ही मार्ग के पथिक हैं अतः आपस में सहयोग और सहायता की भावना जितनी अधिक होगी, उतनी ही सीमा तक वे आगे बढ़ सकेंगे। यदि आपस में एक दूसरे की बुराई करेंगे, तो प्रत्येक को हानि उठानी पड़ेगी। जिस विद्यालय के अध्यापकों में बन्धुत्व की भावना नहीं होती, वहाँ अध्यापक का जीवन रौरव नरक बन जाता है। आज अध्यापक की हीन अवस्था का बहुत कुछ उत्तरदायित्व अध्यापक पर ही है। आज अध्यापक समाज के सम्मुख जीवन के उच्च आदर्शों के रखने में असमर्थ है। वह छिद्रान्वेषी बन कर अपने ही सहयोगियों और सहकारियों की बुराई करने में लीन रहता है और अध्यापक के गौरव से नीचे गिर जाता है। फिर क्या आश्चर्य है, यदि वह समाज की दृष्टि में वह प्रतिष्ठा खो बैठे। यदि अध्यापक अपनी प्रतिष्ठा और अपना आदर करना चाहता है, तो उसे अपने सहयोगियो और सहकारियों का आदर करना सीखना चाहिए। उनके सहयोग और सद्भावना के बल पर ही वह ऊँचा उठ सकता है।

शध्यापक और छात्र—अध्यापक का प्रमुख कर्तव्य छात्र का हित-साधन है। छात्र को शिक्षित बनाना ही विद्यालय का प्रमुख उद्देश्य है। हम कह चुके हैं कि आधुनिक शिक्षा का अभिप्राय छात्र के सर्वाङ्गीण विकास से है। छात्र की मानसिक, शारीरिक, सांस्कृतिक, अध्यात्मिक एवं संवेगात्मक शक्तियों का विकास और उनका परिमार्जन आधुनिक शिक्षा का लक्ष्य है। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह पूर्ण मनोयोग और सहयोग द्वारा छात्रों के इस विकास में सहायक हो। अध्यापक छात्र का शुभचिंतक, मित्र और मार्ग-दर्शक होता है। छात्र का पूर्ण विश्वास और उसकी पूर्ण आस्था प्राप्त कर ही अध्यापक अपने कर्तव्य में सफल हो सकता है। यह आस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है? यह तभी सम्भव है, जबकि अध्यापक अपने को आदर्श रूप मे उपस्थित करे।' जबकि छात्र को विश्वास हो जाय कि अध्यापक सदैव उसके हित की साधना करता है, सदैव उसकी उन्नति का अभिलाषी है, तब छात्र स्वयं उस अध्यापक

के चरणों में अपनी समस्त श्रद्धा अर्पित कर देगा और उसका अनुगामी बन जायगा। थोथा उपदेश व्यर्थ होता है। शिक्षक को चाहिये कि वह छात्रों को जैसा बनाना चाहता है, वैसा स्वयं बनकर उनके सम्मुख उदाहरण उपस्थित करे।

आज अध्यापक को विषय-वस्तु और शिक्षण-विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नही है। उसे छात्रों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। इसीलिये अध्यापक को मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिये। वह छात्रों को कक्षा में, खेल के मैदान में तथा स्कूल से बाहर भी देखता है और उनके सम्पर्क मे आता है। उसे चाहिये कि वह सावधानी से प्रत्येक छात्र का निरीक्षण और अध्ययन किया करे। वह उसके गुणों और अवगुणों का विश्लेषण करके उसकी कठिनाइयों और विशेष परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करे। छात्र की दुर्बलताओ पर न तो अध्यापक को क्रोध करना चाहिये और न उसके प्रति उदासीनता प्रकट करनी चाहिये। उसे इन दुर्बलताओं के कारणों का पता लगाकर उन्हे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। बिना कारण जाने किसी छात्र की दुर्बलता पर झुंझलाना अध्यापक और छात्र के सम्बन्ध को विकृत कर देता है। उसे छात्र के साथ स्नेह और सहानुभूति का बर्ताव करना चाहिये। कोई भी छात्र जन्म से ही दुर्गुणों के साथ नही आता है। विशेष परिस्थितियाँ उसमे कुछ अवांछित क्रियाएँ उत्पन्न कर देती हैं। अध्यापक का कर्तव्य है कि धैर्य और परिश्रम द्वारा छात्र की विशेष परिस्थितियों को समझे और उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा छात्र के जीवन को सुधार दे। अध्यापक के स्नेह और सहानुभूति ने कितने ही छात्रों को ऊंचा उठाया है। किसी अध्यापक का यह कथन कि उसके पास इन कार्यों के लिये समय नही है, केवल एक झूठा बहाना है। ऐसे अध्यापक अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के साथ विश्वासघात करते हैं।

अध्यापक और अभिभावक—अध्यापक के छात्र-सम्बन्धी जो कर्तव्य ऊपर बताये गये है, उनको सफलता मे पूरा करने के लिये आवश्यक है कि अध्यापक छात्रों के अभिभावकों से भी सम्पर्क स्थापित करें। यह सम्पर्क जितना ही अधिक होगा, उतने ही अधिक सहायता और सहयोग छात्र के विकास के लिये उपलब्ध हो सकेंगे। उन्नत देशों मे बालक की शिक्षा अध्यापक और अभिभावक दोनों ही का संयुक्त उत्तरदायित्व है अतः दोनों मिलकर छात्र के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्नशील रहते है। भारत में अभी इस दिशा में सहकारिता और सहयोग की भावना विकसित नही हो पाई है। अभिभावक अपने उत्तरदायित्व को समझ नही पाये है। उनको इस दिशा में प्रेरित करना

अध्यापक और प्रधानाध्यापक का कर्तव्य है। अकेला प्रधानाध्यापक सभी छात्रों के अभिभावकों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। इसलिये अध्यापकों को अपने-अपने सम्पर्क में आने वाले छात्रों के अभिभावकों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। छात्र विद्यालय में कुछ समय ही तक रहता है। अधिकांश समय वह घर पर अथवा अभिभावकों के साथ रहता है। जो प्रभाव उस पर विद्यालय में पड़ते हैं, वे घर के वातावरण से यदि मेल नहीं खाते तो उनके नष्ट हो जाने का अंदेशा रहता है। इस कारण अध्यापक को चाहिये कि अभिभावकों से मिल-जुल कर छात्र के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये प्रयास करे। निकट भविष्य में अध्यापक--अभिभावक-संघों की स्थापना से इस दिशा में प्रगति होने की आशा है।

अध्यापक और उसका परिवार—अध्यापक और प्रधानाध्यापक को अपने पारिवारिक सम्बन्धों को भी आदर्श रूप में बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। वह आदर्श पति अथवा पत्नी, पिता, बन्धु और गृहस्थ बनकर ही दूसरों को प्रभावित कर सकता है। उसके लिये मानसिक शान्ति और स्वस्थता नितान्त अनिवार्य हैं। इनके बिना वह अपने कर्तव्यों का पालन उचित रीति से नहीं कर सकता। यदि उसके घरेलू सम्बन्धों में कटुता है, तो अध्यापक सदैव चिड-चिड़ा और क्रोधी बना रहेगा। प्रायः देखा जाता है कि अध्यापकों को क्रोध पारवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है और कक्षा में जाकर विद्यार्थियों पर बरस पड़ता है। यदि अध्यापक का पारिवारिक जीवन सुखी और मधुर नहीं है, तो वह कभी भी आदर्श अध्यापक नहीं हो सकता है।

अध्यापक और सामान्य समाज—आदिकाल से ही समाज अध्यापकों से बड़ी-बड़ी आशाएँ रखता आया है। अध्यापक भी आवश्यकता पड़ने पर समाज का नेतृत्व करने से नहीं चूके हैं। समाज में विभिन्न बुराइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक बुराइयों के प्रति समाज को सावधान करता रहे और स्वयं आदर्श उपस्थित कर समाज को कल्याणकारी मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता रहे। आधुनिक प्रजातन्त्र में नागरिकता की शिक्षा और उसका प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। समाज में शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के लोग पाये जाते हैं। अध्यापक एक आदर्श नागरिक बन कर समाज का महान हित कर सकता है और दूसरो को आदर्श नागरिक बनने की प्रेरणा दे सकता है। विद्यालय को समाज का एक आदर्श लघु रूप बनना है। यह तभी सम्भव है जब अध्यापक समाज के विभिन्न तत्वों को समझे और उनका आदर्श रूप विद्यालय में उपस्थित करे। अध्यापक को सामाजिक उत्सवों में सहयोग प्रदान करना चाहिये और उन्हे

सफल बनाना चाहिये। अपने उन्नत और उदार दृष्टिकोण द्वारा वह समाज में नई विचारधारा का प्रचार कर सकता है और उसे उन्नत बना सकता है।

अध्यापक और विद्यालय का हित

विद्यालय के हित के लिए अध्यापक को विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करना पड़ता है। विद्यालय के कार्य का विभाजन करना प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है। इसके विषय में विस्तार से आगे लिखा जायेगा। किंतु कार्य-विभाजन के पश्चात प्रत्येक अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता और सामर्थ्य के साथ अपने भाग में आये कार्य का सम्पादन करे और सम्पूर्ण विद्यालय कार्य को इकाई मान कर अन्य अध्यापकों के कार्य में भी यथावसर सहयोग प्रदान करे। यदि कोई अन्य अध्यापक अपने कार्य को उत्तम ढङ्ग से करता है, तो उस पर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। ईर्ष्यावश दूसरों से द्वेष नहीं करना चाहिये और न उनका अहित चिन्तन करना चाहिये। सभी के साथ हिल मिल कर विद्यालय का हित साधन करना चाहिये।

शिक्षक-क्लब

अध्यापकों को प्रयत्न करके विद्यालय में एक शिक्षक-क्लब की स्थापना कर लेनी चाहिये। इससे नानाप्रकार के लाभ होते हैं। क्लब में प्रजातंत्रीय नियमों का पालन होना चाहिये। प्रत्येक अध्यापक को अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने की सुविधा होनी चाहिये। सभी अध्यापकों से सम्बन्धित विषयों और विद्यालय-सम्बन्धी समस्याओं पर अध्यापकों की बैठकों में विचार-विमर्श होना चाहिये। विशेष परिस्थितियों और आवश्यकता पर अध्यापकों की बैठकें बुलाई जा सकती हैं और पारस्परिक विचार-विनिमय किया जासकता है। किन्तु इस बात से सावधान रहना चाहिये कि कहीं ये शिक्षक-क्लब राजनैतिक रूप न धारण करलें। इनमें अधिकारियों की आलोचना का अवसर नहीं आना चाहिये। क्लब का उद्देश्य शैक्षणिक, सांस्कृतिक और मनोरंजनात्मक कार्यों का अवसर प्रदान करना है। इसमें अध्यापक अपने विषय और शिक्षण में आने वाली कठिनाइयों को भी रख सकते हैं और अपने सहयोगियों से परामर्श ले सकते हैं। इसमें विभिन्न विषयों के सहसम्बन्ध पर विचार करके वे अनावश्यक परिश्रम से भी बच सकते हैं।

शिक्षक क्लबों का दूसरा उद्देश्य सांस्कृतिक है। शिक्षा और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांस्कृतिक विषयों पर विचार-विमर्श, भाषण और प्रदर्शन समाज के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होते हैं। अध्यापक के स्वयं के जीवन

को सरस, मधुर और उपयोगी बनाने के लिये इन कार्यों का आयोजन नितान्त आवश्यक है। यो तो अध्यापक विद्यालय के प्रत्येक सांस्कृतिक समारोह में भाग लेता है, किन्तु शिक्षक-क्लब में वह अधिक स्वतन्त्रता से इन कार्यों में भाग ले सकता है। किसी दार्शनिक का कथन है कि जो मनुष्य हँसना नही जानता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यह कथन अध्यापक के लिये पूर्णतः लागू होता है। यदि आधुनिक अध्यापक हँसने की कला नहीं सीखेगा, तो वह असमय ही नष्ट हो जायगा। अध्यापक को ऐसा कार्य करना पड़ता है, जिसका प्रभाव निरंतर उसके मस्तिष्क और हृदय पर पड़ता रहता है। अल्पवेतन-भोगी और चिन्तनीय परिस्थितियों में पड़ा हुआ अध्यापक यदि मनोरंजन के साधन न प्राप्त कर सकेगा, तो या तो वह पागल हो जायगा या क्षय का रोगी। बालकों के सम्पर्क में रहकर उसे सदैव अपने को नवयुवक समझने का अभ्यास डालना चाहिये। उसे बालकों के साथ तो खेलकूद और मनोरंजन के साधनों में भाग लेना ही चाहिये ताकि बालकों को प्रोत्साहन मिले। किन्तु उनके साथ तो वह पथ-प्रदर्शक के रूप में ही रहता है। शिक्षक-क्लब में अध्यापक अधिक स्वतंत्रता से मनोरंजन के साधनों का उपयोग कर सकता है; अतः क्लब की ओर से उल्लास-यात्राओं गोष्ठियो तथा संगीत आदि का आयोजन होता रहना चाहिये; जिससे अध्यापक अपना मनोविनोद कर सके।

प्रधानाध्यापक

हमने ऊपर संकेत किया है कि किसी भी विद्यालय के लिये एक प्रधानाध्यापक का होना अनिवार्य है। प्रधानाध्यापक का पद इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि किसी प्रकार भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः यहाँ पर हम उसके विषय में कुछ विस्तृत विवरण देना उचित समझते हैं।

महत्त्व—प्रधानाध्यापक का पद इतना महत्वपूर्ण है कि पूर्ण रूप से उसके महत्व का वर्णन असम्भव नहीं तो दुःसाध्य आवश्यक ही है। वह विद्यालय का केन्द्रविन्दु है। विद्यालय की समस्त क्रियायें और विद्यालय का समस्त जीवन उसी पर प्रधानतः आधारित है। विद्यालय का समस्त संचालन, संगठन और व्यवस्था मुख्य रूप से उसी के उत्तरदायित्व हैं। "किसी विद्यालय की प्रतिष्ठा और समाज की दृष्टि में उसका स्थान इस बात पर निर्भर रहता है कि उस विद्यालय का प्रधानाध्यापक अपने सहयोगी अध्यापक-वर्ग, विद्यार्थी-वर्ग, अभिभावक-वर्ग तथा साधारण नागरिकों पर कितना प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार विद्यालय का अनुशासन और उसकी Espirit de corps प्रधानाध्यापक के विशेष उत्तरदायित्व हैं। समाज के जीवन में भी वह एक महत्वपूर्ण स्थान

रखता है क्योंकि वह समाज पर एक स्वस्थ-प्रभाव डाल सकता है।"[1]

वास्तव में प्रधानाध्यापक ही अभिभावकों और जनता से अपने सम्पर्क के आधार पर विद्यालय और समाज के बीच की सम्बन्ध-कड़ी को निर्मित करता है। हम आरम्भ में कह आये हैं कि विद्यालय समाज का लघुरूप है और शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिये विद्यालय और समाज के बीच सदैव विचारों और व्यवहारों का आदान-प्रदान होता रहना चाहिये। इस दृष्टि से दोनों के बीच मधुर और बुद्धिमत्तापूर्ण संबंध होना आवश्यक है। इस कार्य को प्रधानाध्यापक ही कर सकता है। समाज, सरकार, अथवा जन-प्रतिनिधियों द्वारा अनुमोदित शिक्षा-योजनाओं के कार्यान्वयन का भार भी प्रधानाध्यापक पर ही रहता है। शिक्षा-अधिकारियों और शिक्षा-विभागों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा नीति को क्रियान्वित और सफल करने का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। विद्यालय के बाह्य और आन्तरिक तत्वों के बीच संतुलन एवं उचित सामञ्जस्य बनाये रखना भी प्रधानाध्यापक का ही कर्तव्य होता है।

विद्यालय-रूपी नौका का प्रधान नाविक प्रधानाध्यापक ही होता है। नौका को उसके निश्चित गंतव्य तक सकुशल पहुँचाना प्रधानाध्यापक की शक्ति और बुद्धि पर निर्भर है। पी० सी० रेन का कथन है कि "स्कूल सील लगाने का चपरा (लाख) है, और प्रधानाध्यापक सील है।" जैसी सील होगी वैसी ही मुहर होगी। वास्तव में विद्यालय की प्रत्येक बात में, प्रत्येक गति-विधि में, प्रत्येक क्रिया में प्रधानाध्यापक के व्यक्तित्व की झलक भासती रहती है। विद्यालय के कार्यक्रम द्वारा बड़ी सरलता से प्रधानाध्यापक के व्यक्तित्व की माप की जा सकती है। प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व और कर्तव्य आधुनिक जनतंत्र के किसी प्रधान मन्त्री, किसी सेना के सेना-नायक, अथवा किसी टीम के कप्तान से अधिक महत्वपूर्ण है। इन सभी में उच्चकोटि की नेतृत्व-शक्ति, और वांछित प्रेरक शक्ति ही इनको कार्य-सिद्धि प्रदान कर सकती है। प्रधानाध्यापक का पद इसलिये बढ चढ़कर है कि उसे प्रमुख रूप से शिक्षितों का नेतृत्व करना पडता है। इस पद के उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों को सफलता पूर्वक निभाने के लिये प्रधानाध्यापक को विशिष्ट गुणों का पुंज होना चाहिये।

प्रधानाध्यापक के गुण—ऐसे महत्वपूर्ण पद के लिये, विशिष्ट व्यक्तित्व वाला, असाधारण योग्यता का, महत्वशाली व्यक्ति ही उपयुक्त हो सकता है। जैसे सभी लोग नेता नहीं बन सकते, वैसे ही सभी व्यक्ति प्रधानाध्यापक नहीं बन सकते। कहा जाता है कि प्राधानाध्यापक बनाये नहीं जाते वरन् पैदा

1. Report of the Secondary Education Commission (1952-53.)

होते हैं। आधुनिक प्रजातंत्र के युग में यह विचारधारा सर्वमान्य नहीं हो सकती। किसी भी क्षेत्र में एकरूपता और समरूपता का आधिक्य उस क्षेत्र के विस्तार और विकास की गति को मन्द कर देता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रधानाध्यापक एक ही सांचे के ढले हों; उनमें विभिन्नता और मौलिकता भी आवश्यक है। किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि प्रधानाध्यापक में विशेष प्रकार की योग्यता और कतिपय विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य है, वरना वह आधुनिक समय में अपने पद की गरिमा को बनाये रखने में असफल सिद्ध होगा। नीचे हम उसकी इस योग्यता और इन गुणों का विवेचन करेंगे।

प्रधानाध्यापक को प्रकांड विद्वान् होना चाहिये। इसके लिये उसमें बहुमुखी प्रतिभा होनी आवश्यक है। उस लिए कुछ विषयों में पारंगत होना ही अनिवार्य नहीं है, वरन् उसे अनेक विषयों का सामान्य ज्ञान होना भी अति आवश्यक है। उसका सामान्य ज्ञान अति उच्चकोटि का होना चाहिये। हम कह चुके हैं कि विद्यालय में अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं और प्रधानाध्यापक विद्यालय का नेता होता है। विभिन्न विषयों के अध्यापक उससे मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखते हैं। विभिन्न विषयों का निरीक्षण, संगठन, परामर्श एवं निर्देशन प्रधानाध्यापक को करना पड़ता है। यदि विभिन्न विषयों का सम्यक ज्ञान उसे नहीं है तो उसमें नेतृत्व की क्षमता नहीं हो सकती। उसका परामर्श और निर्देशन प्रभावशाली तभी हो सकता है, जब वह विषय पर अधिकारपूर्वक बोल सके। उसे विषय का ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उस विषय की शिक्षण-विधि तथा उसका आधुनिकतम विकास भी उसे ज्ञात होना चाहिये। इस कारण प्रधानाध्यापक की शिक्षा और उसका प्रशिक्षण उच्च और विशिष्ट कोटि का होना चाहिये।

प्रधानाध्यापक के लिये धीर और प्रत्युत्पन्न गति होना भी अति आवश्यक है। उसे अपने उत्तरदायित्वों को निभाते समय अनेक प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। स्वस्थ जीवन-दर्शन और अपने कर्त्तव्यों के प्रति पूर्ण आस्था ही उसे विचारों की वह प्रौढ़ता और परिपक्वता प्रदान कर सकते हैं, जो विभिन्न सम-विषम परिस्थितियों में अडिग रहकर शिक्षा-उद्देश्यों को प्राप्त करने में उसकी सहायक होती रहें। निष्पक्ष और शीघ्र निर्णय प्रधानाध्यापक के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। निर्णयशक्ति को सूक्ष्म और प्रबल बनाने में विचारों की स्पष्टता और स्थिरता अत्यन्त उपयोगी होती हैं। निर्बल निर्णय-शक्ति का व्यक्ति कभी भी सफल प्रधान नहीं हो सकता। शीघ्रता में उठाया

गया कोई भी गलत कदम असफलता और अयोग्यता का प्रमाण हो जायगा।

यों तो प्रत्येक अध्यापक का चरित्र आदर्श होना चाहिए किन्तु प्रधानाध्यापक का चरित्र तो अति उच्च और आदर्श रूप होना चाहिये। वह अध्यापक-वर्ग, विद्यार्थी-वर्ग, अभिभावक-वर्ग और जनसाधारण के लिये एक उदाहरण होता है। सभी उससे प्रभावित और अनुप्राणित होते हैं। उसका नैतिक चरित्र का संदेह से परे और प्रत्येक दृष्टि से आदर्श होना अत्यधिक वांछनीय है। न्यायप्रियता, सहानुभूति, समदर्शिता, सहनशीलता, प्रगतिशीलता, कार्यक्षमता, दूरदर्शिता एवं संगठन-शक्ति आदि गुण जितनी ही अधिक मात्रा तथा समन्वय के साथ उसमें वर्तमान होंगे, उसी मात्रा में प्रधानाध्यापक एक आदर्श और सफल प्रधान होगा। इन्हीं गुणों के आधार पर वह दूसरों का सम्मान, उनकी श्रद्धा तथा उनका विश्वास प्राप्त कर सकता है। इन्ही के द्वारा वह दूसरों को प्रेरणा प्रदान कर उनमें आज्ञाकारिता और कार्य-क्षमता का संचार कर सकता है। वह समाज की आवश्यकताओं का अध्ययन करता है और अपनी दूरदर्शिता और कल्पना के द्वारा विद्यालय का संचालन इस प्रकार करता है कि समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

प्रधानाध्यापक के स्वरूप और गुणों के विषय में जो सिद्धान्त रखे गये हैं उनकी पूर्ति आदर्श समाज और आदर्श परिस्थितियों में ही हो सकती है। किन्तु जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर यह निर्विवाद है कि प्रधानाध्यापक का चुनाव और नियुक्ति विशेष महत्व रखते हैं। अपने गुणों योग्यताओं अनुभवों व्यवहारों और सामाजिक रुचियों के आधार पर वह समाज और अपने सहयोगियों का विश्वास और सहयोग तथा अपने विद्यार्थियो की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है। उसमें नेतृत्व एवं प्रशासन की योग्यताएँ अनिवार्य रूप से होनी चाहिये। उसकी नियुक्ति में उपरोक्त बातों का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

प्रधानाध्यापक के कर्तव्य

नियुक्ति के उपरान्त प्रधानाध्यापक ही विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था, अर्थात् पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं के संगठन एवं संचालन तथा परीक्षण, अनुशासन और पर्यवेक्षण आदि प्रत्येक गतिविधियों के लिये उत्तरदायी होता है। सिद्धान्त-रूप से विद्यालय की प्रत्येक क्रिया में प्रधानाध्यापक का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हाथ रहता है। प्रधानाध्यापक वह धुरी है, जिस पर विद्यालय-चक्र घूमता है। प्रधानाध्यापक के कर्तव्य अनेक प्रकार के होते हैं अतः उसमें बहुमुखी प्रतिभा का होना आवश्यक है। उसके कर्तव्य

एक नहीं अनेक हैं, और उनका वर्गीकरण भी सरल नहीं है अतः हम उसके प्रमुख कर्तव्यों के संक्षिप्त विवेचन का ही प्रयास यहाँ पर करेंगे।

प्रधानाध्यापक के प्रमुख कर्तव्यों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विद्यालय की आन्तरिक-व्यवस्था-सम्बन्धी कर्तव्य और (२) विद्यालय की वाह्य-व्यवस्था-सम्बन्धी कर्तव्य। इन दो प्रकार के कर्तव्यों के अन्तर्गत प्रायः वे सभी बातें आ जाती हैं, जो किसी विद्यालय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए आवश्यक होती हैं। आन्तरिक व्यवस्था सम्पूर्ण रूप से प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है। इसके संगठन और संचालन के बल पर ही प्रधाप्राध्यापक उन लक्ष्यों और आदर्शों को प्राप्त कर सकता है जिन्हें समाज ने विद्यालय के लिये निर्धारित किया है। हम कह चुके है कि शिक्षा-नीति समाज अथवा समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापकों द्वारा निश्चित की जाती है किन्तु उसको क्रियान्वित करने का भार प्रधानाध्यापक पर होता है। निर्धारित शिक्षा-नीति को समझना और स्पष्ट रूप से उसका चित्र सदैव दृष्टि में रखना प्रधानाध्यापक के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। शिक्षा-नीति के स्वरूप को स्पष्ट समझ कर ही वह विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था का संगठन और संचालन ऐसी उत्तम रीति से कर सकता है कि वह विद्यालय अभीष्ट लक्षों की प्राप्ति में सफल हो।

(१) विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था

हम कह चुके हैं कि विद्यालय समाज का एक लघु स्वरूप है, अथवा समाज के भीतर एक लघु समाज है। इसके विभिन्न अंग है। इन विभिन्न अंगों की क्रिया-शक्ति पर ही विद्यालय रूपी समाज की जीवन शक्ति निर्भर है, इन विभिन्न अंगों में जीवन संचार करते रहना और उनकी क्रिया-शक्ति को बनाये रखने का कार्य और उत्तरदायित्व प्रधानाचार्य का है। विद्यालय के इन आन्तरिक अंगों में विद्यालय-भवन, भवन की साजसज्जा, उसके भीतर की सामग्री, उसमें प्रयुक्त होने वाले शिक्षण-उपादान, विद्यालय के पाठ्यक्रम, पाठ्यक्रम में प्रयुक्त होने वाली पाठ्य एवं सहायक पुस्तकें, विद्यालय के छात्र, छात्रों का वर्गीकरण, अनुशासन, अध्ययन, छात्रों का स्वास्थ्य एवं चरित्र, छात्रावास तथा उससे सम्बन्धित अन्य बातें; विद्यालय के अध्यापक, अध्यापकों का कार्य-विभाजन, विद्यालय की दिनचर्या, विद्यालय का कार्यालय, प्रयोगशालायें, अध्यापन-कार्य एवं उसका पर्यवेक्षण, पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ, विभिन्न समितियों के कार्य एवं सभाएँ, परीक्षाएँ, कक्षोन्नति तथा पुस्तकालय आदि सम्मिलित हैं। इन सभी की देखभाल करना और उनमें समुचित संतुलन बनाये रखना प्रधानाचार्य के लिये आवश्यक है। इनमें से किसी भी अंग के

रुग्ण अथवा निर्जीव होने का प्रभाव शीघ्र ही अन्य अङ्गों पर पड़ सकता है अतः प्रधानाचार्य को अत्यन्त सावधान, शक्तिमान तथा सर्वव्यापी होने की आवश्यकता है।

विद्यालय-भवन एवं उसकी साजसज्जा—आधुनिक युग में प्रधानाचार्य को एक चतुर एवं दक्ष दूकानदार के गुणों से युक्त होना चाहिये। उसका कर्त्तव्य है कि वह विद्यालय-भवन को सुन्दर, आकर्षक तथा उपयोगी बनाये रखने का प्रयत्न सदैव करता रहे। दूकानदार अपनी दुकान को जितना ही आकर्षक बनाता है, उतनी ही उसकी ग्राहक संख्या बढ़ती है। इसी भाँति एक स्वच्छ, सुन्दर, आकर्षक और स्वस्थ वातावरण से युक्त विद्यालय अभिभावकों और छात्रों को अपनी ओर आकर्षित करता है। प्रधानाध्यापक का कर्तव्य है कि वह विद्यालय-भवन तथा उसके अड़ोस-पड़ोस की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दे। प्रतिदिन उसे देख लेना चाहिये कि विद्यालय के वृक्ष और उसका अहाता ठीक ढंग से साफ किये गये हैं। अहाते के भीतर कोई सड़ी-गली वस्तु न पड़ी रहनी चाहिये, जो वहाँ की वायु को दूषित करे। इसी प्रकार यथासम्भव लता, पौधे, पुष्प आदि विद्यालय-भवन की सुन्दरता को बढ़ाने के उद्देश्य से लगवाने चाहिये। हरियाली का अभाव उदासीनता उत्पन्न करता है। वातावरण का मनोवैज्ञानिक प्रभाव छात्रों के मानसिक और शारीरिक विकास को प्रभावित करता है। इस कारण प्रत्येक प्रधानाचार्य का कर्तव्य है कि अपने विद्यालय को यथाशक्ति सुन्दर बनाये रखे। इसी आदर्श से प्रेरित होकर भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने "विद्यालय को सुन्दर बनाओ" योजना चलाकर विभिन्न विद्यालयों को इस कार्य के लिये सहायता प्रदान की है। कृषि-मंत्रालय भी पुष्पों और पौधों के बीज विद्यालयों को प्रदान करता है। प्रधानाध्यापकों को इस सुविधा का लाभ उठाकर विद्यालय को आकर्षक बनाना चाहिये।

केवल बाहरी आकर्षण ही पर्याप्त नहीं होता, दूकान के भीतर की साज-सज्जा भी आकर्षक होनी चाहिये। प्रत्येक कमरा स्वच्छ, प्रकाश-युक्त, और अपने विषय के अनुकूल सज्जित होना चाहिये। दरवाजे, खिड़कियाँ, रोशनदान, और दीवालें सभी स्वच्छ हों और कमरे सुरुचिपूर्ण चित्रों, आकृतियों तथा वाक्यों आदि से विभूषित हों। इसका अर्थ यह नहीं है कि अनावश्यक रूप से चित्रकारी का भद्दा प्रदर्शन किया जाय। जैसे निवास-स्थान को सुन्दर रूप में सजाया जाता है, उसी प्रकार विद्यालय के अन्तरंग को भी सज्जित रखना आवश्यक है। प्रधानाचार्य की सतर्क और कलात्मक दृष्टि इन सभी बातों की ओर होनी चाहिये। उसका कर्तव्य है कि वह विद्यालय में कुरुचि एवं कुरूपता को पनपने

ही न दे। वर्तमान विद्यालयों में प्रायः इन बातों पर कम ध्यान दिया जा रहा है। नब्बे फीसदी आधुनिक विद्यालयों के शौचालयों और मूत्रालयों में प्रदर्शित वीभत्स चित्रों और वाक्यों को देख-सुन कर लज्जा भी लज्जित होती है। प्रधानाध्यापक इस दिशा में बहुत कुछ रोक-थाम कर सकता है।

विद्यालय की सामग्री एवं शिक्षण-उपादान—दूकान की भाँति विद्यालय के लिए भी वाह्य आकर्षण और भीतरी सजावट ही पर्याप्त नहीं होती, उसके भीतर की सामग्री भी उत्तम कोटि की होनी चाहिये। नहीं तो 'ऊँची दूकान और फीका पकवान' की उक्ति चरितार्थ होगी। उत्तम कोटि की सामग्री का अर्थ बहुमूल्य सामग्री नहीं है। कोटि की उत्तमता की कसौटी उपयोगिता है। विद्यालय के भीतर विभिन्न कक्षों के लिये विभिन्न प्रकार की फरनीचर आदि सामग्री और शिक्षण-उपादानों की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न प्रयोगशालाओं के लिये यन्त्रों की आवश्यकता भी होती है। इस सामग्री और शिक्षण-उपादानों का सग्रह, संरक्षण और प्रयोग उचित रीति से होना आवश्यक है। यह विशेष रूप से प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है। उसका कर्तव्य है कि वह इन वस्तुओं के संग्रह के लिये सतर्क और प्रयत्नशील रहे। यदि इनके अभाव के कारण किसी विषय के पठन-पाठन में शिथिलता आती है, तो उसका उत्तरदायित्व प्रधानाचार्य पर होगा। अनावश्यक कूड़ा भरने की अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि सामग्री एवं शिक्षण-उपादान, यदि धनाभाव के कारण अधिक न हों, तो जो कुछ भी हों, उपयोगी और प्रभावोत्पादक हों। उनके रखने की व्यवस्था भी उचित होनी चाहिये। अच्छे से अच्छा सामान भी खराब ढङ्ग से रखने और लापरवाही से प्रयोग होने के कारण शीघ्र ही खराब होजाता है। विद्यालय की प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर सावधानी और कलात्मक रीति से रखी रहे, तो किसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हो पाती। प्रधानाध्यापक को इन बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम-व्यवस्था—पाठ्यक्रम द्वारा ही समाज छात्रों में उन गुणों और योग्यताओं को उत्पन्न करने की आकांक्षा रखता है, जो उस समाज की दृष्टि से अभिलषित हैं। इस कारण प्रधानाध्यापक का कर्तव्य है कि वह विद्यालय के पाठ्यक्रम का संगठन और संचालन इस भाँति से करे कि वह निर्दिष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सके। अनेक उन्नत देशों में पाठ्यक्रम को निर्धारित करने का कार्य भी अध्यापकों की सहायता से प्रधानाध्यापक ही करता है। भारत में पाठ्यक्रम-निर्धारण शिक्षा-विभागों अथवा सरकार द्वारा होता है। फिर भी प्रधानाध्यापक इसमें साधारण परिवर्तन, पुनःसंगठन और संशोधन करके उसको अधिक उपयोगी और प्रभावशाली बना सकता है। प्रधानाध्यापक को विभिन्न विषयों

और विभिन्न कक्षाओं के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम का स्वयं अध्ययन करके उसका पुनःसंगठन अथवा संशोधन इस प्रकार वैज्ञानिक प्रणाली से कराना चाहिये कि पाठ्यवस्तु स्वयं एक क्रम से पुष्प के समान छात्रों के सम्मुख विकसित होती जाय। प्रस्तावित पाठ्यक्रम निर्धारित समय के भीतर समाप्त हो जाय, इसके लिये आवश्यक है कि वह सुनियोजित हो और प्राप्त-कालावधि के अनुसार टुकड़ों में विभाजित कर लिया जाय। प्रस्तावित पाठ्यक्रम को किस शिक्षण-विधि से कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत किया जायगा, इसका भी मोटे तौर पर निश्चय हो जाना चाहिये। सम्बन्धित अध्यापक को अध्यापन का भार सौंपकर प्रधानाचार्य स्वयं बीच-बीच में देखता रहे कि निर्धारित पाठ्यक्रम क्रमशः निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहे। उसे विषयाध्यापक का इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना चाहिए कि वह पाठ्यक्रम का पुनःसंगठन करले और उसके प्रत्येक खंड के लिए अध्यापन तथा परीक्षण की उपयुक्त योजना बनाकर चले।

पाठ्यक्रम के लिये निर्धारित पाठ्यपुस्तकों एवं सहायक-पुस्तकों का चुनाव भी प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये। पाठ्य-पुस्तकें भी शिक्षा-विभाग ही निर्धारित करता है परन्तु इस दिशा में अध्यापक और प्रधानाध्यापक को अधिकाधिक स्वतन्त्रता होती जा रही है। विभाग पुस्तकों की सूची प्रकाशित कर देता है, जिसमें से प्रधानाध्यापक अपनी संस्था के अनुकूल पुस्तकों को छाँट लेता है। विषय-अध्यापक के सहयोग और परामर्श से अपने विद्यालय के अनुकूल उत्तम पुस्तकों का चयन प्रधानाध्यापक का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है। उसे निष्पक्ष होकर, छात्रों की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर इस कर्तव्य का सम्पादन करना चाहिये। क्षुद्र स्वार्थों अथवा अवांछनीय प्रभाववश निकृष्ट पुस्तकों का चयन कर लेना एक जघन्य नैतिक अपराध है।

प्रधानाध्यापक एवं छात्र—छात्र ही विद्यालय के उपादान है। विद्यालय की स्थापना ही छात्रों के हेतु होती है। समाज अपने बच्चों की शिक्षा के लिए ही संगठित विद्यालयों की स्थापना करता है। छात्र के इस महत्व को भूलना नहीं चाहिए। वास्तव में छात्र के व्यक्तित्व का उचित विकास और उसमें वांछित गुणों का प्रादुर्भाव ही विद्यालय का प्रमुख उद्देश्य होता है। प्रधानाध्यापक को आरम्भ से ही इस मूलतत्व को समझ लेना चाहिये। उसे बालकों के कल्याण और उनके समाज-सम्मत विकास को अपने सम्मुख रखना चाहिए। छात्रों के लिये ही विद्यालय के अन्यान्य तत्व हैं, अतः प्रधानाचार्य का सर्वोपरि कर्तव्य अपने छात्रों का हित होना ही चाहिए। छात्रों के साथ प्रधानाचार्य का सम्बन्ध पितवत् अत्यन्त उदार एवं स्नेहपूर्ण होना चाहिए। उसे प्रत्येक छात्र के विषय में जानकारी रखने का प्रयत्न करना चाहिये। कहा गया हैं "हित अन-

हित पशु पक्षिहु चीन्हा।" यदि प्रधानाध्यापक सदैव अपने छात्रों की भलाई सोचे, सदैव उनके हित के लिये कार्य करे, तो कोई कारण नहीं कि छात्र आदर और श्रद्धा से उसके सम्मुख सिर न नवायें।

विद्यालय में छात्रों की संख्या क्या हो, इसका निर्णय करना भी प्रधानचार्य का कर्तव्य ही होता है। वह समाज की आवश्यकता और अपने विद्यालय की क्षमता को देखकर, अथवा शिक्षा-विभाग द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार संख्या निश्चित कर सकता है। छात्रों के वर्गीकरण का उत्तरदायित्व भी प्रधानाध्यापक का ही होता है। वह योग्यता-आयु और रुचि के अनुसार विद्यार्थियों को विभिन्न वर्गों में वितरित कर सकता है। भारत में श्रेणी-प्रणाली होने के कारण एक ही कक्षा में विभिन्न आयु, योग्यता और रुचि के विद्यार्थी एक साथ ही शिक्षा प्राप्त करते है। किन्तु यदि विद्यालय में उपकक्षाएँ हों तो प्रधानाचार्य को चाहिये कि एक योग्यता और आयु के बालकों को एक उपकक्षा में रखने का प्रयत्न करे।

अनुशासन—अनुशासन ही मानव-जीवन को सुखी और समृद्ध बनाता है। अनुशासनहीन जीवन उच्छृङ्खल हो जाता है। किसी राष्ट्र अथवा व्यक्ति की उच्चता और महत्ता उसमें वर्तमान अनुशासन द्वारा आँकी जा सकती है। विद्यालय में अनुशासन ठीक रखना प्रधानाध्यापक का प्रधान कर्तव्य होता है। प्रधानाध्यापक को देखना चाहिये कि छात्र कक्षा में, कक्षा के बाहर क्रीड़ा-क्षेत्र में, विभिन्न स्थानों और अवसरों पर, अनुशासन-पूर्वक रहें। समय पर विद्यालय आना, समय पर प्रत्येक कार्य करना, अधिक शोर गुल न करना, विद्यालय की दिनचर्या में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करना, सबके साथ सभ्य एवं भद्र व्यवहार करना, छात्रों के लिए आवश्यक और कल्याणकारी हैं। इसी से छात्र भविष्य जीवन के लिए योग्यता प्राप्त करता है। बिना अनुशासन के वह नागरिक जीवन में भी सफल नहीं हो सकता है। अनुशासन के विषय में हम अलग से विस्तार पूर्वक लिखेंगे। यहाँ हम केवल इस बात पर जोर देना चाहते है कि विद्यालय का समस्त अनुशासन प्रधानाचार्य पर निर्भर करता है। प्रधानाध्यापक अपने आदर्शों के अनुसार व्यवहार करके छात्रों को प्रभावित कर सकता है। प्रत्येक अवसर पर उसकी पैनी दृष्टि छात्रों पर होनी चाहिये और उसे स्वयं आदर्श उपस्थित कर विद्यालय की प्रत्येक क्रिया में अनुशासन लाना चाहिए। प्रधानाध्यापक को यथावसर छात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियो को उत्तेजित करके उनके भीतर अनुशासन की भावना उत्पन्न करना चाहिय। अनुशासन की भावना जब छात्र में संस्कार के रूप में आ जाय, तभी समझना

चाहिए कि प्रधानाध्यापक अपने प्रयत्न में सफल हुआ है। कहा जाता है कि प्रधानाध्यापक की योग्यता की कसौटी विद्यालय का अनुशासन है।

विद्यालय का अध्यापन-कार्य—शिक्षण की सुव्यवस्था भी प्रधानाध्यापक के प्रमुख कर्तव्यों में से है। अध्यापन-कार्य ही विद्यालय की प्रमुख क्रिया है। प्रधानाध्यापक को स्वयं भी अति उत्कृष्ट कोटि का अध्यापक होना चाहिये। उसे विद्यालय में कुछ घण्टे का अध्यापन-कार्य अवश्य लेना चाहिये। इस अध्यापन कार्य के लिये प्रधानाध्यापक को सतर्कता से अपने को प्रस्तुत करना चाहिये और आधुनिकतम विधियों का प्रयोग करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रधानाध्यापक शिक्षण का ऐसा आदर्श उपस्थित करे कि अन्य शिक्षक उससे प्रेरणा ग्रहण करें। छात्रों से सम्पर्क रखना प्रत्येक प्रधानाध्यापक के लिये आदश्यक है। इसलिये उत्तम तो यह है कि प्रधानाचार्य प्रत्येक कक्षा में कुछ न कुछ समय शिक्षण अवश्य करे। किन्तु प्रधानाध्यापक पर प्रशासन का कार्य-भार अधिक होता है और वह इतना समय नही निकाल पाता कि वह प्रत्येक कक्षा मे प्रतिदिन पढ़ा सके। ऐसी दशा में उसे विद्यालय की उच्चतम और निम्नतम कक्षाओ मे कोई विषय अथवा उसका भाग अवश्य पढ़ाना चाहिये और अन्य कक्षाओं में सप्ताह में एक घंटा साधारण ज्ञान अथवा कोई विषय पढ़ाना चाहिए। ऐसा करने से वह सम्पूर्ण विद्यालय के छात्रों से संपर्क स्थापित कर सकेगा और उनको प्रभावित रख सकेगा।

विद्यालय में होने वाले अन्य अध्यापकों के अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण भी प्रधानाचार्य का प्रमुख कर्तव्य है। उसे देखना चाहिये कि अन्य शिक्षक अपना कार्य उचित ढंग से कर रहे हैं। उसे समय-समय पर अध्यापकों के कार्य पर दृष्टि डालते रहना चाहिये। उसके नेत्र और कान इतने सधे होने चाहिये कि वह कक्षा के बाहर से भी कक्षा के भीतर होने वाली गतिविधि का पता लगा सके। वह अध्यापकों को स्नेह और सहानुभूति के साथ ऐसी प्रेरणा दे कि अध्यापक नवीनतम शिक्षण-विधियों का प्रयोग करें। प्रधानाध्यापक अपने अनुभव के आधार पर अन्य अध्यापकों का उचित मार्ग-प्रदर्शन इस दिशा में सकता है। वैसे भी उसे विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षण-विधियों का ज्ञान होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को छात्रों के लिखित-कार्य का भी निरीक्षण करते रहना चाहिए और यह जाँच करते रहना चाहिये कि अध्यापक उचित रीति से आवश्यक लिखित कार्य कराते और उसका संशोधन करते हैं या नहीं अध्यापक की डायरी जाँच भी उसे समय समय पर करनी चाहिये। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रधानाध्यापक का

यह कर्त्तव्य है कि वह अध्यापकों से उस कार्य को करवाने की क्षमता प्राप्त करे जिस कार्य के लिये अध्यापक विद्यालय में नियुक्त किये जाने है।

छात्रों का स्वास्थ्य और चरित्र—छात्रों के स्वास्थ्य और चरित्र के विषय में भी प्रधानाध्यापक को सदैव सतर्क रहना चाहिये। वास्तव में स्वस्थ छात्र ही अच्छे विद्यार्थी हो सकते। उनका स्वास्थ्य राष्ट्रीय सम्पति है। प्रधानाध्यापक का कर्तव्य है कि अपने विद्यालय के ससमस्त छात्रों के स्वाथ्य पर दृष्टि रखे उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा समय समय पर करवाता रहे और उनको स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों की जानकारी की सुविधाएँ प्रदान करता रहे। विभिन्न खेल-कूद, क्रीड़ाएँ और स्वास्थ्य-प्रतियोगिताएँ, तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य क्रियाएँ विद्यालय की अभिन्न अंग होनी चाहिये। विद्यालय का उद्देश्य छात्र की मानसिक शक्ति का विकास करना ही नहीं है वरन् उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास करना भी है। इस विषय मे प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व इसलिये बहुत अधिक है क्योंकि राष्ट्र की उन्नति स्वस्थ नागरिकों पर ही निर्भर है। इस कारण छात्रों को शारीरिक विकास की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने के लिये प्रधानाध्यापक को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

विद्यार्थी-जीवन में ही चरित्र का निर्माण और उसकी पुष्टि होती है। प्रधानाध्यापक अपने आदर्श चरित्र और अपने सहयोगियों के चरित्र से उदाहरण उपस्थित कर विद्यार्थियों को वांछित चरित्र-निर्माण मे सहयोग प्रदान कर सकता है। छात्र स्वभावतः अनुकरणशील होता है। यदि विद्यालय-जीवन में उसे उचित आदर्श और निर्देशन प्राप्त होता रहे, तो वह अपने चरित्र को आदर्श बना सकता है। आधुनिक भारत मे विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता का एक प्रमुख कारण उनके सम्मुख चारित्रिक आदर्शों का अभाव है। वर्तमान समाज, अध्यापक वर्ग, तथा अन्य परिस्थितियाँ इसके लिये उत्तर दायी है। किन्तु एक दूसरे को दोषी ठहराने से तो राष्ट्रीय उत्थान नहीं होगा। इस दिशा में सबका सहयोग अपेक्षित है। प्रधानाध्यापक ही इस सहयोग का संगठन और संचालन कर सकता है।

विद्यालयों में छात्रावासों का होना अनिवार्य होना चाहिये। छात्रावासों का नियंत्रण विद्यालय कर सकता है और उन्हें अपने आदर्शों के अनुकूल बना सकता है। विद्यालय के अधिकांश छात्र यदि छात्रावासों मे रहे, तो अनुशासन की समस्या सरल हो जाय। छात्रावास ही छात्रों को पारस्परिक सहयोग और प्रेम की भावनाएँ प्रदान करते हैं। प्रधानाध्यापक का छात्रावासों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। प्रधानाध्यापक को चाहिये कि वह ऐसे अध्यापक को गृहपति नियुक्त करे, जो इस महान उत्तरदायित्व-पूर्ण पद के लिये सब

प्रकार से योग्य हो। छात्रावास का वातावरण अत्यन्त उच्चकोटि का होना चाहिये। इस वातावरण की छाप जीवन-पर्यन्त विद्यार्थियों पर रहती है। यह वातावरण इस प्रकार का हो, जो विद्यार्थी में आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता और आत्म-गौरव आदि सदगुणों को उत्पन्न करे। छात्रों के भोजन, शयन, व्यायाम एवं अध्ययन आदि की उचित और नियमित व्यवस्था छात्रावास में होनी अनिवार्य है। प्रधानाध्यापक पूर्ण रूप से इस व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है। उसका कर्तव्य है कि वह छात्रावासों का निरीक्षण करता रहे और उसके वातावरण को आदर्श बनाने का प्रयत्न करता रहे। किसी प्रकार की त्रुटि और असावधानी छात्रावास के वातावरण को गंदा बना सकती है। प्रधानाध्यापक को इस ओर से अत्यन्त सजग और सावधान रहना चाहिये। सामाजिक जीवन के प्रशिक्षण के लिये छात्रावास अनन्यतम साधन हैं।

प्रधानाध्यापक और अध्यापक— प्रधानाध्यापक और विद्यालय के अध्यापकों का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। प्रधानाचार्य कितना भी योग्य और गुणसम्पन्न हो किन्तु बिना अपने सहयोगियों और सहकारियों के सहयोग के कुछ भी नही कर सकता है। उसे प्रत्येक पद पर उनका सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है। उनके सहयोग के बल पर ही वह विद्यालय के लक्ष्यों और आदर्शों की पूर्ति कर सकता है और विद्यालय को सफलता की उच्चतम सीढ़ी तक पहुंच सकता है। यह सहयोग किस प्रकार प्राप्त हो? सबसे पहले तो प्रधानाध्यापक को अध्यापक की नियुक्ति के विषय में ही बहुत सतर्क और विवेकशील होना चाहिये। उसे निष्पक्ष भाव से ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति पर बल देना चाहिये, जो उसकी राय में उस विद्यालय के वातावरण के योग्य हों और उसे वांछित सहयोग प्रदान कर सकें। चूंकि अध्यापको से कार्य लेना प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है, अतः अध्यापकों की नियुक्ति मे भी उसका प्रमुख हाथ होना चाहिये। उस अवसर पर प्रधानाध्यापक को चाहिये कि खूब जाँच पड़ताल कर वह अध्यापकों की नियुक्ति करे।

दूसरे, प्रधानाध्यापक को प्रत्येक अध्यापक के साथ सहानुभूति, उदारता और स्नेह का व्यवहार रखना चाहिये। उसे अपने को उनका हितैषी, बन्धु, परामर्शदाता और मार्ग-प्रदर्शक समझना चाहिये। जहाँ प्रधानाध्यापक में अहं-भावना उत्पन्न हो जाती है, वहीं वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली द्वारा ही आधुनिक प्रधानाध्यापक अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से उसे बचना चाहिये। उसे जहाँ कहीं अध्यापक में त्रुटि मालूम हो, अध्यापक को एकान्त मे

बुला कर समझा देना चाहिए। दूसरों के सम्मुख कभी भी अध्यापक की आलोचना और बुराई नहीं करनी चाहिये। उसका व्यवहार प्रत्येक अध्यापक के साथ इतना मधुर होना चाहिये कि अध्यापक स्वयं लाकर अपनी कठिनाइयाँ उसके सम्मुख रख सकें और सलाह ले सकें। प्रत्येक अध्यापक की रुचि, योग्यता, घरेलू परिस्थितियों और चरित्र आदि के विषय में प्रधानाध्यापक को प्रयत्न पूर्वक अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये और तदनुकूल उनके साथ आचरण करना चाहिये। उसे अध्यापकों की कठिनाइयों को समझना चाहिये और उन्हें यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि प्रधानाध्यापक अन्य अध्यापकों के हृदय में अपने प्रति भय के स्थान पर श्रद्धा उत्पन्न कर सके, तो उसे वांछित सहयोग अवश्य प्राप्त होगा।

वांछित मात्रा में सहयोग प्राप्त हो सके इसके लिये आवश्यक है कि प्रधानाचार्य विद्यालय मे किसी प्रकार की दलबन्दी न होने दे और न स्वयं किसी दलबन्दी में हो। प्रधानाध्यापक की दृष्टि मे सभी अध्यापक समान होनी चाहिए उसको चाहिये कि वह अच्छे कार्य के लिये सभी को प्रोत्साहित करे और त्रुटियों के लिये सभी को सावधान कर दे। कार्य-वितरण में भी उसको देखना चाहिये कि सभी पर कार्य-भार समान रहे। किसी के साथ पक्षपात न हो और न किसी के साथ अन्याय हो। अध्यापन-कार्य और पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं का वितरण योग्यता, अनुभव, एवं रुचि के आधार पर इस प्रकार किया जाय कि सभी अध्यापक सतुष्ट रहे और अपनी शक्ति से भी अधिक कार्य करने के लिये प्रस्तुत रहे।

अध्यापकों के बीच कार्य-विभाजन कर देने के पश्चात् प्रधानाध्यापक को अध्यापक का विश्वास करके उस कार्य को उस पर छोड़ देना चाहिये। प्रत्येक बात में बारम्बार दखल देने की प्रवृत्ति बुरी है। यदि कार्य अध्यापक के विश्वास पर छोड़ दिया गया है, तो उसके अन्दर उत्तरदायित्व और आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न होगी और वह उस कार्य को सफलता से करने का प्रयत्न करेगा, हाँ, प्रधानाध्यापक को यह अवश्य चाहिये कि वह समय-समय पर उस कार्य का निरीक्षण और मूल्यांकन कर लिया करे। इससे अध्यापक भी सतर्क रहेगा और प्रधानाध्यापक को भी कार्य की प्रगति का पता लगता रहेगा। यदि वह आवश्यक समझे तो अध्यापक से विचार-विमर्श कर ले और अपना दृष्टिकोण समझाते हुये आवश्यक निर्देश दे दे। यह आवश्यक नहीं कि वह सदैव अपनी ही बात ऊँची रखना चाहे। यदि किसी अध्यापक का सुझाव उचित हो तो उसे अवश्य मान लेना चाहिये। समस्त अध्यापकों के कार्यों का पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक को अवश्य करना चाहिये। किसी अध्यापक में यह

भावना न पैदा हो देनी चाहिये कि वह जैसा चाहे वैसा कर सकता है। ऐसा होने पर अध्यापक में शिथिलता और अहंभाव आजाते हैं, जो उसके पतन का मार्ग खोल देते हैं।

विद्यालय का कार्यालय—प्रधानाध्यापक के प्रमुख कर्तव्यों में से विद्यालय के कार्यालय के काम की देखभाल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक सक्षम और विश्वसनीय कार्यालय प्रत्येक विद्यालय के लिये अनिवार्य है। विद्यालय के कार्यालय में ही विद्यार्थी, अध्यापक, अभिभावक, प्रबन्धसमिति, शिक्षा-विभाग तथा विद्यालय से सम्बन्धित अन्य बातों के विषय में समस्त कागज रहते है। विभिन्न अभिलेख (Record), पत्र व्यौरे आदि कार्यालय में ही रखे जाते हैं। इनकी देखभाल के लिये प्रत्येक कार्यालय में आवश्यकतानुसार एक या दो लिपिक रहते हैं। प्राथमिक विद्यालयों में लिपिक नहीं होता। वहाँ प्रधानाध्यापक को ही कार्यालय-सम्बन्धी कार्य भी करना पड़ता है। माध्यमिक और उच्च कक्षा वाली संस्थाओ में लिपिक आदि रहते हैं। यह आवश्यक है कि लिपिक ऐसा व्यक्ति हो जो प्रधानाध्यापक का पूर्णरूप से विश्वासपात्र हो और उसे पूरा सहयोग प्रदान करे। यदि कार्यालय की गुप्त बातों का पता लिपिक द्वारा बाहर पहुँचता रहेगा तो प्रधानाध्यापक और उस विद्यालय की हानि हो सकती है। प्रधानाध्यापक को चाहिये कि वह लिपिक की सहायता से विद्यालय के कागजात इस प्रकार रखे कि आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक अभिलेख, पत्र अथवा ब्यौरा शीघ्र मिल जाय। प्रत्येक प्रधानाध्यापक के लिये कार्यालय के कागजात की जानकारी आवश्यक होती है।

उत्तम कार्यालय की विशेषता होती है कि प्रत्येक कागज अपनी फाइलों में यथास्थान रखा रहे, और उन फाइलों पर क्रम और विषय के अनुसार संख्या पड़ी हो। फाइलों का क्रम और विषय एक चार्ट बनाकर रख लिये जाँय और जब आवश्यकता हो शीघ्र उन लेखों को निकाल लिया जाय। किसी फाइल का कोई पत्र अथवा लेख कार्यालय से बाहर नहीं जाना चाहिये। यदि अत्यन्त आवश्यक हो, तो उसकी नकल रखकर उसे बाहर भेजा जाय और इस आशय का एक नोट लिखकर फाइल में रख दिया जाय। कुछ प्रसिद्ध और गोपनीय अभिलेखों को अलग रखकर प्रधानाध्यापक को उसकी कुंजी अपने अधिकार में रखनी चाहिये। प्रबन्ध-समिति-सम्बन्धी कागजात, नियुक्ति-सम्बन्धी-कागजात और अध्यापकों के अभिलेख आदि अत्यन्त सावधानी से रखे जाने चाहिये। विद्यालयों के आयव्यय-सम्बन्धी कागजात, बजट, फीस, बैंक का हिसाब-किताब आदि अर्थ-सम्बन्धी बातों मे प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। उसकी थोड़ी असावधानी भी अत्यन्त हानिकारक हो सकती है। प्रधानाध्यापक

का उत्तरदायित्व है कि वह विद्यालय के आय-व्यय को पूर्ण रूप से समझे और उसको इस प्रकार से रखे कि विद्यालय के एक पैसे का भी दुरुपयोग न हो। आर्थिक दशा अच्छी हो या बुरी किन्तु प्रत्येक पाई का हिसाब अत्यन्त ईमानदारी और सावधानी से होना चाहिये। खेल, परीक्षा छात्रावास, पुस्तकालय तथा उत्सव आदि में से किसी भी अंग का खर्चा हो, उसे इस प्रकार रखना चाहिये कि किसी को किसी प्रकार का संदेह न हो। प्रधानाध्यापक को इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट, खरा और सच्चरित्र होना चाहिये। उसे कार्यालय को अपने समीप रखना चाहिये और सदैव उस पर सतर्क दृष्टि रखना चाहिये। किसी भी प्रकार के गबन तथा भ्रष्टाचार आदि को पनपने नहीं देना चाहिये। कहीं-कहीं कमीशन के नाम से जो भ्रष्टाचार होते हैं, उनके प्रति, प्रधानाध्यापक सदैव सतर्क रहकर इस कथित परम्परा को नष्ट कर सकता है।

कार्यालय का कार्य सुचारु और नियमित रूप से होने के लिये सुव्यवस्था का होना आवश्यक है। यह सुव्यवस्था प्रधानाध्यापक ही कर सकता है। उसे नियमित रूप से कार्यालय का काम प्रतिदिन देखना चाहिये और आवश्यक पत्र-व्यवहार प्रतिदिन स्वयं अपने सम्मुख करा देना चाहिये। उसे दैनिक, मासिक, वार्षिक और विशेष कार्यों की सूची बना लेनी चाहिये और उसके अनुसार प्रत्येक कार्य की जांच पड़ताल अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिये। इसी प्रकार जिन पत्रों, अभिलेखों, और ब्यौरों पर वह हस्ताक्षर करता है उनको भी अत्यन्त सावधानी से देखकर और समझ कर उसे हस्ताक्षर करना चाहिये।

विद्यालय की प्रयोगशालाओं, पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं, विभिन्न समितियों के कार्यों एवं सभाओं, परीक्षाओं तथा पुस्तकालय आदि के सुचारु संचालन का उत्तरदायित्व भी प्रधानाध्यापक का ही है। उसे इनका निरीक्षण करते हुए उनमें वांछित सुधार करते रहना चाहिये। जहाँ कहीं उसे कोई त्रुटि दिखलाई पड़े वहाँ आवश्यक सुझाव देकर उसे त्रुटियों को दूर करा देना चाहिये। कोई भी प्रधानाध्यापक यह कह कर अपने उत्तरदायित्व से छुटकारा नहीं पा सकता कि अमुक क्रिया का उत्तरदायित्व अध्यापक विशेष पर है। अन्तिम उत्तरदायित्व तो प्रधानाध्यापक पर ही आता है फलतः विद्यालयों में होने वाली प्रत्येक क्रिया पर प्रधानाध्यापक की सजग, सतर्क दृष्टि सदैव ही रहनी चाहिये।

(२) विद्यालय की बाह्यव्यवस्था

विद्यालय के बाह्यव्यवस्था सम्बन्धी कर्तव्य—प्रधानाध्यापक को आन्तरिक व्यवस्था के अतिरिक्त विद्यालय के सम्बन्ध में अनेक बाह्य कर्तव्यों का भी

पालन करना आवश्यक होता है। इनमें प्रमुख प्रबन्ध-समिति, अभिभावक, समाज, शिक्षा-विभाग और सरकार से सम्बद्ध कर्तव्य आते हैं। इन विभिन्न तत्वों के साथ उत्तम सम्बन्ध बनाये रखना प्रधानाध्यापक की सफलता के लिये अनिवार्य है।

प्रधानाध्यापक और प्रबन्ध-समिति—हम पहले कह चुके हैं कि व्यवस्थापक समाज के प्रतिनिधि के रूप में विद्यालय के प्रमुख साधक हैं। विद्यालय की व्यवस्था प्रबन्ध-समिति का उत्तर-दायित्व है और प्रधानाध्यापक उसका सहयोगी है। विद्यालय की शिक्षानीति, अध्यापकों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति, विद्यालय के विभिन्न कार्यों के लिये व्यय की स्वीकृति अध्यापकों के वेतन आदि की स्वीकृति, लम्बी छुट्टियों की स्वीकृति तथा नई कक्षाओं का आरम्भ आदि कार्य प्रबन्ध-समिति के अधिकार में रहते हैं। प्रधानाध्यापक को चाहिये कि वह विद्यालय के हित का विचार कर उन योजनाओं और विषयों को जिससे विद्यालय की उन्नति होने की आशा हो समिति के सम्मुख निडर होकर रखे। निष्पक्ष कल्याण-भावना से किया गया कार्य सदैव प्रभाव डालता है। छात्रों, अध्यापकों तथा कर्मचारियों की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे प्रबन्धसमिति पर जोर डालना चाहिये और उन्हें उचित परामर्श देकर इन बातों के लिये स्वीकृति प्राप्त कर लेना चाहिये। वित्त-सम्बन्धी कार्यों में प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। प्रत्येक वित्त-सम्बन्धी व्यौरा उचित प्रकार से समिति के सम्मुख आना चाहिये और व्यय के लिये समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिये। मन्त्री और प्रबन्धक से प्रधानाध्यापक को घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। उसे नीति और वित्त संबंधी बातों में उनसे परामर्श लेकर ही कार्य करना चाहिये।

प्रधानाध्यापक को अपने अधिकारों के प्रति सतर्क रहना भी परमावश्यक है। उसे आंतरिक व्यवस्था में समिति के सदस्यों का दखल रोकना चाहिये। सावधानी और चतुरता से उसे सदस्यों से स्पष्ट कह देना चाहिये कि विद्यालय की आंतरिक व्यवस्था उसका उत्तरदायित्व है और उसमें सदस्यों का अनावश्यक हस्तक्षेप करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अभाग्यवश हमारे देश की अनेक निजी प्रबन्ध-समितियाँ बुराइयों की गढ़ हो रही हैं। सदस्य विद्यालय को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते हैं और अध्यापकों को अपना निजी नौकर। विद्यालय की आंतरिक व्यवस्था में हर प्रकार से टांग अड़ाना कुछ मंत्री अथवा प्रबन्धक तथा सदस्य अपनी शान समझते हैं। ऐसी प्रबन्ध समितियों से शिक्षा के भविष्य की क्या आशा की जा सकती है ?

प्रधानाध्यापक, अभिभावक और समाज—विद्यालय में शिक्षा पाने वाले

छात्रों के अभिभावकों से प्रधानाध्यापक को निकट सम्बन्ध रखना चाहिये। उनके सहयोग से प्रधानाध्यापक छात्रों का महान् कल्याण कर सकता है और विद्यालय को अनेक बुराइयों से बचा सकता है। छात्र की विभिन्न प्रकार की प्रगति की रिपोर्ट अभिभावक को भेजते रहना चाहिये। छात्र की उपस्थिति, व्यवहार, अध्ययन, शारीरिक अवस्था तथा मानसिक अवस्था की रिपोर्ट अभिभावक के पास भेजकर छात्र की उन्नति के लिये अभिभावक का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि विद्यालय में शिक्षक-अभिभावक-संघ की स्थापना का प्रयत्न करे और विभिन्न अवसरों पर अभिभावकों को विद्यालय में निमन्त्रित करता रहे। ऐसे अवसरों पर उनके साथ शिक्षकों का विचार-विमर्श होने से अनेक प्रकार की सहायता छात्रों के हित के लिये अभिभावकों से प्राप्त हो सकेगी।

अभिभावक जब विद्यालय में बुलाये जायँ, तब प्रधानाध्यापक को उनके साथ शिष्ट व्यवहार करना चाहिए और उनसे बालकों की कठिनाइयों और कमजोरियों के विषय में परामर्श करना चाहिये। साथ ही विभिन्न सुझाव देकर अभिभावकों से सहयोग और सहायता की याचना करनी चाहिये। अभिभावक भी विभिन्न प्रकार और विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के होते हैं। प्रधानाध्यापक में मनुष्य की पहचान करने का विशेष गुण होना चाहिये। जिस प्रकार का अभिभावक हो, उसके योग्य व्यवहार होने से वह प्रसन्नता से प्रधानाध्यापक को सहयोग प्रदान करेगा। विद्यार्थियों में प्रचलित साधारण बुराइयों के अतिरिक्त प्रत्येक छात्र के विषय में अध्यापक एवं प्रधानाध्यापक को ज्ञान होना चाहिये और उसके विशेष गुण और अवगुण की रिपोर्ट अभिभावक को देकर उसके सहयोग से छात्र के अवगुणों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी हमारे देश में शिक्षक-अभिभावक-संघों की संख्या नगण्य ही हैं और वह भी वांछित प्रभाव नहीं रखते। प्रधानाध्यापकों को इसके लिए पहल करनी चाहिये और विद्यालय को वास्तविक अर्थ में आधुनिक बनाना चाहिए।

आधुनिक विद्यालय का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में विद्यालय का महत्व और क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो रहे है। विद्यालय सामाजिक जीवन का भी केन्द्र बनाया जा रहा है। प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसे अपने छात्रों को ही शिक्षित नहीं करना है वरन् उसे अपने समीपवर्ती समाज को भी शिक्षित करना है। समाज प्रधानाध्यापक से नेतृत्व की आशा रखता है। अपने पद की प्रतिष्ठा के कारण प्रधानाध्यापक समाज के दुर्गुणों को दूर कर उनमें सद्गुणों का प्रचार कर सकता है। समाज में विभिन्न बुराइयां अशिक्षा और अज्ञान के कारण

हैं। उन्हें सच्चे नागरिक बनाने में विद्यालय बहुत सहयोग दे सकता है। हमारी सामाजिक-शिक्षा-योजनाओं का केन्द्र भी विद्यालयों को ही बनाया गया है। प्रधानाध्यापक को सामाजिक कार्यों में स्वयं उत्साह से भाग लेना चाहिए और विद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों को भी सामाजिक-सेवा-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। विद्यालय में समाजोपयोगी भाषण, नाटक, प्रतियोगिताएँ, प्रदर्शन तथा उत्सव आदि होते रहने चाहिए। इन बातों से विद्यालय समाज के निकट आ सकेगा और उसके सहयोग से स्वयं सफलता के मार्ग पर बढ़ सकेगा और समाज का भी उपकार कर सकेगा। जैसा हम पहले कह आये हैं समाज और विद्यालय का घनिष्ठ सम्बन्ध ही दोनों को उन्नत बना सकता है।

प्रधानाध्यापक, शिक्षा-विभाग और सरकार—प्रधानाध्यापक को विद्यालय के सम्बन्ध में शिक्षा-विभाग और सरकार से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखना पड़ता है। विभाग के आदेशों और नियमों का पालन आवश्यक होता है। सरकार और शिक्षा-विभाग द्वारा ही विद्यालय को मान्यता और आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। फलस्वरूप सरकार अपने शिक्षा-विभाग द्वारा विद्यालयों पर कुछ न कुछ नियंत्रण रखती है। विद्यालय को सरकार से अनुदान प्राप्त करने के लिये कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। शिक्षा-विभाग को आय-व्यय का ब्यौरा तथा परीक्षाफल भी भेजना पड़ता है। विद्यालय का निरीक्षण करवाना भी आवश्यक होता है। अनेक विषयों के लिये प्रधानाध्यापक को शिक्षा-विभाग से सम्पर्क रखना ही पड़ता है। प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधानी और सतर्कता से व्यवहार करना चाहिए! यदि कोई आदेश अनुचित और विद्यालय के लिए हानिकर ज्ञात हो, तो उसे शिक्षा-अधिकारियों को नम्रता पूर्वक अपना दृष्टिकोण समझा देना चाहिए।

आजकल हमारी केन्द्रीय और राज्यों की सरकारें विभिन्न शिक्षा-योजनाएँ चला रही हैं। प्रधानाध्यापक को इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उन योजनाओं द्वारा अपने विद्यालय को लाभान्वित करना चाहिए। अभिमान और आलस्य प्रधानाध्यापक के महान् शत्रु हैं। कुछ प्रधानाध्यापक समझते हैं कि उनको अब कुछ जानने की आवश्यकता नहीं हैं और कुछ केवल आलस्यवश नवीन योजनाओं से दूर रहते हैं। यह कूप-मण्डूक-प्रवृत्ति प्रधानाध्यापक को लकीर का फकीर बना देती है और विद्यालय की प्रगति में बाधा डालती है। प्रधानाचार्य को सदैव नवीन ज्ञान और जानकारी प्राप्त करते रहना चाहिए।

उपसंहार

ऊपर की पंक्तियों में व्यवस्थापक, अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्यों की विस्तार से चर्चा कर दी गई है। प्रसंगवश ऐसी भी अनेक बातें आ गई है, जिनका ध्यान कर्तव्य-पालन तथा लक्ष्यसिद्धि की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है। यदि विद्यालय के सभी साधक अपने-अपने कर्तव्यों तथा दूसरों के अधिकारों के प्रति सावधान रहकर विद्यालयों का संचालन करें, तो निश्चय ही उनसे वे प्रयोजन सिद्ध हो सकेंगे, जिनके लिए राष्ट्र के छात्र विद्यालयों में आकर प्रविष्ट होते हैं और राष्ट्र का अपरिमित श्रम और धन निरंतर व्यय होता रहता है।

सप्तम अध्याय

विद्यालय के चेतन साधन

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; महत्त्व; नियुक्ति-विधि; इनके साथ व्यवहार; कार्यालय के कर्मचारी; लिपिक-वर्ग के विषय में; पुस्तकाध्यक्ष; उपसंहार।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय में हमने विद्यालय के साधकों का वर्णन किया है। साधकों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अनेक साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है। ये साधन दो प्रकार के हो सकते हैं—चेतन और अचेतन। विद्यालय के चेतन साधन विद्यालय के वे कर्मचारी होते हैं, जो अध्यापक वर्ग में नहीं आते। इनमें कार्यालय के लिपिक, चपरासी, माली, चौकीदार, मेहतर तथा खेलकूद का सामान सँभालने अथवा पानी पिलाने के लिए रखे गये व्यक्ति आदि कर्मचारी गिने जा सकते हैं। विद्यालय के साधक (अध्यापक) विद्यालय के मुख्य कार्य-शिक्षण—को सुचारु रूपेण चलाने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में इनका साधन के रूप में प्रयोग करते हैं, अतः इसकी गणना साधनों में की जा रही है।

महत्व

चेतन साधन विद्यालय के बड़े ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। यों तो विद्यालय को सभी का सहयोग अपेक्षित होता है परन्तु इनका सहयोग विशेष महत्त्व का होता है। चेतन होने के कारण ये करने, न करने अथवा बिगाड़ देने में समर्थ होते हैं। इनके असहयोग करने अथवा अवांछनीय प्रकार के होने पर विद्यालय में शिक्षणानुकूल वातावरण कभी नहीं बन सकता। इन सबके सहयोग के बिना अध्यापकों को कठोर प्रयत्न करने पर भी अपने कार्य में अभीष्ट सफलता कभी नहीं मिल सकती। फलतः इनकी नियुक्ति करने तथा इनके साथ व्यवहार करने में सामान्यतया सभी अध्यापकों को तथा विशेषतया मुख्याध्यापक को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

नियुक्ति-विधि

प्रत्येक कर्मचारी की नियुक्ति अत्यन्त सावधानी और पूरी छानबीन के पश्चात् करनी चाहिये। प्रत्येक कर्मचारी स्वामि-भक्त (विद्यालय के प्रति पूर्ण वफ़ादार), परिश्रमी, चुस्त, सुशील, कर्मठ और आज्ञाकारी होना चाहिये। उसके चरित्र की जांच भले प्रकार से कर लेनी चाहिये। नियुक्ति करते समय कर्मचारियों के गुणों पर ही प्रमुख ध्यान देना चाहिये। किसी की सिफारिश पर नियुक्ति कर देना नितान्त हानिकारक हो सकता है। प्रभावशाली व्यक्तियों की सिफारिश पर नियुक्त किये हुए कर्मचारी आगे चलकर बड़े दुखदायी सिद्ध होते हैं।

विद्यालय के हित में यह आवश्यक है कि सभी कर्मचारी प्रधानाध्यापक के विश्वासपात्र हों। प्रधानाध्यापक ही प्रमुख रूप से इन कर्मचारियों से कार्य करवाने के लिए उत्तरदायी होता है। यदि कर्मचारी विश्वसनीय न हों, तो विद्यालय के कार्य में बाधा उपस्थित हो सकती है। यह भी आवश्यक है कि इन कर्मचारियों पर प्रबन्ध-समिति, अध्यापक अथवा छात्रों का अधिक प्रभाव न हो क्योंकि ऐसी परिस्थिति से कुछ लोग अवांछनीय लाभ उठाते हैं। इस कारण इनकी नियुक्ति में प्रधानाध्यापक की इच्छा ही अन्तिम समझी जानी चाहिए।

इनके साथ व्यवहार

नियुक्ति के पश्चात् इनके साथ अत्यन्त सद्भावना और सहानुभूति का व्यवहार होना चाहिए। कर्मचारियों से किसी प्रकार की बेगार नहीं लेनी चाहिए। जिस काम के लिए उनकी नियुक्ति हुई है, वही काम उनसे लिया जाना चाहिए। जहाँ विद्यालय के अधिकारी कर्मचारियों से व्यक्तिगत काम लेते हैं,

वहाँ उनको चाहिए कि व्यक्तिगत कार्यों के लिए अलग पारिश्रमिक दे दें। ऐसा न होने पर कर्मचारी एक बहाना पा जाते हैं और अपने विद्यालय के कार्य में शिथिल हो जाते हैं। उनका प्रमुख कर्तव्य विद्यालय का वह कार्य है, जिसके लिए वे रखे गये हैं। यदि उस कार्य को अच्छी तरह से करने के बाद उनके पास समय और सामर्थ्य है, तो उन्हें व्यक्तिगत कार्य करके अपनी आय को बढ़ाने की सुविधा होनी चाहिए क्योंकि उनका वेतन कम होता है और उससे उनके परिवार का भरण-पोषण नहीं हो पाता।

विद्यालय के कर्मचारियों का प्रशिक्षण और परम्परा दोनों इस प्रकार के होने चाहिए कि वह अध्यापकों, छात्रों तथा सभी आगन्तुकों के साथ शिष्टता और नम्रता का व्यवहार करें। न तो उन्हें इतना सिर चढ़ा लेना चाहिये कि वे दूसरों के साथ अशिष्ट व्यवहार करें और न उनमें यह भावना होनी चाहिये कि वे प्रधानाध्यापक के विश्वासपात्र और कृपापात्र होने के नाते अन्य अध्यापकों और छात्रों की उपेक्षा कर सकते हैं। उनके साथ मानवोचित व्यवहार होना चाहिये, किन्तु विद्यालय के कार्य में किसी प्रकार की ढिलाई क्षम्य नही होनी चाहिए। कर्मचारियों के साथ कार्य के विषय में दृढ़ता और कठोरता का बर्ताव रखना उचित होता हैं। इसका लाभ यह होता है कि विद्यालय के कार्य में शिथिलता और उदासीनता नहीं आ पाती है। बुराई तब बढ़ती है, जब उनसे अवांछित बेगार ली जाती है। फिर वे विद्यालय के कार्य में अधिक महत्व व्यक्तिगत कामों को देने लगते हैं। अधिक ढीठ हो जाने पर वे प्रबन्ध-समिति के सदस्यों, अध्यापकों, छात्रों और विद्यालय की आलोचना भी करने लगते हैं, और जासूसों जैसे कार्यों में मन लगाने लगते हैं।

कुछ विद्यालयों में एक ही कर्मचारी हो सकता है अथवा कोई भी नहीं हो सकता है और कुछ में अनेक हो सकते हैं। यह विद्यालय की आवश्यकता, विशालता, स्तर और वित्तीय दशा पर निर्भर है वहाँ कि कितने कर्मचारी हों। कर्मचारी यदि एक से अधिक हैं तो प्रधानाध्यापक को सबके साथ समभाव रखना चाहिये। किसी एक को कृपापात्र बनाने से अन्यों की श्रद्धा कम हो जाती है और कर्मचारियों का पारस्परिक सद्भाव नष्ट हो जाता है। यदि आवश्यक समझा जाय तो कर्मचारियों के कार्य में अदल बदल करते रहना चाहिये। कर्मचारी कितने भी हों परन्तु यह आवश्यक है कि उनके साथ उचित और सम्मान का व्यवहार किया जाय। किसी अध्यापक और छात्र को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह कर्मचारियों को गाली दे अथवा उसे मार-पीट दे। उनकी स्थिति को हीनता की दृष्टि से न देखा जाना चाहिये और

न उन्हें यह अनुभव होने देना चाहिये कि कोई उनके सुख-दुख का साथी नहीं है। वह विद्यालय के आवश्यक और उपयोबी अंग है और उनकी उचित प्रतिष्ठा होने से उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी।

कार्यालय के कर्मचारी

विद्यालय के कर्मचारियों में सबसे महत्वपूर्ण कर्मचारी विद्यालय-कार्यालय के कर्मचारी है। कार्यालय किसी भी प्रधानाध्यापक का दाहिना हाथ होता है। उसे विद्यालय का हृदय भी कहा जा सकता है। विद्यालय के विभिन्न अंगों में सचालन की क्रिया यहीं से होती है। कार्यालय के कर्मचारियों का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। कार्यालय के क्लर्क (लिपिक) अत्यन्त योग्य और अनुभवी व्यक्ति होने चाहिये। उन्हें कार्यालय की कार्य-प्रणाली का सम्यक ज्ञान होना चाहिये। उन्हे कार्यालय के सभी कागज-पत्रों की जानकारी होनी चाहिये। उनके विद्यालय के आय-व्यय-रजिस्टरों विभिन्न फाइलों और अभिलेखों की जानकारी रखे बिना आवश्यकता पड़ने पर बहुत अधिक समय बिगड़ जाता है। ड्राफ्ट, ब्यौरा, पत्र-व्यवहार आदि का ज्ञान रखना भी उनके लिये आवश्यक है। शीघ्र-लिपि और टंकन का ज्ञान भी आधुनिक कार्यालयों के लिये अत्यधिक आवश्यक होगया है।

लिपिक-वर्ग के विषय में

कार्यालय के लिपिक-वर्ग को अत्यन्त विश्वसनीय होना अनिवार्य है। उनके हाथ में समस्त आय-व्यय का भार रहता है। यदि वे सच्चरित्र और ईमानदार न हुये, तो आर्थिक मामलों में गोलमाल कर सकते हैं। उत्तरदायित्व प्रधान का अवश्य रहता है, किन्तु उसे कार्यालय के प्रत्येक कार्य के विस्तार में जाना समयाभाव के कारण सम्भव नहीं है। वह अनेक प्रकार से और अनेक बातों के लिये कार्यालय के कर्मचारियों पर ही निर्भर रहता है। अनेक गोपनीय अभिलेख और पत्र-व्यवहार भी कार्यालय में ही रहते हैं। यदि क्लर्क किसी प्रधान को हानि पहुँचाना चाहे, तो गुप्त रीति से उसकी बड़ी हानिकर सकता है। पत्र-व्यवहार, ब्यौरा आदि समय से न भेजकर वह विद्यालय को भी कलंकित कर सकता है। इस कारण लिपिक-वर्ग का सम्पूर्ण सहयोग विद्यालय की उन्नति के लिये आवश्यक है। उसे विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उसमें अपने कर्तव्य के प्रतिपूर्ण आस्था होनी चाहिये और प्रधान के प्रति पूर्ण भक्ति। अभी भारत में विद्यालयों में कार्य करने वाले कर्मचारियों की दशा पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। विशेषतः लिपिक-वर्ग से जितना कार्य लिया जाता है और जितने ऊँचे नैतिक आदर्श की उनसे

आशा की जाती है, उस अनुपात मे उनको वेतन नहीं मिलता । यदि वह अपना और अपने परिवार का पेट नहीं भर सकते, तो उनके संतुष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता । यही कारण है कि कभी-कभी विद्यालयों में गबन, भ्रष्टाचार आदि के उदाहरण मिलते रहते है ।

पुस्तकाध्यक्ष

प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में पुस्तकालय का कार्य करने के लिये कोई अलग कर्मचारी नहीं होता । कोई अध्यापक ही इस कार्य को कर देता है । किन्तु उच्च स्तर के विद्यालयों में पुस्तकालयाध्यक्ष होते है । उनको भी उचित प्रशिक्षण-प्राप्त और अपने कार्य में दक्ष होना चाहिये । यह कार्य ऐसे ही व्यक्तियों को देना चाहिये जो शिष्ट हों, वास्तविक रूप मे पुस्तकों से प्रेम करते हों और आवश्यकता पड़ने पर छात्रो को पुस्तकों के चुनाव में सहायता दे सकते हों योग्य पुस्तकाध्यक्ष के रहने से अध्यापकों का काम बहुत सरल होजाता है ।

उपसंहार

अध्यापकों की तुलना में कर्मचारियो को साधन कहा गया है । किसी संस्था की अभीष्ट उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसके चेतन साधन अपने आपको साधन मात्र न समझकर साधकों का सहयोगी समझें । वस्तुत: वे चेतन होने के कारण सहयोगी ही अधिक होते है । ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है कि साधक अर्थात् शिक्षक उनके साथ ऐसा व्यवहार करें कि वे अपनी साधनता को भूल जाएं और अपने आपको साधकों का सहयोगी समझने में गौरव अनुभव करें । जहाँ साधकों और साधनों में खींचा-तानी मची रहेगी, वहाँ शान्ति और सुव्यवस्था रह ही नही सकती । कर्मचारियों को भी चाहिए कि वे अध्यापकों के प्रति आदर-बुद्धि रखें और व्यक्तिगत हित के स्थान पर समाज-हित का ध्यान रखते हुए अपना सर्वोत्तम सहयोग विद्यालय को प्रदान करें ।

अष्टम अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन--१

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; (१) प्रतिवेश (२) स्थल (३) विद्यालय-भवन—कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, सभा-भवन, शिक्षक-कक्ष, व्यायाम-शाला, शौचालय-मूत्रालय, कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष, क्रीड़ा-कक्ष आदि; इन सबके लिए साज-सज्जा—कक्षा-कक्ष, विषय–कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, अध्यापक-कक्ष, कार्यालय तथा प्रधानाध्यक-कक्ष; सामान्य; उपसंहार।

प्रस्तावना

विद्यालय के चेतन साधनों की चर्चा हो चुकी। अब हमें अचेतन साधनों पर विचार करना है। विद्यालय के अचेतन साधनों में उसके (१) प्रतिवेश, (२) स्थल, (३) विद्यालय-भवन—कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, सभा-भवन, शिक्षक-कक्ष, व्यायाम-शाला, शौचालय-मूत्रालय, कार्यालय, वस्तु-भंडार, क्रीड़ाक्षेत्र-कक्ष जलपान-गृह, (४) छात्रावास—निवास-कक्ष, शौचालय-मूत्रालय, स्नानागार, भोजनालय, उद्यान, क्रीड़ा-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, वस्तु-भंडार, (५) पाठ्यक्रम, (६) पाठ्यक्रम-सहगामिनी

क्रियाएं (७) समय-विभाग, (८) पर्यवेक्षण, (९) आचार-संहिता (१०) पुरस्कार एवं दण्ड विधान, (११) परम्पराएं, (१२) समाज-सम्पर्क, (१३) शिक्षक-क्लब, (१४) विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा-फरनीचर आदि, गिने जा सकते हैं। इन विभिन्न साधनों में से कतिपय का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) विद्यालय का प्रतिवेश

प्राचीन भारत में विद्यालय प्रकृति की गोद में रमणीय स्थानों पर, वन-उपवनों में, नदी के तट पर, पर्वत की सुरम्य घाटियो मे झरनों के पास, अथवा बस्ती के कोलाहल से दूर बनाये जाते थे। मध्यकालीन भारत में मन्दिरों और मसजिदों से संलग्न विद्यालय विकसित हुये। किन्तु कोई भी एक परम्परा सभी परिस्थितियों और कालों के लिये एक समान उपयोगी और मान्य नहीं हो सकती। परिवर्तन प्रकृति का अनिवार्य नियम है। आधुनिक काल में प्राचीन काल और मध्यकाल की परम्पराएं न तो उपयोगी हो सकती हैं और न सम्भव ही हैं। प्रकृति की गोद आज अत्यन्त संकुचित हो रही है। जनसंख्या की वृद्धि ने अनेक समस्यायें खड़ी कर दी है। रमणीय स्थलो का अभाव हो गया है। यदि कुछ विद्यालय सेसे स्थलों पर बनाये भी जाय तो, वहाँ छात्रों के लिये आवास की समस्या उठेगी। वहाँ की शिक्षा अधिक व्यय-साध्य होगी। पढ़ना-लिखना आधुनिक प्रजातन्त्र में सभी के लिये अनिवार्य हो रहा है। कितनों को इस प्रकार के विद्यालयों में मिल सकेगा ?

आज की परिस्थितियों में जो सम्भव है वही करना उत्तम होगा। यह निर्विवाद है कि विद्यालय का प्रतिवेश ऐसा अवश्य हो, जहाँ शान्तिमय वातावरण हो, स्वच्छता हो, और जो स्वास्थ्य के लिये उत्तम हो। गाँव में तो इस प्रकार के स्थल अब भी मिल जाते हैं किन्तु नगरों में विद्यालय के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। नगरों में खुले मैदान का अभाव होने के कारण उचित प्रकार के विद्यालयों का भी नितान्त अभाव है। आज अनेक विद्यालय सिनेमाघरों के समीप, फैक्टरियों और कारखानों के समीप, कोलाहलपूर्ण बाजारों के बीच, स्थित हैं। परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय है। बालक घरों से बहुत दूर जा नहीं सकते, हमारी निर्धनता हमें बाध्य करती है कि किसी प्रकार का भी पड़ोस हो किन्तु विद्यालय समीप ही हो ताकि बच्चा कम व्यय में शिक्षा प्राप्त कर सके। किन्तु शिक्षा पर इसका परिणाम भयानक पड़ रहा है। अश्लील गालियाँ, गन्दे गाने, विभिन्न प्रकार की अनुशासन-हीनता और दुर्गुण उत्पन्न करने वाला वातावरण राष्ट्र के भावी नागरिकों के जीवन को नष्ट कर रहे हैं। सरकार और जनता दोनों को इस पर ध्यान देना चाहिये।

यथा-सम्भव सभी प्रकार के प्रयत्न होने चाहिये कि विद्यालय का प्रतिवेश ऐसा हो जहाँ शिक्षा का कार्य निर्विघ्न चल सके और शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।

यदि अभाग्यवश कोई विद्यालय अवांछित पड़ोस में पड़ गया है है तो प्रधानाध्यापक, अध्यापक, और छात्रों को सम्मिलित रूप से समाज-सेवा द्वारा पास-पड़ोस को स्वच्छ, सुन्दर और स्वास्थ्यपूर्ण बनाने का सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। प्रचार और परिश्रम द्वारा इस दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है। मुहल्ले और पड़ोस के निवासियों का सहयोग प्राप्त कर विद्यालय के प्रतिवेश को सुधारा जा सकता है। नवीन विद्यालय खोलते समय इन बातों पर पहले से ही ध्यान देना उत्तम है।

(२) स्थल

विद्यालय स्थापित करने का आयोजन होने पर उसके लिये स्थल का चुनाव अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये। विद्यालय के लिये ऐसे भूमिखंड का चुनाव करना चाहिये, जो खुला हुआ हो, आस-पास की भूमि से कुछ ऊँचा और समतल हो और जिसके पास, गन्दे नाले और गड्ढे न हों, वर्षा का पानी जहाँ से सरलता से निकल जाता हो और जहाँ प्रकाश तथा स्वच्छ वायु का अभाव न हो। जहाँ तक सम्भव हो यह स्थल घनी बस्ती से बाहर किसी सड़क अथवा जनमार्ग से कुछ हटकर हो। वहाँ आने-जाने की सुविधा हो किन्तु मार्ग के कोलाहल और धूलगर्द से बचा रहे। स्थान इतना पर्याप्त हो जहाँ भवन, छात्रावास क्रीड़ाक्षेत्र आदि सुगमता से बनाए जा सके और जहाँ पीने के पानी की और घास के मैदान, उद्यान और वृक्षों के उगाने की सुविधा हो। नगर हो अथवा गाँव विद्यालय स्थल का चुनाव करते समय तीन प्रमुख बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। सर्व प्रथम स्थान स्वास्थ्यप्रद हो—अर्थात् शुद्ध वायु, प्रकाश, शुद्धजल, तथा व्यायाम और खेल कूद के लिये पर्याप्त मैदान वहाँ पर उपलब्ध हों और मच्छर, बीमारियों के कीटाणु, गन्दगी, धूल-धुँआ आदि के उत्पन्न होने की आशंका न हो। द्वितीय, वह स्थान सौन्दर्य-पूर्ण हो अर्थात् बालक के लिये वह स्थान आकर्षक हो, वहाँ आकर वह प्रसन्न हो उठे और उसमें किसी प्रकार की घुटन और ऊब न उत्पन्न हो। तृतीय, उपयोगिता की दृष्टि से स्थान उत्तम हो—अर्थात् विद्यालय की बागवानी, प्रकृति-अध्ययन आदि विभिन्न क्रियाओं के लिए वहाँ पर उपयोगी स्थान उपलब्ध हो।

सभी जगहों में विद्यालय के लिये आदर्श स्थल उपलब्ध नहीं हो सकते, विशेषकर शहरों के भीतर। हमारे पुराने शहर आयोजित रूप से विकसित

नहीं हुये है। बड़ी कठिनाई से विद्यालय के लिये, विशेषकर नये विद्यालय के लिये स्थान मिल पाता है। ऐसी परिस्थिति में भी विशेष प्रयत्न द्वारा प्रकाश और वायु का प्रबन्ध तो अवश्य ही उत्तम होना चाहिये। नगर-समतियों और सरकार को विशेष नियमों द्वारा विद्यालय का स्थल प्राप्त करवाना चाहिए। यदि स्थल पूर्णतः आदर्श न हो तो भी कुछ अंशों में तो उसे आदर्श होना ही चाहिये।

(३) विद्यालय-भवन

विद्यालय का प्रतिवेश और स्थल निश्चित हो जाने पर, उस स्थल पर विद्यालय-भवन के निर्माण का प्रश्न आता है। वर्तमान वास्तु-कला वहुत ही उन्नत हो चुकी है। विद्यालय-भवन निर्माण में भी आधुनिक वास्तुकला की सहायता ली जानी चाहिये। प्राचीन विद्यालय-भवन प्रायः बन्द शैली के निर्मित है। ठोस और चौकोर आकार के भवन जिनके बीच में प्रांगण रहता हैं प्राचीन शैली के द्योतक है। किन्तु आधुनिक काल में खुली शैली के भवन अधिक प्रचलित है। खुली शैली के भवन पाश्चात्य और अमेरिका के भवन-मिर्माण के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अंगरेजी के T, U, E, H और L अक्षरों के आकार के भवन अधिक पसन्द किये जाते हैं। भवन का आकार उपलब्ध स्थल पर भी निर्भर करता है। स्थल की लम्बाई चौड़ाई और आकार के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है कि किस आकार का भवन उस स्थल पर आकर्षक और कलात्मक बन सकेगा। विद्यालय-भवन मे सौन्दर्य और उपयोगिता दोनो ही का समन्वय होना चाहिये। किसी विशेषज्ञ से विद्यालय-भवन का नकशा बनवा लेना चाहिये।

विद्यालय-भवन के निर्माण से पूर्व कुछ अन्य बातों पर भी विचार कर लेना उचित है। विद्यालय-भवन का आकार और उसका क्षेत्रफल कितना हो, यह अनेक बातों पर निर्भर करता है। विद्यालय में कितने विषय पढ़ाये जाने हैं, छात्रों की सम्भावित संख्या क्या होगी, कितने कक्षों की आवश्यकता होगी, स्थानीय आवश्यकताएँ क्या है और भवन-निर्माण-सामग्री क्या और कैसे उपलब्ध होगी, इन सभी बातों पर विचार कर लेना उत्तम होगा। भवन का आकार निश्चित हो जाने पर भवन की उपयोगिता पर विशेष बल देना चाहिए। भवन में इतना स्थान होना चाहिए कि उसमें आवश्यक कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, संग्रहालय, वाचनालय, सभा-भवन, शिक्षक-कक्ष, व्यायामशाला, शौचालय, मूत्रालय, कार्यालय प्रधानाध्यापक-कक्ष, वस्तु-भण्डार, क्रीड़ा-कक्ष, जलपान-गृह, चिकित्सा-कक्ष आदि के लिए सुविधाजनक स्थान प्राप्त हो सकें।

विद्यालय-भवन यदि एक ही मंजिल का हो, तो अधिक सुविधाजनक रहता है। एक मंजिल के भवन में प्रकाश और वायु के लिए अधिक सुविधा रहती है। स्थानाभाव और विशेष परिस्थितियों मे ही विद्यालय-भवन दो मंजिलों का होना चाहिये। यदि भवन दो-मंजिला हो तो सीढ़ियाँ खूब चौड़ी और कम ऊँची होनी चाहिये। ऊपरी मजिल मे अधिक कोलाहल होने से निचली मंजिल में अध्ययन-कार्य में बाधा पड़ती है। सीढ़ियों पर बारम्बार आवागमन होने से भी बाधा पड़ती है। एक मंजिल की इमारत में दिन-भर प्रायः समान प्रकाश मिल सकता है और वायु का स्वच्छन्द आवागमन भी अधिक हो सकता है। मरम्मत और सफाई की दृष्टि से भी एक मंजिल का भवन उत्तम होता है। भवन सादा और दृढ़ बना होना चाहिये।

हमारा देश विशाल और इसकी जनसंख्या भी अधिक है। अभी सम्पूर्ण जनसख्या के विचार से शिक्षा की व्यवस्था भी पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में आदर्श विद्यालय-भवनों का देश मे नितान्त अभाव है। भवन-निर्माण के लिये पर्याप्त धनराशि का अभाव रहता है। किन्तु क्रमशः इस दिशा में सरकार और जनता का ध्यान अधिक बढ़ रहा है। धनाभाव के कारण उचित प्रकार के भवन नहीं बन पाये हैं। फिर लम्बी चौड़ी आदर्श की बातें केवल सिद्धान्त रूप में रखने से कोई लाभ नहीं है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम यथार्थवादी बने। परिस्थितियों के अनुसार जो सर्वोत्तम हो वही करना उचित है। यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि समस्त देश के विद्यालय एक ही नमूने के बने हों। विशाल देश के विभिन्न भागो में जलवायु की विभिन्नता पाई जाती है। जिस भाग मे जैसी परिस्थिति और आवश्यकता हो, उसी के अनुसार विद्यालय-भवन बनाये जाने चाहिये। इनके निर्माण में "कम खर्च, बाला नशी" की उक्ति का प्रयोग करना चाहिये। भवन सादा दृढ़, उपयोगी, स्वच्छ और आकर्षक होना चाहिये। उसमें वृद्धि की गुंजायश भी रखनी चाहिए।

कक्षा-कक्ष

विद्यालय में जितनी कक्षाएँ हों, उतने कक्षा-कक्ष होने चाहिये। कितनी कक्षाएँ हों इसका अनुमान पहले से कर लेना उचित है। वैसे आवश्यकतानुसार बाद में आवश्यकता अनुभव होने पर भी बढ़ाये जा सकते हैं। प्रत्येक कक्षा में कितने छात्र होंगे इसका भी अनुमान कर लेना उत्तम है। उसके अनुसार ही कक्षा-कक्ष बनवाने चाहिये। यदि छात्रों की अनुमानित संख्या कक्षा में ४० से ५० तक हो तो उस कक्षा-कक्ष की लम्बाई चौड़ाई ३०' × २४' होनी चाहिये। कक्ष की लम्बाई और चौड़ाई में ५:४ का अनुपात होना उत्तम है। प्रत्येक छात्र के लिये कम से कम १० वर्ग फीट

स्थान कक्ष में होना चाहिये। श्याम पट्ट को दीवाल में ही बनवा देना अधिक उत्तम है। अध्यापक की मेज और कुर्सी के लिये एक उठा हुआ प्लेटफार्म हो तो अच्छा है। छत की ऊँचाई १५ या १६ फीट से कम नहीं होनी चाहिये। ऐसा होने से उसमें प्रकाश और वायु सरलता से पहुँच सकेंगे। कक्ष में दो अथवा दो से अधिक दरवाजे ६ से ७ फीट तक ऊँचे और ३।। से ४ फीट तक चौड़े होने चाहिये। खिड़कियाँ पर्याप्त होनी चाहिये और वे फर्श से ३।।' से ४' तक की ऊँचाई पर हों तो सुविधा रहेगी। खिड़कियाँ इस प्रकार बनाई जायँ कि उनसे कक्ष में पर्याप्त प्रकाश पहुँच सके और स्वच्छ वायु निर्बाध आती जाती रहे। उनकी बनावट इस प्रकार हो कि आवश्यकतानुसार प्रकाश और वायु की मात्रा नियन्त्रित की जा सके। जहाँ धूल, गर्द और वायु अधिक चलती हों, वहाँ पर्दों अथवा जालियों का प्रबन्ध होना चाहिये। खिड़कियों के अतिरिक्त कक्ष मे रोशनदान का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये। रोशनदान की संख्या कक्ष की आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। इनमें जालियाँ लगी हों तो अति उत्तम है। जब तक कोई विशेष बात न हो, तब तक अध्यापन-काल में कक्ष की समस्त खिड़कियाँ और रोशनदान खुले होने चाहिये। कक्ष की बनावट इस प्रकार की हो कि छात्रों को अध्ययन-काल में बाईं ओर से प्रकाश मिले। सामने और पीछे से प्रकाश का प्रबन्ध कभी नहीं होना चाहिये; इसका प्रभाव छात्रों की आँखों पर पड़ता है और उनकी दृष्टि कमजोर हो जाती है। यदि कभी प्राकृतिक कारणों से कक्ष मे प्रकाश और वायु की कमी ज्ञात हो, तो बाहर खुले में अध्यापन-कार्य किया जा सकता है।

कक्षा-कक्ष सुन्दर और सुरुचिपूर्ण होना चाहिये। कुछ विद्यालयों में अनावश्यक रूप से कक्ष की दीवालों को भड़कीले और अनावश्यक चित्रों से ढक दिया जाता है। यह ठीक नहीं है। यदि दीवालों पर चित्रकारी अथवा कुछ वाक्यों का लिखना आवश्यक समझा जाय, तो यह कार्य अत्यन्त कलात्मक भावना से किया जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि छात्रों को कक्षा-कक्ष में अधिक समय तक बैठना पड़ता है। आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण सज्जा से सज्जित कक्ष छात्रों को सजीव बनाये रखेगा और असुन्दर और तड़क कक्ष छात्रों में बेचैनी और ऊब उत्पन्न कर देगा। कक्ष की भीतरी दीवालें सफेद पुती हुई हों तो उत्तम है। यदि कोई रङ्ग बाहर दिया भी जाय तो हलका रङ्ग होना चाहिये। हरा, तूतिया, पीला अथवा जोगिया रङ्ग अच्छा होता है। किसी लकड़ी की पटरी पर अथवा दीवाल में लगे स्लेट के टुकड़े पर कक्षा का नाम, छात्रों की संख्या और उनकी उपस्थित लिखकर रखना उपयोगी होता है। कक्ष के दरबाजे के पास इसकी व्यवस्था भी रखी जानी चाहिए।

विषय-कक्ष

विद्यालय में विभिन्न प्रमुख विषयों के लिए भिन्न-भिन्न कक्ष होने आवश्यक हैं। विज्ञान, कृषि, भूगोल, इतिहास, कला-कौशल, गृह-विज्ञान और संगीत आदि विषयों के लिए अलग-अलग कक्ष होने चाहिए। विषय-कक्ष का आकार और बनावट विषय की आवश्यकता के अनुसार होने चाहिए। इनमें इतना स्थान हो कि उस विषय से सम्बंधित सब वस्तुएँ उसमें सुरक्षित रखी जा सकें और विद्यार्थी तथा अध्यापक अच्छी तरह से बैठ सकें। विज्ञान और भूगोलकक्षों के लिये अधिक प्रकाश और स्थान की आवश्यकता होती है। अतः यदि इन कक्षों को भवन के सिरों पर बनाया जाय तो अच्छा है। जैसे यदि E आकार का भवन है, तो E के एक सिरे पर विज्ञान-कक्ष हो और दूसरी ओर भूगोल-कक्ष। प्रयोगात्मक कार्य, निरीक्षण और परीक्षण के लिए खुली जगह की आवश्यकता हो सकती है। सिरों पर होने से ये क्रियाएँ अच्छी तरह से की जा सकती हैं। इन कक्षों में प्रदर्शन के लिये कुछ स्थायी बड़ी मेजें लगी होनी चाहिए। बैठने के लिए यदि थियेटरनुमा प्रबन्ध हो सके, तो उत्तम होगा क्योंकि छात्र किये जाने वाले प्रयोग प्रदर्शन आदि का सरलता से निरीक्षण कर सकेंगे। इन विषयों में श्रव्य-दृश्य अध्यापन-सामग्री भी अधिक होती है। उनको रखने के लिये दीवालों के सहारे कुछ अलमारियाँ होनी चाहिए। कला-कक्ष भी विज्ञान और भूगोल कक्षों की तरह से साधारण कक्षों से बड़े होने चाहिए। विषय-कक्षों के निर्माण मे यदि आरंभ में ही सावधानी बरती जाय, तो बाद में कठिनाई नहीं होगी और न तोड़फोड़ की आवश्यकता ही पड़ेगी। विषय-कक्ष यदि विषय-विशेष के अध्यापन में सहायक नहीं है, तो केवल नाममात्र के लिए एक कक्ष का नामकरण कर देना व्यर्थ है। इन कक्षों की उचित और आवश्यक साज-सजा का वर्णन हम अन्यत्र करेंगे।

पुस्तकालय

किसी भी विद्यालय का पुस्तकालय उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग है। आधुनिक युग में यदि विद्यालय स्वाध्याय की सुविधा और प्रोत्साहन न दे सकें, तो शिक्षा का उद्देश्य अधूरा ही रहेगा अतः पुस्तकालय-कक्ष की योजना भवन-निर्माण-योजना में अवश्य ही सम्मिलित होनी चाहिए। पुस्तकालय-कक्ष विद्यालय के केन्द्र में स्थित होना चाहिए। कक्ष बड़ा, ऊँचा, स्वच्छ और अत्यन्त आकर्षक होना चाहिए। इसमें पर्याप्त दरवाजों, खिड़कियों और रोशनदानों की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रकाश और वायु की पर्याप्त मात्रा इसमें उपलब्ध होनी चाहिये। स्थान इतना पर्याप्त हो कि पुस्तकों

की आलमारियाँ रखने के बाद भी उसमें पर्याप्त स्थान बचा रहे। यदि पुस्तकालय और वाचनालय भिन्न-भिन्न कमरों में हों तो उत्तम है किन्तु यदि ऐसी व्यवस्था न हो, तो पुस्तकालय में कुछ बड़ी मेजों का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि उन पर पत्र, पत्रिकाएँ और अन्य पाठ्य सामग्री रखी जा सके। यह कक्ष अन्य कक्षों से कुछ अलग हो,तो उत्तम है। इसे शान्त वातावरण अपेक्षित है। यहाँ बैठकर छात्र और अध्यापक शान्ति के साथ कुछ पढ़ सकें, इसका विशेष विचार होना चाहिए। अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे विद्यालयों में अभी तक पुस्तकालय का महत्व नहीं समझा गया है। पुस्तकालय-कक्ष और वाचनालय की व्यवस्था बहुत कम विद्यालयों में उचित प्रकार की होती है। साधारणतया किसी भी कक्ष को पुस्तकालय बना दिया जाता है। दो चार आलमारियों की जगह कहीं भी निकाल ली जाती है और उसे पुस्तकालय का नाम दे दिया जाता है। न तो उसमें पुस्तकों के रखने की व्यवस्था होती है और न वहाँ बैठ कर पढने की व्यवस्था। कुछ विद्यार्थी पुस्तकें ले जाते हैं और फिर घर से वापस लाकर जमा कर देते हैं। इसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है।

वाचनालय

प्रत्येक विद्यालय में पुस्तकालय के साथ वाचनालय भी होना चाहिए। वाचनालय के दो विभाग होने चाहिए। एक भाग में कुछ कुर्सियाँ तथा मेजें पड़ी रहें, जिन पर बैठकर छात्र पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर स्वाध्याय कर सकें। दूसरे भाग में समाचार-पत्र, विचारपत्र तथा पत्रिकाओं के पढ़ने की व्यवस्था होनी चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं के चुनाव में छात्रोपयोगिता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्हीं-कन्हीं संस्थाओं में प्रधानाध्यापक तथा अध्यापक अपनी-अपनी रुचि की पत्रिकाएँ मँगाकर वाचनालय में रखवा देते हैं। वे छात्रों के लिए बेकार होती हैं अतः उनकी वाचनालय में अरुचि हो जाती है। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं के चुनाव में विविधता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। उसमें विद्यालय में पढ़ाए जाने वाले प्रत्येक विषय से सम्बद्ध पत्र-पत्रिकाएँ आनी चाहिए। इस कार्य के लिए विषयाध्यापकों तथा छात्रों की एक समिति रहनी चाहिए जो समय-समय पर अपनी सलाह देती रहें। अश्लीलतापूर्ण तथा दलबन्दी को प्रोत्साहित करनेवाली पत्र-पत्रिकाओं को उसमें घुसने भी नहीं देना चाहिए। वाचनालय में पत्र-पत्रिकाओं के चुनाव से संस्था के अध्यापकों की अभिरुचियों तथा सांस्कृतिक स्तर को बहुत अच्छी तरह आँका जा सकता है।

संग्रहालय

यदि विद्यालय में एक संग्रहालय की जगह रखी जाय तो इससे बहुत

लाभ होगा। इसका कक्ष इस प्रकार का बना हो, जहाँ अनेक प्रकार की वस्तुओं को संग्रहीत करके रखा जा सके। कुछ आलमारियाँ कक्ष की दीवालों में बनी हुई हों और कुछ आलमारी और रैक अलग से होने चाहिये। इस कक्ष में दीमक, सीलन और कीड़ों-मकोड़ों से बचाव का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे वस्तुएँ सुरक्षित रह सकें। शीशे की आलमारियाँ हों, तो अत्यन्त उत्तम है। कक्ष की बनावट विशेष प्रकार की रखी जा सकती है जिससे अनेक वस्तुओं के संग्रह के लिये उचित स्थान भी निकल सके और छात्रों को देखने के लिये कक्ष के चारों ओर मार्ग भी बना रह सके। विशेष-विशेष प्रकार की वस्तुओं का स्थान निश्चित होना चाहिये और उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये।

सभा-भवन

प्रत्येक विद्यालय में एक समा-भवन की व्यवस्था होना आवश्यक है। इससे अनेक लाभ होते हैं। सभा-भवन में विद्यालय की सामूहिक प्रार्थना, पर्व, उत्सव, सभा, नाटक, रेडियो-श्रवण तथा चल-चित्र-प्रदर्शन आदि का आयोजन हो सकता है। आवश्यकता होने पर इसमें कक्षाएँ भी लगाई जा सकती हैं। सभा-भवन विभिन्न खंडों के बीच में स्थित हो तो अच्छा है जैसे E आकार के भवन में बीच के भाग में समा-भवन हो। भवन-निर्माण के समय ही समा-भवन के आकार-प्रकार पर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। इसमें इतना क्षेत्रफल हो कि आवश्यकता के समय विद्यालय के समस्त छात्र और अध्यापक एकत्रित हो सकें अथवा बैठ सकें। हाल अथवा समाभवन सादा किन्तु कलात्मक होना चाहिये। इसे सुरुचि से सजाया जाना चाहिये। यह विद्यालय की अनेक गति-विधियों और क्रियाओं का केन्द्र होता है अतः इसकी सजावट भी विशेष सावधानी से होनी चाहिये। यदि विद्यालय-भवन दो मंजिलों का हो तो समा-भवन के ऊपर दूसरी मंजिल न होकर उसकी छत ऊंची होनी चाहिये और ऊपरी मंजिल में चारों ओर गलियारे होने चाहिये, जिससे विशेष अवसरों पर वहाँ बैठकर भी समा-भवन में होने वाले उत्सवों को देखा जा सके। समा-भवन के आकार के अनुरूप उसमें पर्याप्त दरवाजे, खिड़कियाँ और बड़े रोशनदान होने चाहिये। सभा-भवन, साधारण विद्यालयों के लिये कम से कम ४०′ × ६०′ होना चाहिये।

शिक्षक-कक्ष

विद्यालय में एक कक्ष ऐसा भी होना चाहिये, जहाँ विद्यालय के अध्यापक विश्राम के घंटे में बैठ सकें और वहाँ बैठकर विश्राम कर सकें अथवा कुछ कुछ कार्य कर सकें। यह कक्ष विद्यालय के किसी कोने में शान्त वातावरण में होना चाहिए, जहाँ छात्रों का अधिक आवागमन न हो। इसमें इतना पर्याप्त

स्थान होना चाहिए कि शिक्षकों को अपने कागज-पत्र रखने तथा आराम से बैठने की सुविधा हो।

व्यायाम-शाला

विद्यालय के मुख्य भवन से कुछ दूरी पर निर्मित होनी चाहिये। इसमें ऊपर छत हो किन्तु नीचे का भाग अधिक से अधिक खुला हुआ हो। छात्रों की संख्या के अनुपात से इसमें इतना स्थान हो कि इसमें व्यायाम-सम्बन्धी साधनों को भली प्रकार रखा जासके। इसमें अखाडे और विभिन्न यंत्रों का होना आवश्यक है ताकि छात्र अपनी रुचि के अनुसार इसमें व्यायाम के साधनों का उपयोग कर सकें। अधिक शीत और वर्षा, में वायु से बचने की व्यवस्था होनी भी अनिवार्य है। यह ऐसे स्थान पर हो जहाँ किसी प्रकार की गंदगी न पाई जावे वर्ना लाभ के स्थान पर हानि पहुँच सकती है। इसमें सभी प्रकार के देशी-विदेशी व्यायाम-साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

शौचालय-मूत्रालय

प्रत्येक विद्यालय में छात्रों की संख्या के अनुपात से शौचालय और मूत्रालयों का होना अत्यन्त आवश्यक है। ये विद्यालय के मुख्य भवन से कुछ दूर किसी कोने में हों तो उत्तम है। नगरों में आधुनिक प्रकार के शौचालय और मूत्रालय-जिनमें पानी निरन्तर बहाया जा सके, यदि हों तो अच्छा है। यदि ऐसी व्यवस्था न हो सके तो शौचालय का मुख इस प्रकार से हो कि उसे ढका जा सके ताकि उन पर मक्खियाँ न बैठें। इनकी सफाई पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। विद्यालय में प्रत्येक १०० छात्रों के लिये एक शौचालय और दो मूत्रालय होने चाहिये। अभी हमारे देश में इन बातों पर कम ध्यान दिया गया है। फलस्वरूप विद्यालय का परिक्षेत्र और उसकी दीवालों के पीछे का भाग सदैव गंदा बना रहता है। छात्र किसी भी स्थान से मूत्रालय का काम चला लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर विद्यालय के आसपास कहीं शौच भी हो आते हैं। इन बातों से गंदगी बढ़ती है और विद्यालय का वातावरण दूषित हो जाता है।

कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष

विद्यालय के प्रवेश-द्वार के पास प्रधानाध्यापक-कक्ष और विद्यालय का कार्यालय होने चाहिए। इन दोनों को अत्यन्त निकट सटा हुआ होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को कार्यालय का बहुत सा काम देखना होता है। किसी समय आवश्यकता पड़ने पर वह कार्यालय से कोई कागज अथवा फाइल माँग सकें, इसकी सुविधा होनी चाहिए और वह इस प्रकार का बना होना चाहिए कि उसमें विभिन्न रजिस्टर, कागजात, फाइलें

आदि सुरक्षित रखे जा सकें। दीवालों में आलमारियाँ बनी हों और पत्थरों के टांड लगे हों, जिन पर कागजात रखे जा सकें और वे दीमक तथा कीड़ों से सुरक्षित रह सकें। कार्यालय-कक्ष का एक द्वार प्रधानाचार्य के कक्ष से उसे मिलाता हो और दूसरा अन्य ओर को हो, जिधर से दूसरे लोग कार्यालय में प्रवेश कर सकें। एक ओर को काउंटर बना चाहिए, जिसमें होकर छात्रों की फीस आदि जमा की जा सके। प्रधानाचार्य के पास बहुत से अभिभावक तथा अन्य लोग आते जाते रहते हैं इसलिए ये स्थान (कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष) ऐसी स्थिति में हों कि सभी लोग सरलता से पहुँच सकें और उनके आवागमन से कक्षाओं के अध्यापन कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

क्रीड़ा-कक्ष आदि

इनके अतिरिक्त मुख्य विद्यालय-भवन से अलग अथवा उसके किसी एक ओर क्रीड़ाकक्ष, वस्तु-भंडार, जलपान-गृह, चिकित्सा-कक्ष आदि की व्यवस्था भी होनी चाहिये। इनका आकार-प्रकार छात्रों की संख्या और सुविधा के विचार से होने चाहिये। किन्तु प्रत्येक के निर्माण में वातावरण की स्वच्छता तथा वायु और प्रकाश की उपलब्धि का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) इन सबके लिये आवश्यक साज-सज्जा

ऊपर हमने विद्यालय-भवन और उसके विभिन्न कक्षों के विषय में विचार किया है। किन्तु केवल भवन और उसमें अनेक कक्ष बनवा देने से ही तो विद्यालय का मन्तव्य पूरा नहीं होता है। इन विभिन्न कक्षों के लिये उचित और आवश्यक साज-सज्जा का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। साज-सज्जा इस प्रकार की होनी चाहिये जो विद्यालय के शिक्षा-उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो। हमारे देश में शिक्षा के लिये अभी पर्याप्त धन नहीं उपलब्ध हो पाता है अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे विद्यालयों की साज-सज्जा व्यय-साध्य न होते हुये भी उपयोगी और सुरुचिपूर्ण हो। नीचे हम विभिन्न कक्षों की साज-सज्जा पर विचार करेंगे।

कक्षा-कक्ष

कक्षा-कक्ष की आवश्यक साजसज्जा में श्यामपट्ट, कुर्सी, मेज, डेस्क, बैंच, और आलमारी आदि आते हैं। कक्षाकक्ष की साज-सज्जा उसमें बैठने वाले छात्रों की आयु और कद के अनुसार होनी चाहिये। अनुपयुक्त साज-सज्जा से छात्रों की मानसिक, नैतिक और शारीरिक हानियाँ होती हैं। प्रत्येक कक्षा की साज-सज्जा औसत आयु-वर्ग के अनुसार रखने का प्रयत्न करना चाहिये। एक ही प्रकार का फर्नीचर सभी छात्रों के लिये लाभप्रद नहीं हो सकता है।

श्यामपट्ट

प्रत्येक कक्षा में श्यामपट्ट का होना आवश्यक है। श्यामपट्ट अध्यापक का अनन्य साथी है। अध्यापक की आधी से अधिक क्रियाएँ श्यामपट्ट के सहयोग से ही पूर्ण की जाती है। श्यामपट्ट की स्थिति कक्षा में इस प्रकार की हो कि कक्षा के समस्त छात्र उस पर की लिखावट को ठीक प्रकार से पढ़ सकें। सबसे पिछली सीटों पर बैठे छात्रों के लिये भी श्यामपट्ट लेख पढ़ना सुगम होना चाहिये। श्यामपट्ट अध्यापक की सीट के समीप होना चाहिये, जिससे वह सरलता से उसका प्रयोग कर सके। आधुनिक श्यामपट्ट चार प्रकार के बनाये जा सकते हैं—(१) दीवाल में सीमेंट के स्थायी श्यामपट्ट, (२) sliding अथवा सरकौवा श्यामपट्ट, जिसमें दो भाग होते हैं। (३) लकड़ी के स्टैण्ड पर रखे जाने वाले श्यामपट्ट और (४) रोलअप ब्लैक बोर्ड।

सीमेंट के श्यामपट्ट दीवाल में ही बनाये जा सकते है। इनका आकार बड़ा होना चाहिये, ये सीधे-सपाट भी हो सकते हैं और ढलवाँ भी हो सकते हैं। इनकी बनावट इस प्रकार की होनी चाहिये कि उन पर चमक न पड़े। इस प्रकार के श्यामपट्ट स्थायी होते हैं और अधिक सुविधापूर्ण भी हो सकते हैं। किन्तु गणित और विज्ञान जैसे विषयों के लिये ये अनुपयुक्त होते हैं क्योंकि इनको ऊपर नीचे नहीं किया जा सकता है। फिर भी व्यय और स्थान की मितव्ययता के कारण ये श्यामपट्ट अधिक अच्छे माने जाते हैं।

सरकौवा (sliding) श्यामपट्टों में दो-दो पट्ट होते हैं। इनको दीवाल में इस प्रकार लगा दिया जाता है कि वे डोरी अथवा तार द्वारा सरलता से ऊपर-नीचे सरकाये जा सकें। एक पट्ट पर पूरा लिखने के बाद उसे ऊपर सरका दिया जाता है और दूसरे पर लिखना आरम्भ कर दिया जाता है। गणित और विज्ञान में आवश्यकतानुसार एक पर प्रमुख हल किया जा सकता है और दूसरे पर गुणा भाग आदि हो सकता है अथवा लम्बे प्रश्नों को हल करने के लिए दोनों का प्रयोग किया जाता है।

लकड़ी या तिपाई के आधार पर रखा हुआ श्यामपट्ट आवश्यकतानुसार हटाया जा सकता है और उसके स्थान का परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु ये कक्षा में अधिक स्थान घेरते हैं और बालकों के आने जाने में बाधा उपस्थित कर सकते हैं। इनके शीघ्र टूटने और खराब होने की भी सम्भावना अधिक रहती है। फिर भी अधिक सुविधाजनक होने के कारण इनका प्रचलन अधिक है।

रोलअप ब्लैकबोर्ड कपड़े अथवा रबर के बने होते हैं और इनको लपेट कर रखा जा सकता है। दीवाल में कीलें लगा कर अथवा किसी स्टैंड पर

लगाकर इनका प्रयोग किया जा सकता है और फिर बन्द करके इनको अलग रखा जा सकता है। इनमें से किसी भी प्रकार का श्यामपट्ट हो किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से उनमें कुछ बातों का होना आवश्यक है :—

(१) इनका रंग गहरा काला हो और धरातल कुछ खुरदरा हो ताकि इनमें चमक न पैदा हो। (२) इन्हें सरलता से साफ किया जा सके अथवा धोया जा सके। (३) स्थिति ऐसी हो कि कक्षा के प्रत्येक छात्र को उसकी लिखावट अच्छी तरह से पढ़ने में आ जाय।

श्यामपट्ट के आकार के विषय में विद्वानों की सलाह है कि सीमेंट के और स्लाइडिंग श्यामपट्टों का आकार ६'×४' होना चाहिए और शेष दो प्रकार का ५'×४'। कपड़े और रबर के श्यामपट्ट काले, हरे, नीले, भूरे रंगों के भी होते हैं।

श्यामपट्ट की लिखावट को मिटाते रहने के लिए या तो गीले कपड़े का झाड़न (Duster) होना चाहिए अथवा लकड़ी का बना हुआ डस्टर जिसमें गद्देदार (फेल्ट) कपड़ा लगा हो। श्यामपट्ट पर चाक की धूल जमा होती रहती है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह धूल उड़-उड़ कर छात्रों और अध्यापकों की नाकों में न जाती रहे। इससे बड़ी हानि उठानी पड़ती है। श्यामपट्ट इस प्रकार साफ किया जाना चाहिए कि धूल न उड़े। चाक भी उत्तम प्रकार का होना चाहिए जिससे लिखना श्यामपट्ट पर सरल हो। श्यामपट्ट, झाड़न, चाक सदैव स्वच्छता से रखे जाने चाहिए।

बैठने का फरनीचर—प्रत्येक कक्षा-कक्ष में छात्रों के बैठने का उपयुक्त सामान होना चाहिए। प्राइमरी विद्यालयों में घनाभाव के कारण बैठने के लिए टाट की पट्टियाँ होती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से इनको उचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु परिस्थितियों के अनुसार इनका रखना अनिवार्य-सा हो रहा है। इनकी सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए जिससे उनमें धूल-गर्द न जमा हो। टाट की सीटें आसन के समान अलग-अलग हो सकती हैं अथवा चार सीटों की मिली हो सकती हैं। इन पर बैठ कर लिखने में कठिनाई होती है अतः यदि सीटों के सामने छोटे-छोटे डेस्क या ढलवाँ चौकियाँ, हों तो उत्तम है। टाटों पर बच्चों को सीधे बैठना चाहिए, अधिक झुककर बैठने से उनकी रीढ़ की हड्डी झुक जाती हैं। अगर डेस्क न हों, तो बायें घुटने को नीचे रखना चाहिए और दाहिने को ऊपर उठा कर उस पर रखकर लिखना चाहिए।

माध्यमिक और उच्च विद्यालयों में डेस्कें, बैंचें, कुर्सियाँ और मेजें होती हैं। ये साफ अच्छी पालिश की और मजबूत बनी होनी चाहिये। बैंचों और कुर्सियों

में पीछे की ओर सहारे के लिए पट्टी होनी चाहिये। ये पट्टियाँ इस प्रकार की होनी चाहिये कि छात्र उन पर पीठ टेक कर सीधे बैठ सकें। रीढ़ की हड्डी का झुकाव पट्टियों का सहारा लेने पर १५०° से अधिक नहीं होना चाहिये। कुर्सियाँ और बेंचें छात्रों के कद के अनुसार बनी हों। उनकी ऊँचाई इतनी होनी चाहिये कि उन पर बैठने पर छात्रों के घुटने समकोण बनावें और उनके पैर पृथ्वी तक पहुँच जायँ। कुर्सी हो अथवा बेंच उसकी उचित उपयोगिता इसी में है कि छात्र उन पर आराम के साथ सीधे बैठ सकें और अधिक झुकने से उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

मेजों और डेस्कों दोनों ही का प्रयोग हो सकता है। अधिक ऊँची कक्षाओं में चौरस मेज अधिक उपयोगी हो सकती है किन्तु माध्यममिक कक्षाओं तक डेस्कें ही अधिक उपयोगी होती हैं। इनका आकार भी छात्रों की आयु और कद के अनुसार ही होना चाहिये। डेस्क का ऊपरी भाग चौरस होना चाहिये। इनके दाहिनी ओर स्याही का पात्र लगा दिया जाय अथवा ऐसा छिद्र बना दिया जाय जिसमें स्याही का पात्र ठीक बैठ जाय। इनका भीतरी तल छात्र के घुटनों की ऊँचाई को छूता हुआ होना चाहिये ताकि कुर्सी अथवा बेंच पर बैठने के बाद घुटने डेस्क के भीतरी किनारे की सीध में रहें। इनका अगला भाग छात्र के सीने की सीध में होना चाहिये, जिससे लिखते समय अधिक झुकना न पड़े। प्रत्येक डेस्क अलग-अलग हो तो उत्तम हैं। किन्तु यह अधिक व्यय-साध्य पड़ता है अतः दो डेस्क मिला हुआ भी बनाया जाता है। इन पर दो विद्यार्थियों को बैठने का प्रबन्ध होता है। कहीं-कही दो से अधिक डेस्क भी एक साथ ही जुड़े रहते हैं और उनके पीछे बैठने के लिए बड़ी-बड़ी बेंचे डाल दी जाती हैं। किन्तु दो से अधिक संयुक्त डेस्क असुविधाजनक होते हैं। डेस्क और बैठने की सीट भी कहीं-कहीं जुड़ी हुई रहती हैं किन्तु यह अधिक उत्तम नहीं कही जा सकती। सर्वोत्तम यह है कि डेस्क और बैठने की सीट अलग-अलग हों और बैठने पर डेस्क पर रखी पुस्तिका अथवा कापी छात्र की आँखों से १ या १½ फुट की दूरी पर हो। आवश्यकतानुसार छोटी बड़ी सीटों को बदल देना चाहिये।

बैठने का प्रबन्ध—डेस्क अथवा मेज की पंक्तियाँ खिड़की वाली दीवार के साथ समकोण बनाती हुई लगानी चाहिये ताकि उन पर प्रकाश अच्छी तरह से आ सके। प्रत्येक छात्र के लिए कम से कम १५ वर्ग फीट बैठने की जगह होनी चाहिये। सीट की पंक्तियों के बीच कम से कम १८ इंच का अन्तर होना चाहिये ताकि कक्षा में आने-जाने में अथवा अध्यापक को निरीक्षण करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। कक्षा में छात्रों की अधिक-

तम संख्या ४० होनी चाहिये और सीट की पंक्तियाँ ६ या ७ से अधिक न होनी चाहिये। अध्यापक की सीट. छात्रों के सम्मुख बीच वाले भाग में बीचों-बीच होनी चाहिये और यदि वह कुछ ऊँचाई परहो तो अधिक उत्तम है।

कक्षा में बैठने का प्रबन्ध करना अध्यापक का कर्तव्य है। प्रबन्ध में सुरुचि और कला होनी चाहिये। डेस्कों और बेंचों की पंक्तियाँ सीधी होनी चाहिए और उनके बीच अपेक्षित अन्तर रहना चाहिये। छात्रों के बैठने की स्थिति पर सदैव ध्यान देना चाहिये, विशेष कर छोटी कक्षाओं में। छात्रों को सीधे बैठने और खड़े होने का अभ्यास होना चाहिए। डेस्क पर आगे अधिक झुके रहने से रीढ़ की हड्डी पर बल पड़ता है और वह टेढ़ी पड़ जाती है। बैठने की स्थिति उचित न होने से शारीरिक विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और थकावट शीघ्र ही मालूम होने लगती है, जिससे छात्र अध्ययन में उचित ध्यान नहीं दे पाते हैं। इनसे बचने के लिए उचित सीटों का होना आवश्यक है।

कक्षा-कक्ष में कुछ आलमारियाँ भी होनी चाहिये। एक आलमारी कक्षाध्यापक के लिए हो, तो उत्तम है। इसमें अध्यापक अपनी पुस्तकें, कापियाँ, चाक. डस्टर तथा दावात आदि वस्तुएँ रख सकता है। अन्य आलमारियों में छात्रों की कापियाँ, दवात आदि रखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं छात्रों के लिखने की सब सामग्री कक्षा-कक्ष में ही रख दी जाती है और लिखते समय निकाल ली जाती है। यदि कक्षा-कक्ष में एक आलमारी में शीशे लगे हों, तो उसमें कक्षा की सामूहिक सम्पत्ति जैसे जीते हुए पदक, शील्ड, अथवा माडल आदि रखे जा सकते हैं। इससे कक्षा के विद्यार्थियों में गौरव और आत्मसम्मान की भावना बढ़ती है। आलमारियाँ दीवार में बनी होनी चाहिये जिससे वे अधिक स्थान न घेर सकें।

विषय-कक्ष

विषय-कक्षों की साज-सज्जा और कक्षा-कक्ष की साज-सज्जा में कुछ अन्तर होता है। प्रत्येक विषय-कक्ष की अपनी विशेषताएँ और आवश्यकताएँ होती हैं अतः इनकी साज-सज्जा विशेष प्रकार की होनी चाहिये। हम ऊपर लिख आये हैं कि विद्यालय में विज्ञान, कृषि, भूगोल, इतिहास, कला-कौशल, गृह विज्ञान तथा सङ्गीत आदि विषयों के लिये अलग-अलग कक्षों की आवश्यकता होती है। इन कक्षों की साज-सज्जा उन विषयों के अनुकूल ही होनी चाहिये।

विज्ञान-कक्ष—विज्ञान-कक्ष में साज-सज्जा इस प्रकार की होनी चाहिये कि उसका वातावरण छात्रों को विज्ञान की ओर आकर्षित करे और वैज्ञानिक

अध्ययन में उनकी रुचि को बढ़ावे। दीवारों पर प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के कलापूर्ण चित्र लगे होने चाहिये। वैज्ञानिकों के चित्र के अतिरिक्त विज्ञान-सम्बन्धी अन्वेषणों और खोजों के चित्र भी लगाये जाने चाहिये। वैज्ञानिक यंत्र और सामग्री तथा वैज्ञानिक-अध्ययन-सम्बन्धी श्रव्य-दृश्य सामग्री उचित प्रकार से सजा कर और सुरक्षित परिस्थिति मे रखनी चाहिये। विज्ञान-अध्यापक की मेज ऊँची और बड़ी होनी चाहिये और इस प्रकार स्थित होनी चाहिए कि अध्यापक जो प्रयोग करे, उसको कक्षा के समस्त छात्र देख सकें। इस मेज के पास ही यदि सम्भव हो तो जल और गैस के आवागमन के साधन होने चाहिये। बीच के भाग में बड़ी और ३' ऊँची कुछ स्थायी मेजें होनी चाहिये ताकि विद्यार्थी सरलता से उसमें आ-जा सकें। विभिन्न प्रकार की सामग्री को सुरक्षित रखने के लिये आलमारियाँ और स्थायी रैक आदि होने चाहिये। विज्ञान-कक्ष में कुर्सियों और बेंचो के स्थान पर उचित ऊँचाई के स्टूल अधिक उपयोगी रहते है। कक्ष में स्लाइडिंग श्यामपट्ट अथवा दो श्यामपट्ट होने चाहिये।

कृषि-कक्ष—कृषि-कक्ष की साज-सज्जा भी बहुत कुछ विज्ञान-कक्ष के समान ही होनी चाहिये। कृषि-सम्बन्धी चित्रों, यत्रों और सामग्री का उचित संग्रह इस कक्ष में होना चाहिये और उनको उचित प्रकार से सजाकर रखना चाहिये। साथ में एक भण्डार-कक्ष भी होना चाहिये, जिसमें फावड़ा, खुरपी, आदि कृषि-औजार रखे जा सकें। यदि सम्भव हो तो इस कक्ष के पास ही एक छोटा वर्कशाप होना चाहिये जिसमें बालक कृषि-सम्बन्धी औजारों की मरम्मत आदि कर सकें।

भूगोल-कक्ष—भूगोल-कक्ष भी विज्ञान-कक्ष के समान ही होना चाहिये। इसमें विभिन्न प्रकार की श्रव्य-दृश्य सामग्री का आयोजन होना चाहिये। भाँति-भाँति के मॉडल, चित्र, मान-चित्र तथा चार्ट आदि इसमें उचित ढग से सजा कर रखने चाहिये। छोटे बड़े कुछ ग्लोब अवश्य होने चाहिये। यदि छत से लटकाया जाने वाला एक बड़ा ग्लोब हो तो और भी उत्तम है। कहीं-कहीं भारत का प्राकृतिक मानचित्र दीवार पर उभड़े हुए सीमेंट आदि का बनाया जाता है। यह भी उपयोगी होता है। विभिन्न प्रकार सी सहायक सामग्री रखने के लिये स्टैंड और आलमारी आदि इस कक्ष में अवश्य होनी चाहिये। प्राकृतिक-भूगोल-सम्बन्धी विभिन्न प्रयोगों को प्रदर्शित करने की सुविधा भी कक्ष में होनी चाहिये।

इतिहास-कक्ष—इतिहास-कक्ष को विभिन्न ऐतिहासिक सामग्री से सजाना चाहिये। इसमें ऐतिहासिक मानचित्र, समय-चक्र, (टाइम चार्ट), माडल,

ऐतिहासिक विभूतियों के चित्रों, प्राचीन मुद्राओं, तथा वंश-वृक्षों आदि का संकलन होना चाहिये। कुछ चित्र आदि दीवारों पर लटके होने चाहिये और बाकी को सुरक्षित रखने के लिये आलमारियाँ होनी चाहिये।

इसी प्रकार कला-कौशल-कक्ष में तत्सम्बन्धी सामग्री, उपकरण, यंत्र आदि का संग्रह करना चाहिये। यदि विद्यालय में किसी विशेष उद्योग का अध्यापन होता हो, तो उसके लिये आवश्यक सामग्री और साज-सज्जा की व्यवस्था होनी चाहिये। गृह-विज्ञान, सङ्गीत आदि कक्षों में भी उनके अनुरूप ही साज-सज्जा और सामग्री होनी चाहिये। विषय-सम्बन्धी चित्र, माडल, यंत्र तथा उपकरण आदि सजाकर सुरक्षित रखे जाने चाहिये। संगीत-कक्ष में अभ्यास के लिये बैठने का प्रबन्ध पृथ्वी पर दरी अथवा चटाई डाल कर होना चाहिये।

पुस्तकालय

हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्रत्येक विद्यालय में एक सुव्यवस्थित पुस्तकालय का होना आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य बिना उचित पुस्तकालय के पूर्ण नही हो सकते। पाठ्य पुस्तकें शिक्षा के एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति अवश्य करतीं हैं किन्तु शिक्षा के सामान्य उद्देश्य की पूर्ति पुस्तकालय द्वारा ही सम्भव है। अतः यह अनिवार्य है कि पुस्तकालय की साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया जाय। पुस्तकालय-कक्ष को अत्यन्त आकर्षक बनाना चाहिये। इसकी दीवारों पर कुछ सुन्दर चित्र लगाये जाने चाहिये। इसकी आलमारियाँ आकर्षक और शीशे के पल्लों वाली होनी चाहिये। विभिन्न विषयों की पुस्तकें विभिन्न आलमारियों में इस प्रकार सजा कर रखनी चाहिये कि वे देखने वालों को मुग्ध करलें और छात्र बरबस उनकी ओर आकर्षित हो उठें। सभी फर-नीचर आरामदेह और करीने से रखा हुआ होना चाहिये। दीवार के सहारे किनारे किनारे आलमारियाँ हों और बीच के भाग में बैठकर पढ़ने के लिये बड़ी मेजें लगी हों। कुछ ऊँचाई पर पुस्तकाध्यक्ष की मेज और कुर्सी होनी चाहिये। उसके पास ही पुस्तकों के सूचीकार्ड भी रखने का प्रबन्ध होना चाहिये। विभिन्न दैनिक समाचार-पत्रों के लिए ऐसा स्टैण्ड होना चाहिये कि लोग खड़े होकर समाचार पत्रों को पढ़ सकें।

पुस्तकालय कक्ष की प्रमुख सामग्री हैं पुस्तकें। विद्यालय के लिये पुस्तकों के चयन और संग्रह में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की पुस्तकें होनी चाहिये। पुस्तकों का संकलन विद्यालय के छात्रों की आयु, रुचि और योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिये। विभिन्न स्तर के छात्रों के लिये विभिन्न स्तर की पुस्तकें होनी चाहिये। उपयो-

गिता ही पुस्तकों की प्रथम कसौटी होनी चाहिये। यदि वे सुन्दर और आकर्षक हों तो सोने में सोहागे की कहावत चरितार्थ हो जाएगी। विभिन्न विषयों की संदर्भ पुस्तकें और सामान्य पुस्तकें दोनों होनी चाहिये। छात्रों के साधारण ज्ञान को विकसित करने के लिये उसमें प्रचुर सामग्री होनी चाहिये। पुस्तकों का संकलन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि विद्यालय के समस्त छात्रों के लिये साहित्य विज्ञान, कौशल आदि की, उपयोगी पुस्तकें मिल सकें। छोटे बालकों के लिये आकर्षक चित्रमय पुस्तकें होनी चाहिये।

पुस्तको के चयन के लिये विशेष रूप से पुस्तकालय का अध्यक्ष उत्तरदायी होता है। प्राथमिक और माध्यमिक पुस्तकालयों में अध्यापकों में से ही किसी को अध्यक्ष बना दिया जाता है। वह विद्यालय के अन्य कार्य के साथ पुस्तकालय का भी कार्य करता है। उच्च बिद्यालयों में अलग से एक व्यक्ति पुस्तकालय के लिये रहता है। अध्यक्ष ऐसा ही व्यक्ति होना चाहिये, जो पुस्तक-प्रेमी हो और विभिन्न रुचियों के छात्रों की आवश्यकता समझ सके। सभी अध्यापकों को पुस्तकालय में रुचि लेनी चाहिये। उनको अपने-अपने विषय की उत्तमोत्तम पुस्तकों के मंगाने का प्रयत्न करना चाहिये। अध्यापकों के सक्रिय सहयोग के बिना कोई भी पुस्तकालय छात्रों के लिये उपयोगी और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता।

विद्यालयों में तीन प्रकार के पुस्तकालय हो सकते हैं:—(१) केन्द्रीय पुस्तकालय (२) कक्षा-पुस्तकालय और (३) विषय-पुस्तकालय। इन तीनों मे अपनी-अपनी विशेषताएँ और गुण होते हैं।

केन्द्रीय-पुस्तकालय—इसमें सम्पूर्ण विद्यालय की आवश्यकताओं के विचार से एक ही केन्द्रीय स्थान में सभी विषयों और सभी कक्षाओं की पुस्तकों का संग्रह किया जाता है। पुस्तकालय-व्यवस्था की सुविधा के अनुसार केन्द्रीय पुस्तकालय उत्तम होता है। इसमें अध्यापक और छात्र अपने विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों की पुस्तकें तथा सामान्य पुस्तकें सुगमता से पढ़ सकते हैं। पुस्तकालय में अथवा उसके समीप ही वाचनालय की व्यवस्था भी सम्यक रीति से हो सकती है।

कक्षा-पुस्तकालय—प्रत्येक कक्षा में एक कक्षा-पुस्तकालय हो सकता है। इसमें कक्षा-विशेष के स्तर की पुस्तकें रखी जा सकती हैं और उसका संचालक कक्षा-अध्यापक हो सकता है। उसके लिये कक्षा में एक आलमारी होनी चाहिये। कक्षा-अध्यापक कक्षा के स्तर से पूर्ण परिचित होता है अतः वह सरलता से छात्रों को परामर्श दे सकता है और उन्हें पुस्तकों के पढ़ने की प्रेरणा दे सकता है। पुस्तकों को लेने और पढ़कर वापस देने में कोई कठि-

नाई नहीं होती है। इससे कक्षा के छात्रों को विशेष लाभ हो सकता है। किन्तु यह प्रणाली छोटी कक्षाओं में ही अधिक लाभदायक हो सकती है। अन्य कक्षा के छात्र उन पुस्तकों से लाभ नहीं उठा पाते हैं। क्रमिक कक्षाओं में पुस्तकों का स्तर विभाजित करने में भी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

शिक्षा-शास्त्रियों के मत से केन्द्रीय-पुस्तकालय और कक्षा-पुस्तकालय की मिश्रित प्रणाली सर्वोत्तम होती है। ऐसे प्रबंध में कक्षा-पुस्तकालय केन्द्रीय पुस्तकालय से सम्बन्धित रहेंगे और पुस्तकों का परिवर्तन होता रहेगा। आदर्श भी यही है कि कक्षा में एक ही पुस्तकें सदैव न होनी चाहिये। इनमें हेरफेर होते रहना चाहिये। इससे पुस्तकों की उपयोगिता बढ़ जायगी और विभिन्न कक्षाओं के छात्र उनसे लाभ उठा सकेंगे।

विषय-पुस्तकालय—प्रत्येक विषय की पुस्तकें उन-उनके विषय-कक्षों में रखनी चाहिये। ऊँची कक्षाओं में यह प्रणाली विशेष लाभदायक सिद्ध होती है। विषय-अध्यापक अपने विषय में विशेषज्ञ होते हैं और अपने विषय की उत्तम पुस्तकों की पूर्ण जानकारी रखते हैं। वे विषय-पुस्तकालय को अत्यन्त उपयोगी और उत्तम बना सकते हैं किन्तु अन्य विद्यार्थी उन पुस्तकों से लाभ नहीं उठा पाते, जो उस विषय के ऊपर सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं। साधारण विद्यालयों में विषय-पुस्तकालय प्रणाली अधिक लाभदायक नहीं मानी जाती किन्तु उच्च शिक्षा-संस्थाओं में यह अत्यन्त आवश्यक है।

पुस्तकालयों में यदि प्रशिक्षित अध्यक्ष हों तो उनका संचालन और प्रशासन उत्तम होगा। पुस्तकों की सूची, उनका वर्गीकरण, पुस्तकों का सम्पत्ति-रजिस्टर, लेन-देन का रजिस्टर, आदि आवश्यक रजिस्टर सदैव उचित प्रकार से बनाए जाने चाहिये और ठीक ढंग से रखे जाने चाहिये। अन्य विज्ञानों के समान पुस्तकालय-विज्ञान भी प्रतिदिन उन्नति कर रहा है, और हमारे भारतीय विद्यालयों के पुस्तकालयों में सुधार हो रहा है। अध्यापकों को चाहिये कि पुस्तकालय को छात्रों के मानसिक और बौद्धिक विकास का केन्द्र बनाने का प्रयत्न करें और विविध उपायों द्वारा छात्रों को प्रोत्साहित करके उन्हें स्वाध्याय की प्रेरणा दें।

वाचनालय—वाचनालय में पत्र-पत्रिकाओं के रखने की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वे इधर-उधर उड़ती न फिरें। पत्रिकाओं के लिए पट्ठों के आवरक बनवा देने से न वे खराब होती है और फटती हैं। ऐसी ही व्यवस्था समाचार पत्रों के लिए भी की जा सकती है। वाचनालय में एक ऐसा रजिस्टर अवश्य रखा रहना चाहिए, जिस पर आने वाले हस्ताक्षर करदें। इसमें कौन-कौन

छात्र वाचनालय में रुचि ले रहे हैं, इसका पता चलता रहता है । यह तो स्थायी नियम होना चाहिए कि कोई व्यक्ति वाचनालय में वार्तालाप न करे ।

संग्रहालय

इसकी सामग्री का सकलन शैक्षणिक उपयोगिता की दृष्टि से होना चाहिये । इसमें विभिन्न वस्तुओं का संग्रह और उचित वर्गीकरण होना चाहिये । इसमें प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान से सम्बन्धित उन-उन वस्तुओं का संग्रह किया जाना चाहिये जिनका प्रदर्शन छात्रों के लिए हितकर हो ! पाठ्यक्रम में छात्र अनेक वस्तुओं के नाम और विवरण से परिचित होते है किन्तु उन वस्तुओं को न देख पाने के कारण उनका ज्ञान अधूरा और सैद्धान्तिक ही रहता है । यदि वे वस्तुओं के वास्तविक रूप को देख सकें, तो उनका ज्ञान पूरा और स्थायी हो सकता है । ऐसी अनेक-विधि पाठन-सामग्री का संकलन संग्रहालय कक्ष में होना चाहिये ।

सभा-भवन—सभा-भवन की साज-सज्जा उपयोगिता और सजावट की दृष्टियों से होनी चाहिये । इसकी दीवारो पर सुन्दर चित्र तथा बालकों द्वारा पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त शील्ड, कप आदि होने चाहिये । कुछ भाग में विद्यालय से उत्तीर्ण उन छात्रों के नाम लिखे जाने चाहिये, जिन्होंने खेल-कूद तथा वाद-विवाद आदि विभिन्न क्षेत्रों मे विशेष योग्यताएँ प्रदर्शित की हों । उन प्रधानाचार्यों का चित्र भी उसमें लगा होना चाहिये, जिन्होंने विद्यालय की प्रगति में विशेष योग्यता दिखाई है । इसका फर्नीचर भी अत्यन्त आकर्षक और स्वच्छ होना चाहिये । यदि फर्नीचर न हो तो फर्श पर दरी अथवा चटाई की व्यवस्था होनी चाहिये । यदि कक्ष (हाल) बड़ा है तो उसमें एक ओर स्थायी मंच बना होना चाहिये जिसका प्रयोग नाटक, प्रदर्शन तथा सभा आदि के अवसर पर किया जा सके । सभा-भवन में सामने की दीवाल का बीचो-बीच का भाग इस प्रकार का बना होन चाहिए कि उस पर फिल्मों का प्रदर्शन किया जा सके । विविध चित्रों, फूलों और झंडियों से हाल को सुसज्जित रखना चाहिये । इस प्रकार के वातावरण का प्रभाव छात्रों पर अत्यन्त सुखद और उत्साह-वर्धक होता है ।

अध्यापक-कक्ष—यदि अध्यापक-कक्ष बड़ा हो, तो उसमें विभिन्न अध्यापकों के लिये आलमारियों की व्यवस्था की जानी चाहिये । यदि स्थानाभाव है, तो एक ही बड़ा सम्मिलित रैक होना चाहिये जिसके खाने (कोठे) अलग-अलग बन्द किये जा सकें । अध्यापक उनमें अपने कागजात, चाकू कलमदान आदि सुरक्षित रखकर ताला लगा सकते हैं । इस कक्ष के एक कोने में अध्यापकों के हाथ-मुँह धोने और जलपीने की व्यवस्था भी रहनी चाहिये । यदि इससे

सम्बन्धित एक मूत्रालय हो, तो अत्यन्त उत्तम होगा। इसमें अध्यापकों के बैठने और आराम करने के लिये कुर्सियों और आराम कुर्सियों की व्यवस्था होनी चाहिये, बीच में एक लम्बी मेज रखी होनी चाहिए। एक ओर आलमारी अथवा रैक पर कुछ कोष और संदर्भ पुस्तकें होनी चाहिये। अन्य सामग्री में कलेण्डर, शीशा, कंघा घड़ी, पंखा आदि आ सकते हैं। अभिप्राय यह है कि अध्यापक-कक्ष में ऐसी सुविधाएं होनी चाहिए परिश्रम के पश्चात अध्यापक यहाँ थोड़ा विश्राम पा सके और खाली पीरियड में विद्यालय का अन्य अपना काम कर सके।

कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष

हम लिख चुके हैं कि कार्यालय और प्रधानाध्यापक-कक्ष विद्यालय के जीवन-स्रोत है। इनका सम्बन्ध विद्यालय के आन्तरिक और वाह्य, दोनों ही अङ्गों से है। इनकी साज-सज्जा विद्यालय के गौरव के अनुरूप ही होनी चाहिये। अनेक अभिभावक, पदाधिकारी और जनता विद्यालय के कार्यालय और प्रधानाध्यापक के पास आते हैं। इनकी साज-सज्जा और व्यवस्था को देखकर ही वे विद्यालय के विषय में अपना मत स्थिर कर लेते हैं। इनकी व्यवस्था उत्तम-कोटि की होनी चाहिये। अन्यथा वे विद्यालय के विषय मे हानिकारक संस्कार ही लेकर जाएंगे।

कार्यालय—जैसा कहा जा चुका है कार्यालय में विद्यालय-सम्बन्धी सभी कागजात रहते है। विभिन्न अभिलेख व्यौरे, रजिस्टर, फाइले आदि कार्यालय में रखे जाते है। इनको उचित प्रकार से रखने की व्यवस्था होनी चाहिये। कार्यालय में आवश्यकतानुसार काउंटर, अलमारियाँ, रैक, मेज, कुर्सी आदि होने चाहिये। कार्यालय की सामग्री का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। शिक्षा-विभागों द्वारा अनुमोदित वर्गीकरण प्रायः निम्नलिखित प्रकार का होता है:—(१) अध्यापन-सम्बन्धी—अध्यापकों की हाजिरी का रजिस्टर (Teachers' attendance Register), विद्यार्थियों की हाजिरी के रजिस्टर (Class Registers), छात्रों का प्रवेश-रजिस्टर (Admission Register) समयतालिका-रजिस्टर, पर्यवेक्षण-रजिस्टर परीक्षा-रजिस्टर, दण्डव्यवस्था-रजिस्टर, छात्रप्रगति-रजिस्टर, ट्यूशन-रजिस्टर, छात्रों के रिकार्ड का रजिस्टर (Scholars' Register) अध्यापकों की डायरियाँ आदि। (२) अर्थ संबंधी—कैशबुक, वेतन-रजिस्टर, फीस-रजिस्टर; बिलों का रजिस्टर, छात्रवृत्ति-रजिस्टर, चन्दा देने वालों का रजिस्टर, पुस्तकालय, यूनियन, खेलकूद, कृषि तथा उद्योग के आय-व्यय के रजिस्टर, प्रोविडेण्ट-फण्ड-रजिस्टर, अन्य फुटकर व्यय का रजिस्टर। (३) स्टाक-रजिस्टर—विभिन्न स्टाक-रजिस्टर, जिनमे विद्यालय

की विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति और सामग्री दर्ज की जांय और उनकी आमद और खर्च दिखाये जायें। इस प्रकार की स्टाक बुक में फरनीचर, पुस्तकें, खेल का सामान, स्टेशनरी, पाठ्य सामग्री आदि समस्त वस्तुओं की सूची होती हैं। (४) विविध—पत्र-व्यवहार-रजिस्टर (corespondence Registcr); स्कूल कलेन्डर, लॉगबुक, आर्डर बुक, विभिन्न फाइलें, जो विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्धित हो।

इन विभिन्न रजिस्टरों और फाइलों को कार्यालय मे उचित प्रकार से रखा जाना चाहिए और उनकी विस्तृत जानकारी प्रधानाध्यापक, कार्यालय-लिपिक और कर्मचारियों को होनी चाहिए। सभी अध्यापकों को इनकी साधारण जानकारी होनी आवश्यक है, जिससे समय पर वे इसका लाभ उठा सकें। इनमें कुछ का संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

अध्यापकों की हाजिरी का रजिस्टर—विद्यालय का प्रत्येक कार्य नियत समय पर होना चाहिये। इससे उसकी प्रतिष्ठा और कार्य-क्षमता बढ़ती है। प्रत्येक अध्यापक को नियत समय पर विद्यालय पहुँचना चाहिए। उनकी उपस्थिति का रजिस्टर होना आवश्यक है। इस रजिस्टर में विद्यालय के सभी अध्यापकों का नाम लिखा होना चाहिए और अध्यापकों को इसमें अपना विद्यालय पहुँचने का समय लिखकर हस्ताक्षर कर देना चाहिए। मुख्याध्यापक को प्रतिदिन इस रजिस्टर को देखना चाहिए और विलम्ब से आने वाले अध्यायकों से नियत समय पर आने की प्रेरणा देनी चाहिए। इस उद्देश्य से देर से आने वाले अध्यापकों को नाम के सामने दिनांक के नीचे लाल चिह्न लगा देना पर्याप्त है। स्वाभिमानी अध्यापक के लिए इससे अधिक सकेत अनावश्यक होता है। अन्य प्रकार के अध्यापकों के लिए कुछ विशेष व्यवस्था की जा सकती है। इस रजिस्टर में अध्यापकों की सभी प्रकार की छुट्टियों को भी दर्ज किया जाना चाहिए।

विद्यार्थियों की हाजिरी के रजिस्टर—विद्यालय की प्रत्येक कक्षा अथवा उपकक्षा के एक एक उपस्थिति-रजिस्टर होना चाहिए। कक्षाध्यापक को ही यह रजिस्टर देना अधिक उपयोगी और सुविधाजनक रहता है। उपस्थिति प्रतिदिन दो बार होनी चाहिए। विद्यालय के कार्यक्रम के आरम्भ में और एक बार बीच में। रजिस्टर में क्रम-संख्या, नाम, महीना, तिथि, उपस्थिति और उपस्थिति का जोड़ तथा फीस आदि के खाने बने होते हैं। शिक्षा-विभागों ने विशेष प्रकार के रजिस्टरों को स्वीकृति प्रदान कर दी है। प्रायः सभी विद्यालयों में मिलते जुलते से रजिस्टर होते हैं। अध्यापकों को कक्षा-रजिस्टर का पूरा

ज्ञान होना चाहिये, जिससे वे रजिस्टर को ठीक प्रकार से रख सकें और उसमें उपस्थिति, छुट्टी, फीस आदि का उचित विवरण भर सकें।

इसी प्रकार छात्रों के प्रवेश रजिस्टर में प्रत्येक छात्र के विद्यालय में प्रवेश करने की तिथि, उसकी जन्म-तिथि, उसकी क्रम संख्या, पिता का नाम, पिता का व्यवसाय, जाति, पता आदि लिखा जाना चाहिए। जब तक वह विद्यालय में रहता है प्रत्येक कक्षा में उसकी प्रगति तथा उसके चरित्र का विवरण दिया जाना चाहिए। अन्त में उसके विद्यालय छोड़ने की तिथि और छोडने का कारण लिखा जाना चाहिये। इसी रजिस्टर के आधार पर छात्रों को प्रमाण-पत्र और विद्यालय-परिवर्तन का सर्टीफिकेट दिया जाता है। इस रजिस्टर को बहुत सावधानी से रखना चाहिए। अन्य अध्यापन-सम्बन्धी रजिस्टरों को भी सावधानी से रखा जाना चाहिये और प्रत्येक में तत्सम्बन्धी विवरणों को भर देना चाहिये। किसी भी रजिस्टर का काम अधूरा नहीं होना चाहिये क्योंकि इससे बहुत सा काम एकत्रित हो जाता है और समय पर आवश्यक सूचना नहीं प्राप्त होती।

अर्थ-सम्बन्धी रजिस्टरों में कैशबुक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें एक ओर विद्यालय की आय और दूसरी ओर व्यय का विवरण होता है। फीस, जुर्माना सहायता, अनुदान, चंदा, दान तथा छात्रवृत्ति आदि विभिन्न मदों से जो कुछ आय विद्यालय को होती है, उसका इसमें दर्ज किया जाना आवश्यक है। इसी प्रकार वेतन तथा अन्य व्ययको सामने के पृष्ठ पर दिखाना चाहिये। कैशबुक दो प्रकार की होती हैं: दैनिक, जिसमें प्रतिदिन का आय-व्यय का लेखा दिखाया जाता है और मासिक-जिसमें प्रत्येक महीने का आय-व्यय दिखाया जाता है। वेतन-रजिस्टर, फीस-रजिस्टर, बैंक-बुक आदि अर्थ-सम्बन्धी रजिस्टरों का मिलान अवश्य करते रहना चाहिये, जिससे किसी प्रकार की अशुद्धि लेन-देन में न होने पावे। अर्थ-सम्बन्धी अन्य रजिस्टरों में उस विषय की आय-व्यय का लेखा शुद्ध रूप से निरन्तर दिखलाना चाहिये। प्रधानाध्यापक को अर्थ-सम्बन्धी रजिस्टरों के विषय में सदैव सतर्क रहना चाहिये। थोड़ी सी भी असावधानी और अशुद्धि उसे बदनाम करने के लिए पर्याप्त हो सकती है।

किसी भी विद्यालय में अनेक प्रकार की वस्तुएँ और सामग्री रहती हैं। इन सबका विवरण कहीं न कहीं अवश्य होता है। विद्यालय में फरनीचर, फुटकर सामग्री, पुस्तकों, खेल के समान, पाठ्य सामग्री तथा अन्य विविध सामग्री के लिये स्टाकबुक का होना अति आवश्यक है। स्टाकबुक में क्रमवार वस्तुओं का नाम, उनकी संख्या, उनकी कीमत, उनके खरीदने या बनवाने की तिथि, उनकी दशा तथा उनके खर्च और प्रयोग का विवरण होता है। इससे आसानी

से पता चला जाता है कि विद्यालय में किस प्रकार की कितनी सम्पत्ति है। प्रधानाध्यापक को समय-समय पर इन सामग्री-रजिस्टरों से वस्तुओं का मिलान करना चाहिये और अनुपयोगी और व्यय हो गई वस्तुओं का विवरण लिख देना चाहिये। विज्ञान, भूगोल, इतिहास तथा कौशल आदि विशेष विषयों की अलग अलग स्टाक-बुकें होनी चाहिये और उसमें उस विषय से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का विवरण होना चाहिए।

अन्य रजिस्टरों में पत्र-व्यवहार रजिस्टर में विद्यालय में आने वाले और विद्यालय से जाने वाले सभी पत्रों का संक्षिप्त विवरण रहता है। यह अत्यन्त उपयोगी होता है। इससे पता चलता है कि कहाँ से, किस विषय में, और किस समय कौन सा पत्र प्राप्त हुआ और वह किस फाइल में रखा गया है। इसी प्रकार विद्यालय से कौन सा पत्र, किस विषय में और किस समय (तिथि, माह, आदि) भेजा गया है और उसकी प्रतिलिपि किस फाइल में प्राप्त होगी। इससे विद्यालय के डाक-व्यय का लेखा भी प्राप्त होता है।

स्कूल कलेण्डर—कुछ विद्यालय अपना अलग कलेण्डर बनाते हैं। इसमें विद्यालय के खुलने तथा बन्द होने के समय तक की विभिन्न क्रियाओं का विवरण रहता है। विद्यालय वर्ष में कितनी छुट्टियाँ देगा, उसकी विभिन्न परीक्षायें किस-किस समय होंगी, विद्यालय की विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ किस-किस समय होंगी, तथा अन्य प्रसिद्ध क्रियाओं की सम्भावित तिथियाँ क्या होंगी, यह सब इसमें दिया जाता है। यह वर्ष के आरंभ में ही बन जाना चाहिये इसकी एक एक प्रति समस्त अध्यापकों और छात्रों को मिल जानी चाहिये। विद्यालय के अधिकारियों को भी एक एक प्रति भेज देनी चाहिये। इससे स्कूल का नियमित कार्यक्रम पूरा करने में बड़ी सहायता मिलती है।

लॉग बुक (Log Book)—इसमें विद्यालय की समस्त महत्वपूर्ण घटनाओं की सूची रहती है। इसे प्रायः प्रधानाध्यापक ही लिखता है। विद्यालय का निरीक्षण, विद्यालय में किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन, किसी विषय में में प्रधानाध्यापक के निजी अनुभव, सदैव या विभिन्न अवसरों पर ध्यान रखने योग्य बातों और बाह्य परीक्षा आदि का संक्षिप्त विवरण इसमें रहता है।

कार्यालय में इन विभिन्न रजिस्टरों और अन्य वस्तुओं का उचित प्रबन्ध होना चाहिये। लोहे की कुछ आलमारियाँ हों तो अच्छा है, जिसमें महत्वपूर्ण कागजात रखे जा सकें। यदि विद्यालय बड़ा है, तो उसमें रुपया पैसा रखने के लिये तिजोरी का होना भी आवश्यक है। कुछ सन्दूक भी होने चाहियें, जिससे सामान सुरक्षित रखा रहे और इधर उधर न बिखरा रहे। फाइलों का वर्गीकरण वैज्ञानिक प्रणाली पर होना चाहिये, जिससे किसी फाइल को तलाश

करने में समय का अपव्यय न हो। कुछ कार्यालयों में किसी प्रकार का उचित वर्गीकरण नही रहता है, जिससे किसी कागज को तलाश करने में सभी फाइलों को उलटना पुलटना पड़ता है। इससे कार्य क्षमता क्षीण हो जाती है।

प्रधानाध्यापक-कक्ष—इस कक्ष की साज-सज्जा विद्यालय की प्रतिष्ठा के अनुरूप होनी चाहिये। इसलिये नहीं कि यह प्रधानाध्यापक के बैठने का कक्ष है, वरन् इसलिए कि यह विद्यालय की समस्त क्रियाओं का उद्गम स्थान है और साथ में यहीं आगन्तुकों का स्वागत भी होता है। अभिभावक, निरीक्षक तथा जन-प्रतिनिधि आदि विशिष्ट व्यक्ति सभी इस कक्ष में आते हैं और प्रधानाध्यापक से मिलते हैं। इस कारण इसे सुन्दर ढंग से सजा होना चाहिए। इसमें एक बड़ा आफिस टेबुल होना चाहिए जिसमें ड्रार (कोठे) बने हों। कुछ अच्छी कुर्सियाँ होनी चाहिये ताकि आगन्तुक बैठ सकें। एक या दो आलमारियाँ हों, जहाँ प्रधानाध्यापक गोपनीय कागजात रख सके। कुछ रैक होने चाहिए जिनमें कुछ विशेष पुस्तकें—शिक्षा-संहिता, कोष, रेल की समय-सारिणी, पाठ्यक्रम आदि रखी जा सकें। इसमें एक छोटी तिजोरी भी होनी चाहिए। इससे मिला हुआ यदि छोटा विश्राम-कक्ष हो तो अति उत्तम है। विश्राम-कक्ष मे आराम कुर्सी, जल-पात्र एवं दर्पण आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। अधिकतर प्रधानाध्यापकों को कई घंटे बैठ कर कार्यालय का कार्य देखना होता है अतः कक्ष में पंखा, लैम्प, घड़ी आदि होनी चाहिए। कक्ष में कुञ्जियाँ, कलेण्डर, टाइम-टेबुल, चित्र आदि टाँगने की उचित व्यवस्था रहनी चाहिए। बड़े बड़े विद्यालयों में प्रधानाध्यापक-कक्ष से लगा हुआ स्टेनो रूम होता है, जहाँ टाइपराइटर आदि की व्यवस्था रहती है।

सामान्य—इसी प्रकार व्यायाम-कक्ष, शौचालय-मूत्रालय, वस्तु-भण्डार, क्रीड़ा-स्थल, जलपान-गृह, चिकित्सा-कक्ष आदि के लिए उनके अभिप्राय और उद्देश्य के अनुरूप साजसज्जा और सामग्री की व्यवस्था होनी चाहिए। सभी प्रकार की साज-सज्जा की कसौटी उपयोगिता, सुविधा, स्वच्छता और सुन्दरता होनी चाहिए। आवश्यक साज-सज्जा के बिना उस स्थान के रखने का प्रयोजन कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

उपसंहार

जिस स्थान पर छात्रों का अध्यापन चलता है, उसकी साज-सज्जा में से कुछ का वर्णन इस अध्याय मे कर दिया है। प्रत्येक के विषय में जो कुछ लिखा जाना चाहिए अथवा उसके विषय में विभिन्न परिस्थितियों में जो-जो जानकारी

आवश्यक हो सकती है, वह सब नहीं लिखा जा सकी है। उस विषय में तो सम्बद्ध व्यक्तियों को अपनी बुद्धि और विवेक से ही काम लेना पड़ेगा। उचित दिशा में चिन्तन को प्रवृत्त करने के लिए जितना लिखना आवश्यक था, उतना लिख दिया गया है।

नवम अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन--२
छात्रावास

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; पद्धति की प्राचीनता; वर्तमान परिस्थिति; महत्त्व; छात्रावास का भवन और उसके कक्ष—स्थित, छात्रों के निवास-कक्ष, क्रीड़ा-कक्ष, पुस्तकालय, अतिथि-कक्ष, सामूहिक कक्ष, चिकित्सालय, भोजनालय आदि; छात्रावास-व्यवस्था—छात्रावास का अध्यक्ष, अध्यक्ष के छात्रों के स्वास्थ्य-विषयक कर्त्तव्य, व्यवहार जनतान्त्रिक हो; छात्राओं के लिए विशेष व्यवस्था; सामान्य सुझाव; उपसंहार।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय में हमने विद्यालय की मुख्य भूमि (वह भूमि, जहाँ अध्ययन एवं अध्यापन कार्य चलता है) पर स्थित कक्षों तथा उनकी साजसज्जा की चर्चा की थी। इस अध्याय में हम छात्रावास की चर्चा करने जारहे हैं। वस्तुतः छात्रावास-रहित विद्यालय को पूरी तरह विद्यालय कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वह विद्यालय के मुख्य उद्देश्य—सम्पूर्ण व्यक्तित्व के समन्वित विकास को किसी प्रकार भी पूरा नहीं कर सकता। उसके बिना विद्यालय समाज का

लघुरूप भी नहीं बन सकता और न बाहरी दुष्प्रभावों से छात्रों को बचा सकता है। इसी दृष्टि से मुख्य भूमि पर स्थित भवनों में अनन्तर ही इसकी चर्चा की जारही है।

पद्धति की प्राचीनता

विद्यालयों से सम्बन्धित छात्रावास रखने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गुरुकुल-पद्धति में छात्र आश्रम में निवास करते थे। मध्ययुग में भी पाठशालाओं मठों, विहारों, मन्दिरों तथा मसजिदों के साथ विद्यार्थियों के आवास की व्यवस्था भी होती थी। आधुनिक युग में भी विद्यालयों—विशेष कर माध्यमिक और उच्च विद्यालयों-के साथ में छात्रावास की व्यवस्था अवश्य रहती है। आश्रम-पद्धति (Residential system) में तो प्रत्येक छात्र को छात्रावास में रहना अनिवार्य होता है।

वर्तमान परिस्थिति

किन्तु शिक्षा के व्यापक प्रसार के साथ-साथ इधर कुछ काल से छात्रावासों की परम्परा भग्न होती जा रही है। माध्यमिक विद्यालय ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ते जारहे हैं। आसपास के छात्र पढ़कर अपने-अपने घरों को चले जाते हैं। शहरों में भी अधिकतर छात्र अपने अभिभावकों के साथ रहते हैं। आधुनिक परिस्थितियों में छात्रावासों का जीवन अधिक व्यय-साध्य होता जा रहा है। अनेक निर्धन छात्र छात्रावास के व्यय का भार नहीं उठा पाते और बाहर कहीं रहकर विद्यालयों में अध्ययन करते हैं।

महत्त्व

किन्तु इन परिस्थितियों के कारण छात्रावास का महत्व कम नहीं हो जाता है। अनेक छात्र विद्यालय में दूर से आते है। अनेक अभिभावक अपने बच्चों को छात्रावास में रखना पसन्द करते है। वस्तुतः प्रत्येक ऐसे विद्यालय में जिसमें कुछ छात्र दूर से आते है, छात्रावास की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। छात्रावासों से कुछ विशेष शिक्षा-उद्देश्यों की पूर्ति होती है। आधुनिक प्रजातंत्रीय युग विकसित नागरिकता का युग है। विकसित नागरिकता का एक आवश्यक अंग है सामूहिक जीवन। सामूहिक जीवन का अभ्यास विद्यालयों और छात्रावासों में ही हो सकता है। छात्रावास में छात्र को अन्य छात्रों के साथ जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसके लिये अति आवश्यक हो जाता है कि वह छात्रावास के नियम और अनुशासन को मानता हुआ और सहयोग का आदान-प्रदान करता हुआ उत्तम प्रकार से सामूहिक जीवन व्यतीत करे। इससे उसे उन गुणों की प्राप्ति और अभ्यास होता है, जो एक भावी नागरिक के लिये अनिवार्य हैं।

हम कह चुके हैं कि विद्यालय समाज का एक लघुरूप है। छात्रावास के विषय में यह कथन अक्षरशः सत्य है। छात्रावास का जीवन एक सामाजिक जीवन होता है। जिस प्रकार समाज में रहता हुआ व्यक्ति उसके वातावरण से प्रभावित होकर उसकी अच्छाई और बुराई को ग्रहण करता है, उसीप्रकार छात्र भी छात्रावास में रहता हुआ उसके वातावरण से प्रभावित होकर उसके अनुसार अपने जीवन को ढाल लेता है। छात्रावास के सभी छात्रों में एक अपनत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे एक परिवार के सदस्यों की भाँति रहने लगते है। इससे उनमें अनेक सामाजिक गुणों का आविर्भाव होता है। छात्रावास में आधुनिक जनतन्त्रीय प्रणाली का प्रयोग करने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। छात्रों में उत्तरदायित्व, उदारता, सहानुभूति, स्वावलम्बन तथा समानता आदि उदात्त गुणों को उत्पन्न करने में छात्रावास का जीवन अत्यन्त उपयोगी होता है। हम तो निःसंकोच यह कहने को तैयार हैं कि छात्रावास से रहित विद्यालय शिक्षा के आदर्शों की सम्यक पूर्ति करने में सर्वथा असमर्थ और अनुपयुक्त होता है। इस विषय में विशेष विस्तार के साथ "समाज विद्यालय का पूरक" इस शीर्षक से पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है।

छात्रावास का भवन और उसके कक्ष

स्थिति–यदि विद्यालय का निर्माण सुनियोजित हो, छात्रावास की व्यवस्था भी उसमें सम्मिलित रहती है। यदि विद्यालय में कई छात्रावासों की आवश्यकता हो, तो आदर्श यह होना चाहिये कि विद्यालय-भवन बीच में स्थित हो और उसके चारो ओर कुछ दूरी पर छात्रावास स्थित हों। विद्यालय-भवन और छात्रावासों के बीच में क्रीड़ा-क्षेत्र (खेल के मैदान) और विद्यालय के उद्यान स्थित होने चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था में विद्यालय और उसके छात्रावासों को मिलाकर एक चौकोर क्षेत्र सीमाबद्ध हो जाता है और सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम रहता है। विद्यालय की समस्त क्रियाओं के लिये इसमें स्थान मिल जाता है और केवल एक अथवा दो गेट (फ़ाटक) बनाकर विद्यालय और छात्रावासों के निवासियों और बाहरी व्यक्तियों के आवागमन को नियंत्रित किया जा सकता है।

यदि उपरिलिखित व्यवस्था न हो सके तो प्रयत्न होना चाहिये की छात्रावास विद्यालय-भवन के समीप ही हो और उसका अपना सीमाबद्ध क्षेत्र हो। चौकोर आकार का छात्रावास व्यवस्था और सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम होता है। इसमें तीन ओर छात्रों के निवास-कक्ष हों और एक ओर अधीक्षक अथवा गृहपति का निवास-स्थान, कार्यालय और अन्य आवश्यक कक्ष हों। यथासम्भव छात्रावास में एक ही मुख्य द्वार होना चाहिये, जो रात्रिकाल में पूर्णतया बन्द

किया जा सके। छात्रावास में छात्रों के निवास-कक्ष, क्रीड़ा-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, अतिथि-कक्ष, सामूहिक-कक्ष, चिकित्सा-कक्ष आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। एक कोने में प्रमुख भवन से थोड़ा हटकर भोजनालय, रसोई-घर, भण्डार-घर और नौकरों के निवासकक्ष होने चाहिये। दूसरे कोने में कुछ दूर हटकर शौचालय-मूत्रालय तथा स्नानागार की व्यवस्था होनी चाहिये। यदि छात्रालय बड़ा हो, तो कुछ मूत्रालय अन्य कोनों में भी होने चाहिये। यथा सम्भव छात्रावास एक ही मंजिल का होना चाहिये। निवास-कक्षों के सामने फुलवारियाँ और हरे-भरे मैदान अवश्य होने चाहिए। ऐसे प्राकृतिक वातावरण का छात्रों के मन पर बहुत स्वस्थ प्रभाव पड़ता है।

छात्रों के निवास-कक्ष—छात्रावास में निवास-कक्ष किस प्रकार के हों, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ के अनुसार प्रत्येक छात्र के लिये एक अलग कक्ष होना चाहिये और कुछ के अनुसार निवास-कक्ष इस प्रकार के होने चाहिये कि उनमें से प्रत्येक में दो, तीन या चार छात्र साथ रह सकें। प्रत्येक छात्र के लिये एक पृथक् कक्ष की व्यवस्था कुछ अधिक व्यय-साध्य होती है किंतु उच्च कक्षा के छात्रों के लिये यही व्यवस्था उत्तम होगी। छोटी कक्षा के तीन या चार छात्रों के लिये एक कक्ष की व्यवस्था उत्तम है। माध्यमिक विद्यालयों के लिये यही प्रणाली अधिक उपयोगी और कमखर्चीली है। निवास-कक्ष सुन्दर और स्वच्छ होना चाहिये। इसमें प्रकाश और वायु के आवागमन की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। कक्ष में आवश्यकतानुसार खिड़कियाँ, रोशन-दान और दरवाजे होने चाहिये। दीवारों में अलमारियाँ लगी हुई हों और प्रत्येक छात्र के लिये कम से कम एक आलमारी अवश्य हो, जिसमें छात्र अपनी पुस्तकें तथा कापियाँ आदि सामग्री रख सकें। प्रत्येक छात्र के लिये एक चारपाई अथवा तख्त और एक मेज तथा एक कुर्सी होनी चाहिये। यदि आलमारियाँ कम हों, तो मेज संदूकनुमा होनी चाहिये जिससे उसमें पाठ्य-सामग्री रखी जा सके। पीने का पानी रखने के लिये पात्र और उनके लिए घड़ोंची अथवा स्टूल हों तो अच्छा रहता है। आधुनिक छात्रावासों में कक्ष के सम्मुख बरामदे का होना आवश्यक माना जाता है।

क्रीड़ा-कक्ष—छात्रावास में एक क्रीड़ा-कक्ष होना चाहिये जहाँ छात्रों के मनोरंजन के कुछ साधन हों। इसमें कक्ष के भीतर खेलने योग्य खेलों की सामग्री तथा रेडियो आदि रखे जा सकते हैं। इससे लाभ यह है कि छात्र पढ़ाई से ऊब जाने पर यहाँ मनोरंजन कर सकते हैं। इससे बाहर जाने का आकर्षण कम हो जायगा। आधुनिक युग के अनेक आभ्यान्तर खेलों की व्यवस्था समें की जा सकती है।

पुस्तकालय—छात्रावास के एक कक्ष में छात्रावास का पुस्तकालय और इसके समीप ही दूसरे कक्ष में वाचनालय होना चाहिए। पुस्तकालय में कुछ उपयोगी पुस्तकों, कुछ कोषों और संदर्भ ग्रन्थों का संग्रह रहना जाहिए। छात्र स्वाध्यायमें कोई कठिनाई उपस्थित होने पर अथवा अपना विद्यालय का अध्ययन संपुष्ट करने के लिये इनका उपयोग कर सकते हैं। वाचनालय में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ होनी चाहिये। वाचनालय में छात्रों को बैठकर पढ़ने की सुविधा होनी चाहिये अतः उसमें बड़ी मेजें, कुछ कुर्सियाँ, और बैचें होनी चाहिये। पत्र-पत्रिकाएँ रखने का प्रबन्ध सुव्यवस्थित होना चाहिये औरछात्रों से ही यह कार्य कराना चाहिये, जिससे उनमें कर्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न हो।

अतिथि-कक्ष—छात्रों के निवास-कक्ष से कुछ हटकर मुख्यद्वार के समीप छात्रावास का अतिथि-कक्ष होना चाहिये। यह भली प्रकार सुसज्जित होना चाहिये। इसमें कुछ चारपाइयाँ, मेजें तथा कुर्सी आदि होनी चाहियें। यदि इसका शौचालय और स्नानागार भी इससे सम्बन्धित समीप में हों, तो अति उत्तम हो। छात्रों के अभिभावक और अन्य अतिथि जब आवें, तो उनको इसमें ठहराना चाहिये जिससे छात्रावास के जीवन और अध्ययन में व्यतिक्रम न उत्पन्न हो। अतिथि यह धारणा बनाकर न जाएँ कि उनके बच्चे किसी बुरे स्थान और अनुपयुक्त वातावरण में रह रहे है, इसलिये अतिथि-कक्ष की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

सामूहिक कक्ष—छात्रावास में, यदि सम्भव हो तो, एक सामूहिक-कक्ष होना चाहिये। इसमें, प्रार्थना, वाद-विवाद, नाटक, छात्रोपयोगी-फिल्म-प्रदर्शन अथवा विशेष किसी आयोजन और उत्सव के अवसर पर छात्रावास के सभी छात्र एकत्रित हो सकते है। बाहर से आने वाले अभ्यागत भी इसमें बैठाये जा सकते है। यह कक्ष बड़ा और अन्य कक्षों से अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक और सुसज्जित होना चाहिये।

सहकारी वस्तु-भंडार—छात्रावास में एक सहकारी वस्तु-भंडार भी होना चाहिए। इसमें छात्रों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए। वस्तु-भंडार की आदर्श व्यवस्था वह कही जाएगी, जिसमें छात्रों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शहर जाना ही न पड़े।

चिकित्सालय—किसी ओर एक छोटा-सा चिकित्सालय भी होना आवश्यक है। छात्रों के बीमार पड़ने पर उनकी उचित देख-भाल और चिकित्सा होनी आवश्यक है। कभी-कभी किसी छात्र को छूत की अथवा अन्य कोई गम्भीर बीमारी हो जाती है। ऐसी दशा में उसे अलग कक्ष में रखना

आवश्यक होता है। छूत के रोगी को अन्य छात्रों से अलग रखना चाहिये। चिकित्सालय-कक्ष में कुछ आवश्यक दवाएं और प्राथमिक-चिकित्सा की सामग्री अवश्य रखनी चाहिये और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उसका चौबीस घटे प्रयोग किया जासके।

शौचालय, मूत्रालय, स्नानगार—छात्रावास के इस अङ्ग पर विशेष ध्यान रहना चाहिये। किसी प्रकार की गंदगी छात्रावास के वायु-मण्डल को दूषित करके अनेक रोगों को जन्म दे सकती है। जैसा कहा गया है, इनकी स्थिति मुख्य भवन से कुछ दूर हटकर होनी चाहिए। इनकी सफाई के विषय में छात्रों और अधीक्षक दोनों को सदैव सतर्क रहना चाहिये। शौचालय और मूत्रालय फिनायल से धोकर सदैव स्वच्छ बनाये जाने चाहिए। शौचालयो, मूत्रालयों और स्नानागारों की संख्या छात्रो की संख्या से अनुपात में होनी चाहिए। इन स्थानो का निरीक्षण अध्यक्ष को बराबर करते रहना चाहिये और जहाँ भी गंदगी दिखाई पड़े उसे साफ करवा देना चाहिए। छात्रों को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए कि वे इन स्थानों को स्वच्छ रखें और उनको किसी प्रकार से गन्दा करके न छोड़े।

भोजनालय, रसोईघर, भण्डार-कक्ष आदि—इन स्थानों की स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। भोजन और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। छात्रावास में एक ऐसा भोजनालय अपेक्षित है, जिसमें बैठकर सभी छात्र एक साथ भोजन कर सकें। इसमें बैठने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें पाश्चात्य रीति के अनुसार मेज, कुर्सियाँ अथवा बेंचें तथा भारतीय रीति से बैठने के आसन दोनो होने चाहिए। इसे अत्यन्त स्वच्छ और आकर्षक बना कर रखना चाहिए। किसी भी प्रकार की ऐसी वस्तु इसमें न होनी चाहिए,जिससे भोजन करते समय छात्रों में अरुचि उत्पन्न हो। रसोईघर भी हवादार और स्वच्छ होना चाहिए। भोजन की सब सामग्री और पीने का पानी ढका होना चाहिए। खुला खाद्य पदार्थ मक्खियों को निमन्त्रण देता है और उनके बैठने से अनेक कीटाणु उत्पन्न हो सकते हैं। भण्डार-कक्ष में भी सभी वस्तुएँ ढककर और सुव्यवस्थित ढंग से रखनी चाहिए। यदि छात्रावास नगर से कुछ दूर हो, तो इसमें सभी वस्तुओं का आवश्यकतानुसार संग्रह होना चाहिए। इनकी व्यवस्था और सेवा-कार्य छात्रों को सहकारिता के आधार पर करने चाहिए।

छात्रावास-व्यवस्था

छात्रावास का अध्यक्ष—कुछ विद्वानों की राय में छात्रावास-व्यवस्था-कार्य विद्यालय-व्यवस्था-कार्य से अधिक कठिन है। छात्रावास में छात्र विद्यालय की अपेक्षा अधिक समय तक रहते है। इसमें एक पारिवारिक जीवन रहता है।

इस कारण छात्रावास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व एक सुयोग्य, अनुभवी तथा प्रतिष्ठित अध्यापक को देना चाहिए। यदि छात्रावास बड़ा हो तो एक वार्डन और एक हाउस-मास्टर नियुक्त करना चाहिए। यदि छात्रावास साधारण हो, तो एक ही अध्यक्ष कार्य कर सकता है। अध्यक्ष का पद अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस पद के लिए किसी अध्यापक का चुनाव करते समय प्रधानाध्यापक को विद्यालय में उसका काम कम कर देना चाहिए ताकि वह अधिक समय देकर छात्रावास के उत्तरदायित्व को निभा सके। छात्रावास के अध्यक्ष के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की तुलना एक गृहपति से की जा सकती है। छात्रावास के छात्रो को अपने उच्चों के समान समझ कर उसे उनके स्वास्थ्य (शारीरिक और मानसिक), सुख और सुविधा का ध्यान रखते हुए कार्य करना चाहिए।

अध्यक्ष के छात्रों के स्वास्थ्य (शारीरिक और मानसिक) विषयक कर्त्तव्य—अध्यक्ष को छात्रावास के सभी छात्रों के स्वास्थ्य के विषय में सतर्क रहना चाहिये। स्वास्थ्य के लिये नियमित जीवन, संतुलित आहार, सफाई, सच्चरित्रता, व्यायाम तथा चिकित्सा की उचित व्यवस्था आदि आवश्यक होते है। अध्यक्ष के लिए उचित है कि वह छात्रों में नियमित जीवन की प्रेरणा उत्पन्न करे। छात्रावास में प्रत्येक कार्य का समय निश्चित होना चाहिये और एक समय-विभाग बनाकर छात्रों को नियमित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिए। उठने, सोने, भोजन, अध्ययन, खेल-कूद आदि सभी कार्यो का समय निश्चित रहना चाहिये। ऐसा होने से समय का अपव्यय और दुरुपयोग नहीं होता है। नियमित जीवन का अभ्यास आरम्भ में कुछ कठिन होता है किन्तु अभ्यास पड़ जाने पर वही स्वभाव बन जाता है। अध्यक्ष को स्वयं आदर्श नियमित जीवन व्यतीत करना चाहिए और धैर्यपूर्वक, सतत प्रयत्न और सतर्कता से छात्रों को इस प्रकार के जीवन का अभ्यास कराना चाहिये।

स्वच्छ वायु और प्रकाश स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं। अध्यक्ष को निरीक्षण और पर्यवेक्षण करते रहना चाहिये कि छात्रावास के निवास-कक्ष स्वच्छ रहें। निवास-कक्ष के भीतर सभी सामग्री उचित प्रकार से व्यवस्थित ढंग से रखी होनी चाहिये और किसी प्रकार की गन्दगी कक्ष के भीतर बाहर नहीं होनी चाहिए। दरवाजे, खिड़कियाँ तथा रोशनदान स्वच्छ हों और खुले रहें ताकि वायु का प्रवाह अवरुद्ध न हो। छात्रावास के सम्पूर्ण वातावरण को शुद्ध और स्वच्छ रखने का प्रयत्न सदैव होना चाहिये। छात्रों में नियमित खेलकूद, व्यायाम और शारीरिक कार्य की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के लिये इन क्रियाओं में भाग लेना अनिवार्य होना चाहिये। मानसिक स्वास्थ्य

की दृष्टि से छात्रों को स्नेह, सहानुभूति, सुरक्षा-भावना तथा न्याय आदि मिलना चाहिये। अध्यक्ष इन सब भावनाओं की तुष्टि कर सकता है। वह गृहपति होने के नाते माता-पिता के स्थान पर है। उसके उचित और सद् आचरण का छात्रों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। साथ रहने से छात्रों में समानता और भ्रातृत्व भावना का उदय होता है और इसका उचित निर्देशन होने से छात्रों का मानसिक स्वास्थ्य उन्नत होता है। छात्र अपने घर और परिवार का अभाव अनुभव नहीं कर पाते और अध्यक्ष के संरक्षण में उचित ढंग से उनके व्यक्तित्व का विकास होता रहता है।

स्वास्थ्य के लिये उत्तम, पौष्टिक और संतुलित आहार अत्यन्त आवश्यक है। अध्यक्ष को रसोईघर, भोजनालय, भोजन-सामग्री तथा भंडार-गृह का नियमित निरीक्षण करते रहना चाहिये। भोजन सादा और स्वच्छ होना चाहिये। सड़ा, गला और गंदा भोजन स्वास्थ्य को नष्ट करता है। अध्यक्ष को स्वयं भोजन की प्रत्येक सामग्री अर्थात् साग, सब्जी, तेल, घी तथा मसाला आदि का निरीक्षण करते रहना चाहिये। आधुनिक युग विटामिन युग हो रहा है। खाद्य-पदार्थ इस प्रकार के हों कि आवश्यक मात्रा में अपेक्षित विटामिन मिल सकें, इसका भी ध्यान होना चाहिये। गरिष्ठ, चटपटा, अधिक मसाले और मिर्चवाला आहार हानिकर होता है। अध्यक्ष को भोजन बनाने की विधि, नौकरों की सफाई आदि का भी निरीक्षण कर लेना चाहिये। आदर्श तो यह है कि अध्यक्ष स्वंय छात्रों के साथ भोजन करे किन्तु यदि ऐसा सम्भव न हो, तो उसे कभी कभी अचानक भोजन को चख कर उसे देखते रहना चाहिये। भोजन के साथ पीने के जल की उत्तम व्यवस्था भी आवश्यक है। जल के पात्र स्वच्छ और ढके रहने चाहिये। यदि जल शुद्ध न हो, तो उसे गरम करके ठंडा करा लेना चाहिये। किसी-किसी छात्रावास में पीने का पानी कुएँ से आता है। ऐसी दशा में कुएँ की सफाई समय-समय पर हो जानी चाहिये और लाल दवा छोड़ कर कुँए का जल शुद्ध कराते रहना चाहिये।

भोजन-व्यवस्था में मांस-भोजन कभी-कभी समस्या उत्पन्न कर देता है। यह उचित है या अनुचित, यह एक विवादास्पद बात है परन्तु इस विषय में यह सिद्धान्त उचित होगा कि छात्रावास के भोजनालय में उसी वस्तु का निर्माण होना उचित है, जिस पर किसी को आपत्ति न हो। यदि सम्भव हो, तो आमिष-भोजियों तथा शाकाहारियों के लिए पृथक-पृथक रसोईघर चलाए जा सकते हैं। प्याज, लहसन तथा विशेष मिर्च-मसालों का सेवन करने वाले इन चीजों को अलग से ले सकते हैं।

सफाई के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि छात्रावास-भवन और उसके विभिन्न अंग अत्यन्त स्वच्छ रहने चाहिये। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। केवल एक अभ्यास की वस्तु है। यदि अध्यक्ष और छात्र स्वच्छता के अभ्यस्त हो जायँ, तो कोई कारण नहीं कि किसी प्रकार की गंदगी छात्रावास के भीतर और बाहर मिले। यदि किसी कारण वश किसी रोग का आरम्भ हो जाय, तो शीघ्र ही उसकी रोकथाम होनी चाहिये। छूट की बीमारियों के टीके छात्रावास के छात्रों तथा कर्मचारियों को समय-समय पर लगवा देने चाहिये। इससे संक्रामक रोगों की रोकथाम हो जायगी। यदि संयोगवश कोई छात्र बीमार पड़ जाय, तो उसकी उचित चिकित्सा और देखभाल होनी चाहिये। अध्यक्ष को सहानुभूति के साथ रोगी छात्रों की सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था करनी चाहिये। किसी प्रकार छात्र को अनुभव नही होने देना चाहिये कि चूँकि वह घर से अलग है अतः कोई उसकी देखभाल करने वाला नही है। अधिक गम्भीर रोगों में अभिावको को शीघ्र सूचना दे देनी चाहिये ताकि वे आकर छात्र की चिकित्सा का उचित प्रबन्ध करें अथवा उसको घर ले जायँ।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का चरित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सदाचार ही स्वास्थ्य की कुंजी है और दुराचार स्वास्थ्य का शत्रु। छात्रावासो में छात्रों में बुरी आदतें भी पाई जाती है। चोरी से बाहर निकल कर सिनेमा, नाटक तथा नृत्य आदि देखने चले जाना, अध्ययन-काल में विद्यालय से भाग कर कमरे में पड़े गप्प करते रहना, धूम्रपान करना, फिजूलखर्ची करना, अस्वाभाविक मैथुन, चोरी और आलस्य आदि दुर्गुण आमतौर से पाये जाते हैं। इन दुर्गुणों का प्रभाव छात्रों के स्वास्थ्य पर पड़ता है और असमय ही वे शक्तिहीन और तेजहीन हो जाते है। अध्यक्ष को इन बातों की ओर सदैव सतर्क दृष्टि रखनी चाहिये। प्रेम, सहानुभूति, दण्ड तथा भय आदि द्वारा छात्रावासाध्यक्ष छात्रों को इन विभिन्न प्रकार के दुर्गुणों से सुरक्षित रख सकता है। छात्रों के अभिभावकों के सहयोग से भी विभिन्न समस्याओं को सरलता से सुलझाया जा सकता है। छात्रों को आवश्यक खर्च के अतिरिक्त और रुपया नहीं मिलना चाहिये। खर्च का रुपया भी अध्यक्ष के पास अथवा कार्यालय में जमा रहना चाहिये। पास में अधिक पैसे रहने से अनेक दुर्गुण स्वयं आ जाते हैं। कुछ ऐसे नियम भी छात्रावास में प्रचलित होने चाहिए कि छात्र बिना विशेष आवश्यक काम के नगरों में न जाऐं और जब भी वे जाऐं तब उनका परिचय-पत्र उनके पास अवश्य हो। साथ ही उनको निर्देश मिल जाना चाहिए कि वे निश्चित समय के भीतर वापस आजाऐं। छात्रों में नैति-

कता का अभाव होता जा रहा है, यह देश के लिये बहुत दुर्भाग्य की बात है। छात्रावासों को समुचित नियमों की सहायता से नैतिक प्रशिक्षण का केन्द्र बनाया जाना चाहिए।

व्यवहार जनतान्त्रिक हो

छात्रो की सुख-सुविधा के प्रति अध्यक्ष को सदैव सावधान रहना चाहिये। छात्रावास नागरिकता की शिक्षा के लिये महत्वपूर्ण स्थान है। अध्यक्ष को यहाँ पर जनतन्त्रीय प्रणाली का प्रयोग करना चाहिए। उसे छात्रों का सहयोग प्राप्त कर छात्रावास की विभिन्न क्रियाओं के लिये समितियाँ बना देनी चाहिए। सफाई, भोजन, खेलकूद, अनुशासन, वाचनालय तथा पुस्तकालय आदि की व्यवस्था के लिये छात्रों की समितियाँ चालू करके उसे उनके ऊपर निरीक्षण करते रहना चाहिए। छात्रों में उत्तरदायित्व, स्वावलम्बन, सहानुभूति, समता एवं संयम आदि गुणों की भावना उत्पन्न करने का सर्वोत्तढङ्ग उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में संलग्न रखना है। यह प्रणाली छात्रों को सामाजिक जीवन के लिये प्रस्तुत करती है और उन्हे भविष्य में अच्छे नागरिक बनने की प्रेरणा देती है। छात्रावास के नियम स्पष्ट होने चाहिए और उनके पालन में किसी प्रकार की ढिलाई न आने देनी चाहिए। अनुशासन और नियम के भीतर रहकर ही छात्र सुनागरिकता की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

भारत में छात्राओं के छात्रावासों का अभी बहुत अभाव है। उनकी अपनी विशेष समस्यायें भी है, जिन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अधिकांश अभिभावक लड़कियों को अपने से दूर रखने में हिचकते हैं। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ अधिकांश में इसके लिए उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्र भारत में लड़कियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। फलस्वरूप उनके लिये छात्रावासों की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। छात्राओं के छात्रावास की प्रमुख समस्या सुरक्षा की होती है। अभी समाज में अवांछनीय तत्वों का अभाव नहीं है। स्त्रियों के लिये जो स्वस्थ दृष्टिकोण पुरुष में होना चाहिए, उसे हमारा समाज अभी प्राप्त नहीं कर सका है। अतः छात्राओं का निवास स्थान सुरक्षित स्थान पर चहारदीवारी से घिरा हुआ होना चाहिए। उसमें कर्मचारी और अध्यक्ष सभी महिलाएँ होनी चाहिए। आने जाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए और नियमों का पालन सख्ती से होना चाहिए। सिनेमा तथा कुरुचिपूर्ण साहित्य आदि पर प्रतिबन्ध रहना चाहिए। उनमें वातावरण को शुद्ध रखना अति आवश्यक है।

सामान्य सुझाव

प्रत्येक छात्रावास में सामग्री, उपस्थिति, हिसाब-किताब, रसोईघर

आदि सभी विभागों तथा क्रियाओं के लिये रजिस्टर होने अनिवार्य है। छात्रावास का हिसाब-किताब अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। अभिभावकों को छात्र और छात्राओं की प्रगति-रिपोर्ट भी भेजी जाती रहनी चाहिए। अध्यक्ष को सहानुभूति किन्तु कठोरता से कर्मचारियो का अनुशासन करना चाहिए ताकि वे अपने कार्य मे किसी प्रकार की अनियमितता न वर्तें। अधिकतर आधुनिक छात्रावासों की दशा संतोषजनक नही है। इनमे सुधार अपेक्षित है, जिससे भावी भारतीय नागरिक नागरिकता का उचित प्रशिक्षण प्राप्त कर जीवन मे प्रवेश करें।

उपसंहार

छात्रावास-व्यवस्था के विषय में कुछ सलाहे इस अध्याय मे दे दी गई है। उनको पर्याप्त मानकर चलने से छात्रालय के अध्यक्ष का काम नही चल सकता। एक योग्य पिता अपने बच्चों को योग्य बनाने तथा उन्हे स्वस्थ और सुखी रखने के लिए जो-जो व्यवस्थाएँ करता है, वे सब उसे करनी चाहिए। उसके व्यवहार आरम्भ मे चाहे छात्रों को कुछ कठोर प्रतीत हों, परन्तु परिणाम छात्रों तथा समाज दोनों के लिए भला होगा। आजकल के छात्रावासों मे अनुशासन का स्थान उच्छृङ्खलता ने ले लिया है। अपने देश मे अच्छे छात्रावासों की बड़ी आवश्यकता है। जितनी जल्दी देश मे अच्छे छात्रावास उपलब्ध हो सकेंगे, राष्ट्र का सामाजिक नव-निर्माण उतनी ही शीघ्रता से आरम्भ हो सकेगा।

दशम अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन—३
पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ

अध्याय-संक्षेपः—

प्रथम-खण्ड—पाठ्यक्रम

प्रस्तावना; पाठ्यक्रम का अर्थ; पाठ्यक्रम का महत्त्व; पाठ्यक्रम-निर्धारण का उत्तरदायित्व; पाठ्यक्रम निर्धारण के आधार—सामाजिक आवश्यकताएँ, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, समन्वय; प्रचलित पाठ्यक्रमों के दोष; सुधार के प्रयत्न; माध्यमिक शिक्षा-कमीशन द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम—प्राथमिक तथा जूनियर विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय; इन पाठ्यक्रमों का मूल्याङ्कन; उपसंहार।

द्वितीयखण्ड—पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ

प्रस्तावना; महत्व; महत्त्व के कारण; क्रियाओं का वर्गीकरण; साहित्यिक क्रियाएँ; सामाजिक क्रियाएँ, शारीरिक क्रियाएँ; मनोरंजनात्मक क्रियाएँ; प्रशिक्षणात्मक क्रियाएँ; विद्यालयों की कठिनाइयाँ और कर्तव्य; उपसंहार।

प्रथमखण्ड—पाठ्यक्रम

प्रस्तावना

विद्यालय-भवन एवं छात्रावास की व्यवस्था के पश्चात् स्वभावतः अध्यापकों

तथा छात्रों के मन में उठता है कि विद्यालय में क्या कराया अथवा किया जाए। विद्यालय मे रहकर छात्र पाठ्यक्रम का अध्ययन तथा कतिपय क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं। अध्यापक मिलकर यह प्रयत्न करते हैं कि छात्रों का अध्यापन और क्रियानुष्ठान सुचारु रूप से चले। अध्ययन और क्रियानुष्ठान करते हुए छात्रों में वे गुण स्वयमेव उत्पन्न होते चलते है, जिन्हें लक्ष्य बनाकर विद्यालय कार्य-प्रवृत्त होता है। फलतः इस अध्याय में हम पाठ्यक्रम और सहगामिनी क्रियाओं की कुछ विस्तार के साथ चर्चा करने जारहे हैं।

पाठ्यक्रम का अर्थ

पाठ्यक्रम का साधारण अभिप्राय उन विभिन्न विषयों से लिया जाता है जो शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाये जाते हैं। सामान्यतया उन विषयों के क्षेत्रों में कुछ निश्चित पुस्तकीय ज्ञान प्रदान कर देना ही विद्यालयों का उद्देश्य समझा जाता है। किन्तु आधुनिक शिक्षा का क्षेत्र और अर्थ अत्यन्त व्यापक हो चला है अतः पाठ्यक्रम का प्राचीन अर्थ भी बदल गया है। अब पाठ्यक्रम का अर्थ अत्यन्त विस्तृत माना जाता है। आधुनिक पाठ्यक्रम में वे सभी अनुभव सम्मिलित किये जाते है, जो छात्र विद्यालय के वातावरण से प्राप्त करता है। कोई भी अनुभव जो छात्र में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करता है, उसके पाठ्यक्रम का अंश है। विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण—अध्ययन, क्रियाएँ तथा सम्पर्क—जो छात्रों के लिये उपस्थित किया जाता है, उसके पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आता है।

पाठ्यक्रम का महत्व

शिक्षा के अचेतन साधनों में पाठ्यक्रम का स्थान और महत्व सर्वोपरि है। बिना पाठ्यक्रम के न तो कोई शिक्षा-प्रणाली हो सकती है और न कोई विद्यालय। शिक्षा कुछ विशिष्ट लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नियोजित होती है और उस पूर्ति का मार्ग पाठ्यक्रम प्रशस्त करता है।

पाठ्यक्रम-निर्धारण का उत्तरदायित्व

पाठ्यक्रम-निर्धारण समाज का उत्तर दायित्व है। समाज अथवा समाज के प्रतिनिधि—व्यवस्थापक अथवा उनके सहयोगी अध्यापक इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं।

इस उत्तरदायित्व के निर्वाह मे वे विशेषज्ञों की सम्मतियों का सहारा भी लेते है परन्तु निर्णय का अन्तिम उत्तरदायित्व उन्हें ही उठाना पड़ता है। जनतन्त्रीय पद्धति में ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

पाठ्यक्रम-निर्धारण के आधार

सामाजिक आवश्यकताएँ – पाठ्यक्रम-निर्धारण का एक आधार उस समाज

की आवश्यकताएँ होती है, जिसमें बालक को विद्यालय से निकलकर अपना जीवन बिताना होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर पाठ्यक्रम में कतिपय विषयों का रखना आवश्यक होजाता है। वे विषय कौन-कौन से हैं, और वे किस प्रकार बालक को समाज के योग्य बनाते हैं, यह निम्नलिखित कथन से ज्ञात हो सकेगा।

(१) मनुष्य बुद्धि और वाणी से युक्त है। विकासक्रम में मनुष्य ने भाषा का सृजन और विकास किया है। वह अपनी वाणी और लेखनी द्वारा अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है अपने अनुभवों को संचित कर सकता है और अपनी कल्पना को मूर्त रूप दे सकता है। मानव-जाति का समस्त अर्जित और संचित ज्ञान भाषा के माध्यम से ही प्रसार और विकास प्राप्त करता है। भाषा के माध्यम से ही मानव दूसरों के ज्ञान और अनुभव का लाभ उठा सकता है और अपने ज्ञान और अनुभव से दूसरों को लाभ पहुँचा सकता है। भाषा के मौखिक और लिखित दोनों ही रूप होते हैं। अतः इनका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। यही कारण है कि भाषा किसी भी पाठ्यक्रम का प्रमुख अंग होती है।

(२) व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहारों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यवहारकर्ता के चिंतन और अभिव्यंजन दोनों बिलकुल यथार्थ और नपे-तुले हैं। चिन्तन में अभीष्ट यथार्थता तथा नपा-तुलापन गणित के योग से उत्पन्न होता है। गणित के योग से चिन्तन, बोध और अभिव्यंजन में सरलता एवं संक्षिप्तता भी आजाती है। इसी उपयोगिता के कारण गणित को भी पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाता है।

(३) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के नियमों के अनुसार चलना पड़ता है। उसे सामाजिक व्यवहार में कुशल होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब वह अपने सामाजिक वातावरण अर्थात् आदर्शों, रीतियों, परम्पराओं तथा परिस्थितियों आदि को समझे और अपने जीवन को उनके अनुकूल बनावे। इसके लिये उसे सामाजिक विषयों का ज्ञान आवश्यक होता है। इस कारण इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, तथा नीतिशास्त्र आदि सामाजिक विषय पाठ्यक्रम के अंग बन जाते हैं।

(४) मनुष्य अपने भौतिक वातावरण को भी समझने का प्रयत्न करता है, जिससे वह उस को नियंत्रित रखता हुआ संतुलित एवं सफल जीवन यापन कर सके। इस उद्देश्य के लिये उसे प्रकृति-विज्ञान के विषयों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। आधुनिक उन्नत वैज्ञानिक युग में इस ज्ञान की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई है। इसी कारण प्रकृति-विज्ञान पाठ्यक्रम में स्थान पाता है।

(५) मनुष्य ने विकासक्रम में जीविकोपार्जन के विभिन्न मार्ग ढूंढ निकाले हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिये जीवन-यापन के उद्देश्य से किसी न किसी व्यवसाय को ग्रहण करना आवश्यक होता है अतः व्यावसायिक विषयों को भी पाठ्यक्रम स्थान दिया जाता है।

(६) मनुष्य केवल मशीन नहीं है। उस के लिए अपने जीवन में विनोद एवं उदात्त भावना को प्रश्रय देना आवश्यक है। उसके अवकाश के समय का सदुपयोग करने को यह भी आवश्यक है कि उसे अपने अवकाश के समय के सदुपयोग करने का साधन मिले। इस उद्देश्य की मूर्ति के लिये विभिन्न कलाएं पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त करती है।

(७) मनुष्य केवल मन ही नहीं तन भी है। और यह भी सत्य है कि मन और तन दोनों की स्वस्थता और अस्वस्थता एक दूसरे को प्रभावित करती रहती है। इसी कारण "स्वस्थ तन में स्वस्थ मन" यह कहावत कही जाती है। तन को स्वस्थ रखने के लिए स्वास्थ्य-विज्ञान की जानकारी तथा नियमित व्यायाम आदि आवश्यक होते है। इसी उपयोगिता के कारण पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य-विज्ञान एवं शारीरिक व्यायाम भी स्थान पाये रहते हैं।

(८) प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डिवी के मतानुसार शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं वरन् स्वयं जीवन है। उसके विचार में शिक्षा अनुभव और जीवन दोनों ही है अतः वे सभी अनुभव जो विद्यालय के वातावरण से प्राप्त होते हैं पाठ्यक्रम के अंग हैं। वे अनभव वहाँ प्रस्तुत किये ही इसलिए जाते हैं कि वे छात्र के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवनों के वर्तमान और भविष्य दोनों कालों के लिए उपयोगी होते हैं।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ—उपरोक्त पाठ्यक्रम साधारणतया छात्र की सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित है किन्तु आधुनिक शिक्षा-शास्त्री इस आधार को अपर्याप्त मानते है। उनके विचार से पाठ्यक्रम निर्धारण में समाज और उसके वयस्क सदस्यों की आवश्यकता और विचारों को उतना महत्व नहीं मिलना चाहिये जितना बच्चों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता अर्थात् आयु, योग्यता और रुचि के। आज की शिक्षा बाल-केन्द्रित है अतः पाठ्यक्रम भी इसके अनुसार ही बाल-केन्द्रित होना चाहिये। सभी विषय सभी बालकों को नहीं पढ़ाये जा सकते। बालकों की व्यक्तिगत रुचि, योग्यता और आयु के अनुसार ही पाठ्यक्रम का विकास होना चाहिये। आरम्भ में मौखिक शिक्षा होनी चाहिये और उसे क्रमशः लिखित शिक्षा की ओर अग्रसर होना चाहिये। आरम्भ में केवल अनभव और निरीक्षण द्वारा शिक्षा देनी चाहिये और पुस्त-

कीय शिक्षा बाद में आनी चाहिये। आरम्भ की शिक्षा क्रिया-प्रधान होनी चाहिये और बाद में पुस्तकों द्वारा। इस प्रकार के पाठ्यक्रम का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में सहायता प्रदान करना है। पाठ्यक्रम बालक के लिये है, बालक पाठ्यक्रम के लिये नहीं। पाठ्यक्रम ऐसा नहीं होना चाहिये कि बालक के लिये बोझिल हो उठे और उसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध कर उसके व्यक्तित्व को विकृत कर दे। सभी छात्र समान योग्यता और समान बुद्धि के नहीं होते। व्यक्तिगत विषमताओं का ध्यान पाठ्यक्रम-निर्धारण में अवश्य होना चाहिये। पाठ्यक्रम प्रगतिशील, विस्तृत और उपयोगी होना चाहिये।

समन्वय—आधुनिक शैक्षिक-विचारधाराओं के अनुसार पाठ्यक्रम-निर्माण में दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय होना चाहिए। फलतः उसमें से कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है। भारतीय माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन (मुदालियर-कमीशन १९५२-५३) ने सभी दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए उन विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित ढंग से किया है :—

(१) यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वोत्तम आधुनिक शैक्षिक विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम का अर्थ केवल वे पुस्तकीय विषय ही नहीं हैं जो परम्परा से विद्यालयों में पढाये जा रहे है। पाठ्यक्रम में वे समस्त अनुभव निहित है, जो बालक विद्यालय में होने वाली विभिन्न क्रियाओं से कक्षा के भीतर, पुस्तकालय में, प्रयोगशाला में, वर्कशाप में, विद्यालय के क्रीड़ा-क्षेत्र में और अध्यापक एवं छात्र के अनेकों अनौपचारिक सम्पर्को में, प्राप्त करता है।

(२) पाठ्यक्रम में विभिन्नता और लचक पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए, जिससे विभिन्न रुचियों और योग्यताओं के बच्चों को अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार पाठ्यक्रम चवन करने की सुविधा हो। जीवन-यापन के लिए आवश्यक सामान्य ज्ञान, क्षमता और व्यवहार-कुशलता का ज्ञान तो सभी व्यक्तियों को आवश्यक है और मिलना चाहिए। किन्तु इनमें भी सभी से समान सफलता-प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

(३) पाठ्यक्रम सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग और उसके घनिष्ठ सम्पर्क में होना चाहिए। बालक के समाज का एक उत्पादक घटक बनाना है। स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार पाठ्यक्रम में उन विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिसे प्राप्त कर छात्र समाज में अपनी जीविका प्राप्त कर सकें और समाज का कल्याण कर सकें।

(४) पाठ्यक्रम का निर्माण इस दृष्टिकोण से किया जाय कि वह छात्र को केवल व्यवसाय का ही प्रशिक्षण न दे वरन् उसे अवकास के क्षणों का सदुप-

प्रयोग करने के लिये भी सक्षम बनावे। इस उद्देश्य से स्कूल में सामाजिक, शारीरिक और सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं का समावेश होना आवश्यक है।

(५) पाठ्क्रम के विषय असम्बन्धित और अन्य विषयों से सर्वथा अलग नहीं होने चाहिए। सम्पूर्ण ज्ञान एक है अतः पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों में सहसम्बन्ध होना चाहिए।

प्रचलित पाठ्यक्रमों के दोष

पाठ्यक्रम-विषयक आधुनिक विचारधारा के प्रकाश में जब हम अपने विद्यालयों के आधुनिक पाठ्यक्रम का समीक्षण करते हैं, तो हमें वर्तमान पाठ्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ और अभाव दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा की आलोचना सभी ओर से हो रही है और पाठ्यक्रम को पुनः-संगठित करने की मांग की जा रही है। माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने माध्यमिक विद्यालयों के वर्तमान पाठ्यक्रम में निम्नाङ्कित दोषों को इंगित किया है, जो न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली मे व्याप्त हैं :—

(१) वर्तमान पाठ्यक्रम संकुचित है। प्राथमिक और माध्यमिक स्तर का अधिकांश पाठ्यक्रम, अब भी इसी उद्देश्य से चल रहा है कि उन स्तरों की परीक्षाएँ पास कर छात्र कालेजों की शिक्षा प्राप्त कर सकें और डिग्रियाँ लेकर नौकरियों की तलाश करें।

(२) पाठ्यक्रम में पुस्तकीय ज्ञान और सैद्धान्तिक बातों पर ही विशेष बल है। यह त्रुटि भी उच्च शिक्षा पर अधिक बल देने ही के कारण है। इसके परिणामस्वरूप विद्यालयों के पाठ्यक्रम में विषय और विषय-वस्तु की बहुलता होगई है।

(३) पाठ्यवस्तु में अनावश्यक विस्तार रख दिया गया है। जीवन से असम्बन्धित, और नीरस विषय-वस्तु केवल स्मरण-शक्ति पर बोझ हो रही है। वास्तविक जीवन में उसका कोई उपयोग नहीं हो पाया है।

(४) प्रायोगिक क्रियाओं के लिये पाठ्यक्रम में बहुत कम सुविधाएँ प्रदान की गई हैं।

(५) वैयक्तिक विभिन्नताओं का ध्यान नहीं रखा गया है। रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है किन्तु पाठ्यक्रम सभी छात्रों को एक ही मार्ग पर चलने के लिये बाध्य कर देता है। व्यक्तिगत विकास पर ध्यान कम रखा गया है। वास्तव में व्यक्तिगत और सामाजिक विकासों का संतुलित समन्वय पाठ्यक्रम में होना चाहिये।

(६) वर्तमान पाठ्यक्रम पर परीक्षा-प्रणाली का घातक प्रभाव पड़ा है। शिक्षा-शिक्षा के लिए न होकर केवल परीक्षा के लिए होती है।

(७) प्राविधिक तथा व्यावसायिक विषयों का व्यवहारतः अब भी अभाव है। वर्तमान युग में इन पर अधिक बल होना आवश्यक है।

सुधार के प्रयत्न

इन विभिन्न दोषों के कारण हमारे विद्यालयों का वर्तमान पाठ्यक्रम हमारे वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अनेक देशों में पाठ्यक्रम निर्धारित करने का उत्तरदायित्व सरकार पर होता है, विशेषकर माध्यमिक स्तर तक। हमारे भारत में भी अभी यही परम्परा चल रही है और राज्य के शिक्षा-विभागों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम ही माध्यमिक स्तर तक चल रहे हैं। अथवा राज्य-सरकार द्वारा संगठित कोई परिषद इस कार्य को करती है। स्वतन्त्र भारत के सभी अधिकरण इस दिशा में प्रयत्नशील है कि भारतीय विद्यालयों का पाठ्यक्रम वर्तमान भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और परिस्थितियों के अनुकूल पुनःसंगठित किया जाय।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने वर्तमान भारत की सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकताओं का विश्लेषण कर, देश की सामर्थ्य और क्षमता को ध्यान में रखते हुये, जिस पाठ्यक्रम का सुझाव रखा है, उसकी रूपरेखा निम्नांकित है :—

प्राथमिक तथा जूनियर विद्यालय

(१) प्राथमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम क्रियाओं पर आधारित होना चाहिए क्योंकि राष्ट्र ने बुनियादी (बेसिक) शिक्षा-योजना को स्वीकार कर लिया है। अतः इस स्तर पर बेसिक पाठ्यक्रम अथवा उससे मिलता जुलता पाठ्यक्रम होना ही उचित है।

(२) मिडिल अथवा जूनियर हाईस्कूल अथवा सीनियर बेसिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम प्राथमिक पाठ्यक्रम के विकास-क्रम में ही होना चाहिए ताकि दोनों स्तरों के पाठ्यक्रम में असमानता न हो जाय। इस स्तर के शिक्षा-उद्देश्यों और आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुये निम्नलिखित पाठ्यक्रम रखा जाना चाहिए :—

(१) भाषायें (२) सामाजिक अध्ययन (३) सामान्य विज्ञान (४) गणित (५) कला और संगीत (६) कौशल (क्राफ्ट) (७) शारीरिक शिक्षा।

भाषाओं में मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा, संघीय भाषा और अंगरेजी का स्थान हो सकता है। अंगरेजी ऐच्छिक भाषा हो सकती है। मातृभाषा के अतिरिक्त केवल दो अन्य भाषायें पढ़ाई जानी चाहिए जिससे पाठ्यक्रम बहुत बोझिल न हो जाय। क्राफ्ट का चुनाव स्थानीय आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए।

माध्यमिक विद्यालय

इसी प्रकार कमीशन ने उच्च और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के लिए निम्नांकित पाठ्यक्रम का सुझाव रखा है :—

(अ) (१) मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा अथवा मातृभाषा और प्राच्य भाषा का सम्मिलित पाठ्यक्रम।

(२) निम्नाङ्कित भाषाओं में से कोई एक :—

(अ) हिन्दी (उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी न हो)

(आ) प्रारम्भिक अंगरेजी (उनके लिए जिन्होंने मिडिल स्तर पर अंगरेजी नहीं पढ़ी है)

(इ) उच्च अंगरेजी (उनके लिए जो मिडिल स्तर पर अंगरेजी पढ़ चुके हैं।)

(ई) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी को छोड़ कर)

(उ) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंगरेजी के अतिरिक्त)

(ऊ) एक प्राच्य भाषा

(आ) (१) **सामाजिक अध्ययन**—सामान्य पाठ्यक्रम (केवल प्रथम दो वर्षों में)

(२) **सामान्य विज्ञान, गणित-समेत**—सामान्य पाठ्यक्रम (केवल प्रथम दो वर्ष)

(इ) निम्नाङ्कित कौशलों में से एक कौशल (आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है)

(१) कताई और बुनाई

(२) लकड़ी का काम

(३) धातु का काम

(४) बागवानी

(५) दर्जी का काम

(६) छपाई (Topography)

(७) वर्कशाप का अभ्यास

(८) सिलाई, कसीदाकारी और कढ़ाई का काम

(६) माडल बनाना Modelling

(ई) निम्नांकित वर्गों में से किसी एक वर्ग के तीन विषय :—

वर्ग (१) (साहित्यिक)

(अ) एक प्राच्य भाषा अथवा (अ) (२)से कोई तीसरी भाषा, जो पहले न ली गई हो।

(आ) इतिहास

(इ) भूगोल

(ई) अर्थशास्त्र और नागरिकशात्र के तत्व-सिद्धान्त

(उ) मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र के तत्व-सिद्धान्त

(ऊ) गणित

(ए) संगीत

(ए) गृह-विज्ञान

वर्ग (२) विज्ञान

(अ) भौतिक विज्ञान

(आ) रसायन-विज्ञान

(इ) जीव-विज्ञान

(ई) भूगोल

(उ) गणित

(ऊ) शारीरिक विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान (जीव-विज्ञान के साथ नहीं होना चाहिए)

वर्ग (३) तकनीकी)

(अ) व्यावहारिक गणित ज्योमेट्रिकल ड्राइङ्ग

(आ) व्यावहारिक विज्ञान

(इ) मेकेनिकल इंजीनियरिंग के तत्व-सिद्धान्त

(ई) विद्युत इंजीनियरिंग के तत्व सिद्धान्त

वर्ग (४) (वाणिज्य)

(अ) वाणिज्य-व्यवहार

(आ) हिसाब-किताब (बुक-कीपिंग)

(इ) वाणिज्य-भूगोल अथवा अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र के तत्व-सिद्धान्त

(ई) आशुलिपि और टंकन

वर्ग (५) (कृषि)

(अ) सामान्य कृषि

(आ) पशु-विज्ञान
(इ) वृक्ष-विज्ञान और बागवानी
(ई) कृषि-रसायन और वनस्पति-शास्त्र

वर्ग (६) (ललित कलाएँ)
(अ) कला का इतिहास
(आ) ड्राइङ्ग और डिजाईनिंग
(इ) चित्रकला
(ई) माडल-रचना
(उ) संगीत
(ऊ) नृत्य

वर्ग (७) (गृह-विज्ञान)
(अ) गृह-अर्थशास्त्र
(आ) पोषक तत्व और पाक-विद्या
(इ) मातृ-कौशल और शिशु-रक्षा
(ई) गृह-प्रबन्ध और घरेलू रोगी-परिचर्या
(उ) इनके अतिरिक्त ऐच्छिक विषय के रूप में कोई छात्र किसी भी वर्ग से एक अतिरिक्त विषय ले सकता है।

इन पाठ्यक्रमों का मूल्यांकन

पाठ्यक्रम-निर्धारण के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हमने ऊपर किया है, उनकी कसौटी पर कसने के बाद ये प्रस्तावित पाठ्यक्रम अत्यन्त उपयोगी ज्ञात होते हैं। किन्तु अनेक शिक्षाविदों के अनुसार ये बहुत बोझिल हो गये हैं। इधर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें कुछ न्यूनाधिक परिवर्तनों के बाद इन पाठ्यक्रमों को समस्त देश में लागू करने के लिए प्रयत्नशील है। हमारे विद्यालयों के पाठ्यक्रम में क्रमशः सुधार हो रहा है और उनमें आधुनिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जा रहा है।

उपसंहार

इस परिस्थिति में हमारे प्रधानाध्यापकों और अध्यापकों का क्या कर्तव्य है ? स्वतन्त्र भारत में अध्यापकों और प्रधानाध्यापकों की पाठ्यक्रम-सम्बन्धी स्वतन्त्रता और अधिकार बढ़ रहे हैं। उन्हें पाठ्यक्रम में स्थानीय दशाओं, छात्रों की संख्या, योग्यता आदि के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्धारित पाठ्यक्रम को क्रियान्वित करने का भार अध्यापक-वर्ग पर है। पाठ्यक्रम का संगठन, विभाजन, प्रस्तुतीकरण आदि अध्यापकोंके ऊपर है। अतः प्रधानाध्यापक और अध्यापकों

का संयुक्त प्रयत्न होना चाहिये कि निर्धारित पाठ्यक्रम से छात्र अधिक के अधिक लाभ उठा सकें। पाठ्यक्रम का निर्धारण जिन उद्देश्यों को लेकर किया गया है, यदि उन उद्देश्यों की प्राप्ति विद्यालयों की शिक्षा द्वारा सम्भव नहीं हुई, तो सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था ही व्यर्थ हो जायगी और समाज के प्रति महान विश्वासघात होगा। अतः इस दिशा में हमारे विद्यालयों को सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है।

पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ

प्रस्तावना

हम पहिले लिख चुके है कि आधुनिक शैक्षिक विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम का अर्थ केवल पाठ्यक्रम-पुस्तकों का ज्ञान नहीं है। पाठ्यक्रम मे वे समस्त अनुभव सम्मिलित माने जाते है, जो विद्यालय मे होने वाली विभिन्न क्रियाओं से छात्र को प्राप्त होते है। इस परिभाषा के अनुसार वे समस्त क्रियाएँ जो छात्र की अनुभव वृद्धि में सहयोग प्रदान करती है, पाठ्यक्रमीय क्रियाएँ कही जानी चाहिए। परन्तु कुछ ऐसी परम्परा बन गई हैं कि वे क्रियाएँ, जिनका उद्देश्य किसी ज्ञान-क्षेत्र (विषय) में आने वाली जानकारियाँ देना न होकर सामाजिक अनुभव प्रदान करना होता है, पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियायें कही जाती हैं। इस अध्याय के इस खण्ड मे इसी प्रकार की क्रियाओं की चर्चा की जायगी।

महत्व

वास्तव में इन क्रियाओं द्वारा प्राप्त अनुभव अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्थायी होता है। वास्तविक जीवन में पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा इन अनुभवों से बहुत सहायता मिलती है। सामाजिक जीवन मे प्रत्येक पद पर इन अनुभवों द्वारा प्रदत्त गुणों की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण प्रत्येक नागरिक की शिक्षा में इन क्रियाओं का उचित स्थान होना आवश्यक है। इसीलिये ये क्रियाएँ पाठ्यक्रम की सहगामिनी मानी जाने लगी है।

महत्व के कारण

इन क्रियाओं के महत्व का कारण उनकी उपयोगिता और अनुभव प्रदान करने की क्षसता है। इन क्रियाओं से छात्र को मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का अवसर प्राप्त होता है। इनसे प्राप्त होने वाले अनेकानेक लाभों से कुछ का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है :—

(१) विद्यालय समाज का लघु रूप है। इसमें होने वाली विभिन्न [illegible] क्रियाओं द्वारा सामाजिक गुणों का विकास होता है। छात्र सामाजिक जीवन द्वारा सुनागरिकता का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

सुनागरिक जीवन के लिये सहनशीलता, नेतृत्व, सहयोग, उदारता, न्याय आदि गुण परमावश्यक हैं। इनकी उत्पत्ति और वृद्धि पाठ्यक्रम-सहगामिनी-क्रियाओं द्वारा ही होती हैं।

(२) इन क्रियाओं द्वारा चारित्रिक प्रशिक्षण बहुत अच्छी तरह से दिया जा सकता है। मुदालियर-कमीशन रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा का महानतम उद्देश्य चरित्र और व्यक्तित्व का प्रशिक्षण है, जिससे छात्र अपनी स्वाभाविक शक्तियों का चरम विकास प्राप्त करके समाज के कल्याण में सहयोग प्रदान कर सकें।

(३) शारीरिक विकास की दृष्टि से भी इन क्रियाओं का बड़ा महत्व है। स्वास्थ्य-वर्द्धक क्रियाएँ छात्रों के शरीर और मस्तिष्क को स्वस्थ रखती हैं। किसी भी राष्ट्र के लिये नागरिको का स्वास्थ्य बहुमूल्य सम्पत्ति होता है।

(४) मानव-स्वभाव किसी भी कार्य मे सदैव लीन रहने के प्रतिकूल है। वह परिवर्तन चाहता है। छात्र सदैव अध्ययन में ही लीन नहीं रह सकते। और खाली मस्तिष्क शैतान का घर होता है। अतः छात्रों के लिये पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का होना अनिवार्य हो जाता है, जिससे वे अपने अवकाश और समय का सदुपयोग कर सकें और अपने भविष्य जीवन के लिये उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर सकें।

(५) इन क्रियाओं के द्वारा ही छात्रों में Esprit-de-corps की भावना उत्पन्न होती है और वे अपने विद्यालय से प्रेम करने लगते हैं। अनुशासन, संगठन, संयम आदि नागरिक गुणों का विकास इन्ही क्रियाओं द्वारा होता है।

क्रियाओं का वर्गीकरण

सभी पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का वर्गीकरण भी साहित्यिक, सामाजिक, शारीरिक, मनोरंजनात्मक तथा प्रशिक्षणात्मक वर्गों में किया जा सकता है। किन्तु यह वर्गीकरण मुख्य उद्देश्य को दृष्टि में रखकर किया गया हैं, यों कुछ क्रियाएँ सभी वर्गों में सम्मिलित की जा सकती है।

साहित्यिक क्रियाएँ

साहित्यिक क्रियाओं में साहित्यिक गोष्ठी, वाद-विवाद, व्याख्यान, अन्त्याक्षरी, कवि-सम्मेलन, लेख-प्रतियोगिता, वाचनालय-अध्ययन, विद्यालय-पत्रिका, भित्ति-पत्रिका, भाषण-प्रतियोगता एवं शैक्षिक पर्यटन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य छात्रों का मानसिक और बौद्धिक विकास करना होता है। पाठ्य-पुस्तकें केवल सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान कर सकती हैं किंतु व्यावहारिक ज्ञान इन क्रियाओं द्वारा ही सम्भव है। इन क्रियाओं का उद्देश्य स्पष्ट रूप से छात्रों के सम्मुख होना चाहिए। इनका विषय पूर्व-निर्धारित होना

चाहिये। उदाहरण के लिए, साहित्य-गोष्ठियो, वाद-विवादों, लेख-प्रतियोगिताओं आदि में विषयों के पूर्व-निर्धारित रहने से छात्रों को अध्ययन और मनन का अवसर मिलता है। वे उस विषय को व्यवस्थित रूप में तैयार करते हैं और अनेक प्रकार की नवीन बातों को सीखते है। इन क्रियाओं द्वारा छात्रों में आत्माभिव्यंजन की क्षमता उत्पन्न होती है। भाषण देना एक कला है और आधुनिक जनतन्त्रीय युग में इसका महत्व अवर्णनीय है। यह देखा गया है कि जो छात्र अपने छात्र-जीवन में अच्छे वक्ता होते हैं, वे नागरिक जीवन में सफल नेता होते हैं। वे छात्र-जीवन में भाषण-कला का अभ्यास कर लेते है और आगे चल कर किसी सभा में बोलने में नहीं हिचकते।

अन्त्याक्षरी, कवि-सम्मेलन और पर्यटन आदि का साहित्यिक महत्व तो है ही, किन्तु उनका सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। इनसे बुद्धि और चातुर्य का विकास तो होता ही है, साथ ही साथ हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों को पोषक तत्व प्राप्त होता है। सौन्दर्यानुभूति का अनुभव काव्य द्वारा ही सम्भव है। कवि-सम्मेलनों में प्रोत्साहन प्राप्त कर अनेक छात्र भविष्य में अच्छे कवि बन जाते है। छात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियो के विकास और अभिव्यंजन का जितना अवसर इन क्रियाओ द्वारा प्राप्त होता है, उतना पुस्तकीय पाठ्यक्रम द्वारा कभी सम्भव नहीं होता।

सामाजिक क्रियाएँ

पाठ्यक्रम-सहगामिनी सामाजिक क्रियाओं में समाज-सेवा, श्रमदान, स्वशासन, पर्वोत्सव, वार्षिक दिवस, विद्यालय-सप्ताह अभिनय, फिल्म-प्रदर्शन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन क्रियाओं द्वारा छात्र समाज के सम्पर्क में आते है और सामूहिक जीवन का अनुभव प्राप्त करते है। छात्रों पर समाज का ऋण है, क्योंकि समाज उनकी शिक्षा की व्यवस्था करता है। विद्यार्थियों को इस भावना का बोध कराने के लिये प्राचीन काल मे भिक्षा पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य अंग थी। आधुनिक काल में ऐसी परम्परा नहीं है। किन्तु आधुनिक काल में समाज-सेवा पर बल दिया जा रहा है। छात्रों के दल गावों में जाकर साक्षरता का प्रचार, सफाई, सड़कों, तालाबो, कुओं, तथा बांधों का निर्माण फसल की बुवाई और कटाई, रोगों की रोकथाम के उपाय और औषधि-वितरण आदि कार्यों में सहयोग प्रदान कर रचनात्मक कार्य करते है और इस प्रकार उनमें समाज के कल्याण और समाज की सेवा की भावनायें उत्पन्न होती है। स्वतंत्र भारत में विद्यालय के छात्रों ने ग्रामीण जनता के सहयोग से इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। सामूहिक उत्सवों, मेलों और प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त इलाकों में जाकर छात्र-वर्ग समाज की विभिन्न प्रकार से सेवा करते हैं।

श्रमदान भी समाज सेवा का अग है। इसके द्वारा छात्रों ने विद्यालय-भवन, सड़क, नालियाँ आदि बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। विद्यालय में श्रमदान की प्रवृत्ति को संगठित क्रियाओं द्वारा प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे बालकों में स्वावलम्बन और परोपकार-भावना की वृद्धि होती है। भारतीय समाज की निर्धनता के कारण अनेक विकास-कार्यों के लिये धनाभाव है अतः श्रमदान की उपयोगिता हमारे लिये बहुत है।

स्वशासन का अनुभव और ज्ञान वर्तमान जनतंत्रीय युग में प्रत्येक नागरिक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। छात्र-जीवन में विभिन्न क्रियाओं द्वारा छात्रों को स्वशासन का अवसर दिया जाना चाहिये। विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं के लिये छात्रों की समितियाँ बना देनी चाहिये। इन समितियों का संगठन प्रजातंत्रीय प्रणाली पर होना चाहिये। विद्यार्थियों द्वारा चुने गये प्रतिनिधि ही इन समितियों के सदस्य हों। प्रत्येक समिति का मार्ग-दर्शन करने और उसकी कार्यवाहियो में उचित सहयोग प्रदान करने के लिये उसमे एक अध्यापक भी होना चाहिये। अध्यापक के उचित परामर्श और सहयोग से छात्र-प्रतिनिधि सरकार की निर्वाचन-प्रणाली और उसके उत्तरदायित्वों का अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेंगे। सुनागरिता के प्रशिक्षण के लिये इन क्रियाओं का विद्यालय में होना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ बडे विद्यालयों में विद्यार्थियों की यूनियनें आधुनिक समय की देन है। इनसे छात्रों को अत्यन्त लाभ हो सकता है किन्तु अभाग्यवश इनमे राजनीति का प्रवेश होगया है और ये समितियाँ छात्रों को लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँचाती है। अनुशासन सम्बन्धी अनेक समस्याएँ इन यूनियनो के कारण ही खड़ी हो जाती है और छात्र अध्ययन के क्षेत्र से राजनीति के क्षेत्र में अवांछित रूप से प्रवेश करते हैं। अनुशासन, खेलकूद, समारोह, पुस्तकालय एवं वाचनालय का प्रबन्ध आदि सामाजिक क्रियाओं के लिये समितियाँ बना देने से छात्रों में उत्तरदायित्व की भावना आ जाती है। वे उत्साह के साथ इन कार्यों को करते हैं। सावधानी इस बात की रखनी चाहिये कि अध्यापक-वर्ग निरन्तर पर्यवेक्षण और निरीक्षण करता हुआ छात्रों को ठीक रास्ते पर चलने के लिये परामर्श और प्रोत्साहन देता रहे।

विद्यालय-उत्सवों के आयोजन भार अधिकांशतः छात्रों पर होना चाहिये। इनके द्वारा उन्हें सामूहिक जीवन का अनुभव प्राप्त होता है और वे आयोजन, संगठन और उद्देश्य-साफल्य का अनुभव प्राप्त करते हैं। यह अनुभव उन्हें जीवन में सामाजिक उत्सवों के संगठन की योग्यता प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। वार्षिक-दिवस, बाल-दिवस, विद्यालय-सप्ताह, नाटक, चल-चित्र-प्रदर्शन आदि

के अवसरों पर छात्र अनौपचारिक रूप से अध्यापकों और समाज के व्यक्तियों के सम्पर्क में आते है और व्यावहारिक ज्ञान की अनेक बातें अनुभव से प्राप्त करते हैं। अध्यापकों को उचित है कि वे इन विभिन्न अवसरों पर छात्रों को उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में लगावें और उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दें कि विद्यालय से बाहर होने पर छात्रों को सामाजिक जीवन में किकर्तव्य विमूढ़ न होना पड़े। विद्यालय की ये क्रियाएँ सामाजिक जीवन की क्रियाओं के ही लघुरूप हैं। इन्हीं से छात्र जीने की कला सीख पाते है।

शारीरिक क्रियाएँ

शारीरिक क्रियाओं मे खेल-कूद, क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं, एवं शारीरिक व्यायाम (P.T.) का परिगणन किया जा सकता है। इनका आयोजन शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से किया जाता है, परन्तु इनसे चारित्रिक लाभ नहीं होते, ऐसी बात नही है। आनुषङ्गिक सामाजिक एव चारित्रिक लाभ तो प्रत्येक पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रिया के साथ जुड़े हुए है।

क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, वालीबाल, कबड्डी, बैडमिटन तथा टैनिस जैसे खेलो में सामूहिक सहयोग, अनुशासन, आत्म-शासन, दल-भावना आदि गुणों की भी आवश्यकता पड़ती है। क्रमशः ये गुण छात्रो के चरित्र के अंग बन जाते है। इन खेलों से स्वास्थ्य के साथ-साथ मनोरंजन भी प्राप्त होता है।

प्रत्येक विद्यालय मे खेलकूद का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। कुछ विद्यालयों में स्थानाभाव के कारण इनका उचित प्रबन्ध नहीं हो पाता है। किन्तु आधुनिक युग मे पाठ्यक्रम का अंश माने जाने के कारण इनका प्रबन्ध विद्यालयों में अनिवार्य रूप से किया जा रहा है।

अध्यापकों को स्वयं भी यथासम्भव और यथाशक्ति छात्रों के साथ खेल में भाग लेना चाहिए। उनको खेलों की व्यवस्था प्रजातांत्रिक प्रणाली पर करनी चाहिये। सभी छात्रों को खेलने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। विभिन्न रुचि और सामर्थ्य के बच्चों के अनुसार विभिन्न खेलों का प्रबन्ध होना चाहिये। यदि सम्भव हो तो (Indoor Games) आभ्यन्तर खेलों का भी प्रबन्ध होना चाहिये। अध्यापकों के नियंत्रण और उचित निर्देशन में कोई भी विद्यालय खेल-कूद में प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता है।

क्रीड़ा-प्रतियोगिताएं भी खेल-कूद की ही अंग हैं। स्वस्थ प्रतियोगिता-भावना जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक होती है। विजय और पराजय की चिन्ता छोड़ कर अपना कर्तव्य करते रहना मानव की ही विशेषता है। अच्छे खिलाड़ियों में इस प्रकार की भावना स्वतः उत्पन्न हो जाती है। वे आत्म-

विश्वास के साथ प्रतिपक्षी का मुकाबला करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते है। आधुनिक काल में विद्यालयों को विभिन्न मैचो और टूर्नामेन्टस् में अपनी टीमों को भेजने का अवसर मिलता है। अन्तर-विद्यालयी, प्रादेशिक, अखिल देशीय आदि भिन्न स्तरों की क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं का प्रचलन चल पड़ा है। राष्ट्रीय निर्माण-योजनाओं में भी विभिन्न क्रीडा-प्रतियोगिताओं की सुविधा प्रदान की गई हैं।

शारीरिक-प्रशिक्षण भी (ड्रिल) प्रत्येक प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालय में अनिवार्य होना चाहिये। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों का व्यायाम होता है और छात्रों को स्वास्थ्य, सुडौलता तथा शरीर-नियंत्रण की शक्ति प्राप्त होती है। विद्यालय की समय-सारिणी मे इसका प्रबन्ध किया जाना चाहिये। प्रत्येक कक्षा का कुछ निश्चित समय पी. टी. के लिये होना चाहिये। ड्रिल का समय इस प्रकार निश्चित करना चाहिए कि वह भोजन के समय से पर्याप्त दूर पड़े। भोजन करके आये हुए छात्रों से ड्रिल कराना हानि के अतिरिक्त और क्या करेगा? कभी-कभी समस्त छात्रों की सामूहिक ड्रिल भी होनी चाहिये। इस कार्य के लिये एक विशेष पी० टी० निर्देशक तो रहता ही है, किंतु सभी अध्यापकों को इसका प्रशिक्षण मिलना चाहिये ताकि अवसर पर वे स्वयं अपनी कक्षाओं की ड्रिल करा सकें।

मनोरंजनात्मक क्रियाएँ

प्रिय-व्यापारो (Hobbies), उल्लास-यात्राओ, वन-विहारो तथा अभिनयों आदि के आयोजन को मनोरंजनात्मक क्रियाओ मे गिना जा सकता है। धीरे-धीरे ये सभी विद्यालयों की अंग बनती चली जारही है। इनका प्रकट उद्देश्य तो मनोरंजन होता है परन्तु इनका शैक्षणिक महत्त्व भी कम नहीं होता। ये विद्यालय-जीवन से थकान तथा नीरसता को दूर करके छात्रो में नई स्फूर्ति और शक्ति भर देते है। इनके आयोजन में सहयोग आदि सामाजिक गुणो का भी विकास होता है।

Hobbies—प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये फोटोग्राफी, और चित्रकला आदि रुचिकर व्यापारों में से कोई न कोई व्यसन पसन्द कर लेना चाहिये। इससे अवकाश के समय का सदुपयोग होता है और मनोरंजन का मार्ग निकल आता है। छात्रों को विभिन्न रुचिकर Hobbics के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। उन्नत देशों में इसका अधिक प्रचार है। इन कार्यों द्वारा मानसिक, शारीरिक, सांस्कृतिक विकास प्राप्त किया जा सकता है। जीविका के मुख्य साधन के नष्ट हो जाने पर कभी-कभी ये प्रिय व्यापार जीविका के उपयोगी साधन बन जाते हैं।

प्रशिक्षणात्मक क्रियाएँ

स्काउटिंग,एन० सी० सी०, ए० सी० सी०, तथा रेडक्रॉस् आदि से सम्बद्ध क्रियाओं को प्रशिक्षणात्मक क्रियाओ में रखा जा सकता है। इनका प्रयोजन छात्र मे विशेष प्रकार की अभिरुचियाँ तथा योग्यताएँ उत्पन्न करना होता है और इस लक्ष्य से उनका विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता है।

स्काउटिंग तथा गर्ल गाइड—आधुनिक समय मे चारित्रिक शिक्षा एवं नागरिकता की शिक्षा देने के लिये बालचर सस्था तथा गर्ल गाइड संस्था से अधिक प्रभावशाली आन्दोलन अन्य नही है। यह सभी अवस्था के छात्रों तथा छात्राओं के लिये लाभदायक है। इनके द्वारा छात्र एवं छात्राएँ चारित्रिक विकास का अवसर प्राप्त करते है। वे स्फूर्ति, सेवा, कर्मठता, कार्यक्षमता, चतुरता, विनय, अनुशासन आदि गुणो का उपार्जन करते है।"इसकी विभिन्न प्रकार की खेलकूद, क्रियाओं के आधार पर व्यावहारिक बुद्धि,समाज-सेवा, उत्तम व्यवहार, नेताओ के प्रति श्रद्धा, राज्य के प्रति भक्ति, और किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने की शक्ति, के आदर्शों की आधारशिला रखना सम्भव है।" (मुदालियर कमीशन) प्रत्येक विद्यालय मे इन सस्थाओं की शाखाएँ होनी चाहिए। छात्रों के लिए स्काउटिंग-शिविरा का आयोजन होना आवश्यक है। इनसे बड़ा भारी लाभ होता है। वास्तविक परिस्थितियों मे रहते हुए छात्र एवं छात्राएँ शिविर-जीवन मे उपयोगी अनुभव प्राप्त करते है। सस्था के नियमों को यदि पूर्णतः पालन किया जाए, तो बालचर से बढ़कर उत्तम नागरिक कोई अन्य नही है। इधर ५० वर्षों मे इस आन्दोलन का प्रचार भारत में बहुत हुआ है। किन्तु इस पर अधिक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

ए० सी० सी० और एन० सी० सी०—इनका प्रचार अभी हाल में बढ़ा है। नागरिको को आवश्यकता पड़ने पर देश और राष्ट्र के लिए युद्ध करना पड़ सकता है अतः नागरिक जीवन मे सैनिक शिक्षा भी आवश्यक है। छात्रों को सैनिक शिक्षा देने के उद्देश्य से ए० सी० सी० और एन० सी० सी० का विकास हुआ। इनके द्वारा भी चारित्रिक, शारीरिक और मानसिक विकास होता है। छात्रों में अनुशासन और नेतृत्व शक्ति का विकास करने में इन क्रियाओं से बड़ी सहायता मिलती है। छात्रों को इनके अन्तर्गत परेड तथा अन्य शारीरिक काम करने पड़ते है। देश-प्रेम और सेवा-भावना की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। ए० सी० सी० और एन० सी० सी० के छात्रों ने अपने श्रमदान द्वारा देश-हित के अनेक प्रशंसनीय कार्य किये हैं।

इन क्रियाओं के व्यवहारिक प्रशिक्षण के लिये इनके वार्षिक शिविरों का आयोजन किया जाता है और क्रियात्मक क्रियाओं द्वारा नागरिकता एवं सैनिक-

जीवन की शिक्षा दी जाती है। लड़कियों के लिये भी सैनिक शिक्षा की योजना चालू कर दी गई है। सरकार और जनता के सहयोग से अधिकाधिक शिक्षा संस्थाओं में इनकी शाखाएँ खुलती जा रही हैं।

रेडक्रास—यह एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था है। विद्यालयों में जूनियर रेडक्रास सोसाइटी की शाखाएँ होती है। इनका उद्देश्य दुखी और पीड़ित मानवता की सहायता और सेवा करना है। विपद्-ग्रस्त मानव को भोजन वस्त्र और दवाएँ पहुँचाने का कार्य रेडक्रास संस्था करती है। अन्तरराष्ट्रीय रेडक्रास संस्था का व्यय चन्दे द्वारा चलता है। विद्यार्थी इसमें पर्याप्त सहयोग दे सकते हैं। स्वास्थ्य और स्वच्छता का प्रचार कर रेडक्रास के छात्र देश और राष्ट्र का महान हित कर सकते है। अन्तरराष्ट्रीय संस्था होने के नाते इसके द्वारा छात्रों में विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रचार भी शीघ्रता से हो सकता है।

विद्यालयों की कठिनाई और कर्तव्य

हमने ऊपर विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी-क्रियाओं का उल्लेख किया है। इन क्रियाओं के महत्व के विषय में भी हम कह चुके हैं। यह सम्भव नहीं है कि ये सभी क्रियाएं किसी विद्यालय में आयोजित की जा सकें। किन्तु प्रत्येक विद्यालय को इनमें से अधिक से अधिक क्रियाओं को स्थान देने का प्रयत्न करना चाहिये। विद्यालयों की मुख्य कठिनाई इस दिशा में धनाभाव, स्थानाभाव और समयाभाव के कारण होती है। किन्तु इनके महत्व को देखते हुये प्रत्येक विद्यालय का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार कम से कम इतनी पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का आयोजन करे कि विद्यालय का प्रत्येक छात्र किसी न किसी क्रिया में भाग ले सके। धनाभाव को अभिभावकों और सरकार की सहायता से दूर किया जा सकता है। स्थानाभाव भी जनता और सरकार की सहायता से दूर हो सकता है। किन्तु समयाभाव की समस्या अध्यापकों से सम्बन्ध रहती है। अध्यापकों को इन क्रियाओं में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिये और छात्रों के हित में अधिकाधिक परिश्रम द्वारा इन क्रियाओं का संगठन करना चाहिये।

उपसंहार

यदि उचित संगठन और संचालन न हुआ तो इन क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। अनेक लोगों को वैसे भी शंका रहती है कि इन क्रियाओं के कारण अध्ययन में विघ्न पड़ता है और छात्रों का अमूल्य समय नष्ट होता है। अध्यापक भी डरते हैं कि इन क्रियाओं के कारण उनका कार्यभार बढ़ जायगा। किन्तु सत्य तो यह है कि इन क्रियाओं द्वारा हम उन्नत

नागरिकों को उत्पन्न कर सकते हैं। विनय और अनुशासन की अनेक समस्याएँ इनके आयोजन से स्वतः सुलझ जायँगी और छात्रों तथा अध्यापकों दोनों ही को इनसे बहुत लाभ होगा। प्रत्येक अध्यापक के ऊपर किसी न किसी पाठ्य-क्रम-सहगामिनी क्रिया का भार होना चाहिये। इस प्रकार भार का बंटवारा हो जाने पर कार्य सुगमता से हो सकता है। छात्रों को इन क्रियाओं के संगठन में सम्मिलित करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है इन क्रियाओं का संगठन प्रजातंत्रीय प्रणाली द्वारा होना चाहिये जिससे छात्र नागरिक-जीवन के उत्तरदायित्वों, अधिकारों और कर्तव्यों से भली प्रकार परिचित हो जायँ।

एकादश अध्याय

विद्यालय के अचेतन साधन–४

समय-विभाग

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना ; समय-विभाग का अर्थ और महत्त्व ; समय-विभाग-निर्माण के सिद्धान्त—(१) समय-विभाग बाल केन्द्रित हो, (२) समय का सदुपयोग हो, (३) पाठ्य-वस्तु का मनोवैज्ञानिक वितरण हो, (४) अध्यापकों की सुविधा पर ध्यान रहे, (५) सरलता और स्पष्टता भी, (६) व्यवहारिकता ध्यान में रहे; समय-विभाग का पालन; दो प्रकार के समय-विभाग; नवीन पद्धतियों में; आदर्श सयय-विभाग; उपसंहार ।

प्रस्तावना

विद्यालय एवं छात्रावास में रहते हुए छात्रों को क्या सीखना है और क्या करना है, यह पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है । सभी विषय एक साथ नहीं पढ़ाये जा सकते और न सब क्रियाएं ही एक साथ कराई जा सकती है अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनके पढ़ाने और कराने में क्या क्रम रहे और किस-किस को किस-किस समय और कितनी देर तक पढ़ाया या कराया जाए । इसी प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि इन प्रश्नों के

उत्तर के पीछे क्या-क्या सिद्धान्त काम कर रहे है। इन तथा ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया जायगा।

समय-विभाग का अर्थ एवं महत्त्व

अर्थ—विभिन्न विषय एवं क्रियाएँ किस-किस समय कितनी-कितनी देर तक पढाए या कराये जाने हैं, इस बात के लेखे को समय-विभाग कहते हैं। प्रत्येक विद्यालय में इस प्रकार का एक-एक समय-विभाग होता है। समय-विभाग उचित सिद्धान्तों के आधार पर बना है या नहीं, यह अलग प्रश्न है, परन्तु होता अवश्य है।

महत्त्व—पाठ्यक्रम का संचालन तथा सहगामिनी क्रियाओं के संपादन कराने और फलतः विद्यालय के उद्देश्यों की सफल प्राप्ति के लिए प्रत्येक विद्यालय में एक सुनियोजित, सुव्यवस्थित, मनोविज्ञान एवं स्वास्थ्य-विज्ञान के परीक्षित सिद्धान्तों पर आधारित और प्रगतिशील समय-विभाग आवश्यक होता है। समय-विभाग के अभाव में विद्यालय एक संगठन न रहकर एक भीड़ बन जायगा और उसमें कोई भी क्रिया सुव्यवस्थित रूप में न चल सकेगी। उलटा-सीधा समय-विभाग भी विद्यालय के उद्देश्यों की प्राप्ति कराने में सफल न हो सकेगा। यदि वह शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के सुपरीक्षित सिद्धान्तों पर आधारित न हुआ, तो उससे काम भले चलता रहे परन्तु छात्रों और अध्यापकों को अपने श्रम और समय के व्यय का पूरा फल नहीं मिल सकेगा। उचित प्रकार के समय-विभाग से रहित विद्यालय में रहकर छात्रों को जीवन को योजना-पूर्वक बिताने का अभ्यास नही होगा। इस कारण समय-विभाग और एक अच्छा समय-विभाग प्रत्येक विद्यालय की आधारभूत आवश्यकता होती है।

समय-विभाग-निर्माण के सिद्धान्त

समय-विभाग बनाना प्रधानतः प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है। यों वह सहायता अन्य अध्यापकों की भी ले सकता है। समय-विभाग बनाते समय उसे अनेक बातों का ध्यान देना आवश्यक है। उसे इसके निर्माण में पाठ्यक्रम, सहगामिनी क्रियाओं, कक्षाओं, छात्रों, अध्यापकों तथा कर्मचारियों आदि सभी का ध्यान रखना चाहिए। उसका निर्माण करते समय प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिए :

समय-विभाग बाल-केन्द्रित हो—आधुनिक शिक्षा बाल-केन्द्रित शिक्षा है अतः समय-विभाग भी बाल-केन्द्रित होना चाहिए। समय-विभाग बनाते समय छात्रों की आयु, योग्यता और रुचि का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। कम आयु के बच्चे शीघ्र थक जाते हैं, उनके समयविभाग में इस सत्य को ध्यान

आवश्यक हैं। पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को बालकों की रुचि के अनुसार व्यवस्थित करने का प्रयत्न होना चाहिये। यदि अनेक विषयों के पढ़ने की सुविधा हो, तो समय-विभाग लचीला होना चाहिये, जिससे छात्र अपनी रुचि के क्रम से विषयों का अध्ययन कर सकें। बालक के स्वभाव और उनकी रुचियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुये जो समय-विभाग होगा, वह बालकों को अधिक पसन्द आयेगा और वे अधिक कार्य कर सकेंगे।

बालकों में कार्य करने की पर्याप्त क्षमता होती है। किन्तु वे लगातार एक ही प्रकार का कार्य देर तक नहीं कर सकते हैं। उनमें शारीरिक और मानसिक थकान उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस थकान के उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। उनके न जानने से हम बच्चों की स्वाभाविक थकान को भी शरारत समझ बैठते है और उनसे आशा रखते हैं कि वे प्रौढ़ों की भाँति आचरण करें। कुशल प्रधानाध्यापक बच्चों की इस प्रवृत्ति का जानकार होता है और समय-विभाग का इस प्रकार निर्माण करता है कि बच्चों में थकान न उत्पन्न होने पावे। थकान से अरुचि होती है और अरुचि न होने देने की दवा है कार्य-परिवर्तन। आधुनिक मनोविज्ञान एक अति उन्नत विज्ञान है। अरुचि और थकान के कारणों पर पर्याप्त शोध-कार्य हुआ है। मनोविज्ञान ने इसका पता लगा लिया है कि विभिन्न आयु-वर्ग के बच्चे कितने समय तक एकाग्र मन से किसी कार्य को कर सकते हैं। चतुर अध्यापक और प्रधानाध्यापक इन खोजों से लाभ उठाते हैं और अपने समय-विभाग में कार्य-परिवर्तन का विशेष ध्यान रखते हैं ताकि बच्चों की रुचि बनी रहे। अध्ययन के लिये निश्चित अन्तरों के बीच में कुशल प्रधानाध्यापक कुछ शारीरिक व्यायाम आदि भी रख देते हैं। विशेषकर छोटी आयु के बच्चों का समय-विभाग अत्यन्त रोचक होना चाहिये, जिससे उनकी स्फूर्ति और रुचि बनी रहे। क्रमशः अभ्यास बढ़ने के साथ-साथ बच्चे अधिक समय तक एकाग्र चित्त से कार्य करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। समय-विभाग न तो इतना जटिल हो कि बच्चे विद्यालय को कारागार समझने लगें और न इतना ढुलमुल हो कि उनके समय और जीवन को व्यर्थ नष्ट करे। अधिकतर बालक स्वयं स्वभावतः निश्चित, नियमित और व्यवस्थित कार्य-पद्धति पसन्द करते है।

(२) **समय का सदुपयोग हो**—छात्र जीवन का प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण एवं भावी सम्भावनाओं से पूर्ण होता है। विद्यालय का कर्तव्य है कि वह छात्र को विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त रखे और उसके अमूल्य समय को नष्ट न होने दे। समय-विभाग में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि छात्र अपने प्राप्य

समय में शिक्षा का अधिक से अधिक लाभ उठा सके। विद्यालय में शिक्षण-कार्य वर्ष में कितने दिन होगा, कितनी छुट्टियाँ होंगीं, प्रतिदिन कितना समय उपलब्ध होगा आदि बातों को प्रायः शिक्षा-विभाग अथवा राज्य सरकारें नियत करती हैं। प्रधानाध्यापक को समय-विभाग बनाते समय इन सभी बातों की गणना कर लेनी चाहिये। समय-विभाग में स्थानीय जन-जीवन, जलवायु की दशा, स्थानीय व्यवसाय आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। मुदालियर-कमीशन-रिपोर्ट के अनुसार विद्यालय में शिक्षण-कार्य वर्ष में २०० दिनों से कम नहीं होना चाहिये। प्रति सप्ताह कम से कम ३५ अन्तर शिक्षण-कार्य होना चाहिये और प्रत्येक अन्तर ४५ मिनट का होना चाहिये। इसमें विद्यालय की पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। विद्यालय-कार्य नियमित रूप से सप्ताह में ६ दिन होना चाहिये। इसमें एक दिन अर्ध-दिवस होना चाहिये ताकि शेष समय में छात्र और अध्यापक पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं पर विशेष ध्यान दे सकें। विद्यालय में दो माह का ग्रीष्मावकाश तथा दस पन्द्रह दिवस के दो अवकाश उचित समय पर बीच में होने चाहिये। शेष छुट्टियाँ कम से कम कर देनी चाहिये। इन बातों का उचित ध्यान रखकर जो समय उपलब्ध है, उसे विभिन्न विषयों की पाठ्य सामग्री की कठिनता के अनुसार सानुपात विभक्त कर दिया जाना चाहिये।

(३) **पाठ्यवस्तु का मनोवैज्ञानिक वितरण हो**—समय-विभाग में विभिन्न विषयों का स्थान मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिये। सभी विषय समान नहीं होते। उनकी प्रकृति में भिन्नता पाई जाती है। कुछ विषयों के अध्ययन में अधिक मानसिक श्रम करना पड़ता है और कुछ में अपेक्षाकृत कम। उदाहरणार्थ, गणित कठिन विषय है और विशेष मानसिक श्रम चाहता है। मनोवैज्ञानिकों ने विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विषयों की प्रकृति के आधार पर उनका क्रम इस प्रकार रखा है—गणित, भाषाएँ, भौतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, कला कौशल (क्राफ्ट) आदि।

विषयों के मनोवैज्ञानिक आधार के साथ छात्रों के मनोवैज्ञानिक आधार का संतुलन करने से समय-विभाग उत्तम बन सकता है। मानसिक श्रम थकावट उत्पन्न करता है। जो विषय अधिक मानसिक श्रम चाहते हैं, उनको ऐसे समय रखना चाहिए जबकि छात्रों के मस्तिष्क ताजे हों। इसी प्रकार क्रमवार अन्तरों में कठिन नहीं होने चाहिए। कठिन और सरल-विषय एक दूसरे के बाद आते रहें, तो थकावट का प्रभाव कम होगा। इसी आधार पर मौखिक और लिखित कार्य भी बारी-बारी से आने चाहिए। प्रातःकाल का विद्यालय-समय ग्रीष्म और बरसात में अच्छा रहता है क्योंकि इन ऋतुओं में उसी समय

छात्रों का ध्यान अध्ययन में अधिक केन्द्रित हो सकता है । किन्तु जाड़ों में दिन का समय उत्तम होता है । रुचि के विचार से प्रथम अन्तर साधारण रहता है क्योंकि छात्र घर से अथवा छात्रावास से आकर शीघ्र अध्ययन में लीन नहीं हो पाते हैं । द्वितीय और तृतीय अन्तरों में उनकी शक्तियाँ खुल जाती हैं अतः वे बहुत अच्छे माने जाते हैं । इसी प्रकार विद्यालय के अंतिम अन्तर तक छात्र थकावट का अनुभव करने लगते हैं । इनमें कठिन विषय नहीं रखने चाहिये । प्रत्येक दो अन्तरों के बाद कुछ अन्तराल (Recess) होना चाहिये । बीच में मुख्य अन्तराल कुछ बड़ा होना चाहिये । इन अवकाशों में छात्र फिर से ताजे हो जाते हैं । सोमवार और शनिवार के दिन छुट्टी के आगे पीछे होने के कारण विशेष उत्तम नहीं माने जाते । प्रथम में छात्रों की शक्तियाँ पूरी तरह खुल नहीं पाती और द्वितीय में छुट्टी की आशा में उनमें शिथिलता आजाती है । इसलिए मंगलवार और बुधवार सर्वोत्तम होते हैं और बृहस्पतिवार और शुक्रवार साधारण । समय-विभाग में कार्य-भार का वितरण करते समय उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखना उचित है ।

(४) **अध्यापकों की सुविधा पर भी ध्यान रहे**—समय-विभाग में केवल छात्रों और पाठ्यक्रम के दृष्टिकोणों का ध्यान रखना ही यथेष्ट नहीं है । अध्यापकों के साथ भी उचित न्याय होना चाहिये । अध्यापकों पर यथासाध्य कार्यभार का वितरण समान होना चाहिये । अध्यापकों को कार्य वितरित करते समय उनकी योग्यता, अनुभव, रुचि और कार्य-क्षमता का ध्यान अवश्य रखना चाहिये । विद्यालय में उपलब्ध अध्यापकों का समय-विभाग पर गहरा प्रभाव पड़ता है । सिद्धान्त रूप से सभी अध्यापकों पर कार्य-भार समान होना चाहिये किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि विशेष विषयों की प्रकृति पर बहुत कुछ निर्भर करेगा । यदि गणित के अध्यापक को विद्यालय का कार्य आरम्भ करने के समय से लेकर अन्त तक निरन्तर विभिन्न कक्षाओं को गणित ही पढ़ाना पड़े, तो वह थक जायगा और उसकी कार्य-क्षमता में कमी आ जायगी । अतः उसे कुछ दूसरे सरल विषय भी पढ़ाने को दिये जाने चाहिये । यदि ऐसा न हो, तो उसे कुछ अधिक रिक्त समय मिलना चाहिये । इसी प्रकार भाषा-शिक्षक के पास त्रुटि-संशोधन का कार्य अधिक रहता है । उसे भी संशोधन-कार्य के लिये रिक्त समय मिलना चाहिये । यदि अध्यापकों की नियुक्ति करते समय यह ध्यान रखा जाय कि ऐसे ही अध्यापक नियुक्त किये जाएँ, जो कम से कम दो विषय अच्छे प्रकार पढ़ा सकें, तो अध्यापकों के लिए सुविधा-जनक समय-विभाग सरलता से बन सकता है ।

कुछ राज्यों में शिक्षा-विभाग समय-विभाजन के सिद्धान्त भी स्थिर कर

बेते हैं और प्रधानाध्यापक उसके अनुसार विद्यालय का कार्यक्रम निश्चित कर देता है। प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों को इस दिशा में अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। स्थानीय आवश्यकताओं, अपने अध्यापकों की संख्या और योग्यता, छात्रों की संख्या, विद्यालय-भवन तथा उपलब्ध साज-सज्जा आदि के अनुसार प्रधानाध्यापक को सभय-विभाग निर्धारित करने की छूट होनी चाहिये। प्रधानाध्यापक को विभिन्न विषयों के अध्यापकों को भी स्वतन्त्रता देनी चाहिये कि वे अपने विषय के लिये प्राप्य समय को अपने विषयवस्तु के अनुसार विभाजित करलें। प्रत्येक अध्यापक को किसी न किसी अन्तर में विश्राम का समय भी होना चाहिये।

(५) **सरलता एवं स्पष्टता भी**—समय विभाग इतना सरल होना चाहिये कि छात्र एवं अध्यापक सुगमता से उसे समझ सकें और उसके अनुसार आचरण कर सकें। किस अन्तर में कौनसा विषय किस कक्ष में पढ़ाया जायगा इसका उसमें स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये। यदि समय-विभाग जटिल हो और एक ही विषय विभिन्न दिन विभिन्न कक्षों में रख दिया जाय तो छात्रों को भ्रम हो सकता है और उनका समय इधर-उधर व्यर्थ चक्कर काटने में नष्ट हो जाता है। एक ही अन्तर में विभिन्न दिन विभिन्न विषय रख दिये जायें, तो भी छात्र स्मरण नहीं रख पाते और वे आवश्यक पुस्तकें नहीं लाते। इन बातों से अध्ययन में व्यवधान उपस्थित होता है। इस कारण समय-विभाग सरल होना चाहिये जिससे उसके समझने और स्मरण रखने में कठिनाई न हो। समय-विभाग में विद्यालय आरम्भ होने के समय से लेकर उसके समाप्त होने के समय तक की अवधि में होने वाली प्रत्येक क्रिया का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये और उसकी अवधि निश्चित होनी चाहिये। जैसे प्रार्थना का समय, उपस्थित लेने का समय, शिक्षण का समय, अन्तराल का समय, पाठ्य क्रम-सहगामिनी क्रियाओं का समय आदि बातें और उनका समय निश्चित होना चाहिये। इससे कई लाभ होते है। छात्र और अध्यापक विद्यालय में कार्य-व्यस्त रहते हैं; समय नष्ट नहीं होता; कार्य में नियमितता आती है और अनुशासन दृढ़ रहता है।

(६) **व्यवहारिकता ध्यान में रहे**—केवल आदर्श सिद्धान्तों के आधार पर ही कोई कोई समय-विभाग निर्धारित नहीं किया जा सकता है। प्रधानाध्यापक को अपने अनुभवों का सहारा लेना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। अपने अनुभव के आधार पर वह ऐसा समय-विभाग बना सकता है, जो उसके विद्यालय के लिये उपयोगी और पूर्णतः व्यवहारिक हो। उदाहरण के लिए वह अपने अनुभव से जान लेता है कि किस ऋतु में अन्तर की अवधि कितनी हो

तो उत्तम कार्य हो सकता है। ग्रीष्म और जाड़े की ऋतुओं में अन्तरों की अवधि मे फर्क होना चाहिए। जाड़ों में अधिक कार्य हो सकता है और ग्रीष्म में कम। इसी प्रकार अनुभव द्वारा प्रधानाध्यापक यह भी जान लेता है कि समय-बिभाग में विभिन्नता किस प्रकार लाई जा सकती है। वह कठिन और सरल विषयों का वितरण इस प्रकार करता है कि अध्ययन में छात्रों की रुचि लगी रहे और अध्यापकों की कार्य-क्षमता मे किसी प्रकार की कमी न आने पावे। विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का स्थान भी वह व्यवहारिक दृष्टिकोण से ही निर्धारित करता है। एक कुशल प्रधानाध्यापक समय-विभाग में अपने समस्त बुद्धि-चातुर्य को लगा देता है और उसे इस प्रकार से व्यावहारिक बना देता है कि छात्र एवं अध्यापक उसका अधिक लाभ उठा सकें। समय-विभाग न तो इतना उच्चाकांक्षी हो जाय कि विद्यालय उसको ठीक प्रकार से क्रियान्वित न कर सके और न इतना ढीला रहे कि छात्रों और अध्यापकों का समय नष्ट हो।

समय-विभाग का पालन

समय-विभाग-निर्माणके उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर समय-विभाग को सुन्दर एवं उपयोगी बनाया जा तकता है, किन्तु उसको उचित रूप में क्रियान्वित करना भी कम महत्वपूर्ण नही है। आदर्श समय-विभाग भी व्यर्थ हो जायगा यदि उसे आचरण और व्यवहार में न लाया जाय। प्रत्येक प्रधानाध्यापक, अध्यापक और छात्र का कर्तव्य है कि वह समय-तालिका के अनुसार कार्य करने का अभ्यास और प्रयत्न करे। इससे नियमित, संयमित और अनुशासित जीवन का अभ्यास होगा। समय का सदुपयोग जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका अभ्यास छात्र-जीवन में ही पूर्ण रूप से होना आवश्यक है। खेद है कि हम भारतीय अभी तक समय के सदुपयोग का महत्व नहीं समझ पाये हैं। आलस्य, प्रसाद, अनियमितता, गपशप मारना आदि दुर्गुणों में हमारे विद्यालयों का अमूल्य समय नष्ट होता रहता है। ठीक समय पर कार्य करने का स्वभाव अभी हममें उत्पन्न नहीं हो पाया है। हमारे विद्यालयों को इस दिशा में अग्रसर होना चाहिये। यदि समय-विभाग सुनियोजित है और उसमें विद्यालय की प्रत्येक क्रिया का समय निश्चित है, तो कोई कारण नहीं कि उसके पालन में किसी प्रकार की ढिलाई बर्ती जाय। इससे लाभ यह होगा कि जब सभी को नियमित कार्य करने का अभ्यास होगा, तो नियम-पालन उनके स्वभाव का अंग बन जायगा। अनुशासन ठीक रखने के लिये इस प्रकार का स्वभाव उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है।

जनतन्त्रात्मक राज्य में नागरिकों के चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जाता है। चरित्र-निर्माण की नींव विद्यालयों में विशेष रूप से डाली जाती है। प्रत्येक छात्र यदि समय का सदुपयोग, विनय और अनुशासन सीख ले, नियम और संयम का जीवन अपना ले और कार्य सिद्धि के लिये परिश्रम करना सीख ले, तो हमारे राष्ट्र की उन्नति में कोई बाधा न रह जायगी। इन सभी बातों का सम्बन्ध विद्यालय के समय-विभाग से है। अतः समय-विभाग के बनाने और पालन करने में हमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

दो प्रकार के समय-विभाग

प्रायः प्रत्येक विद्यालय में समय-विभाग दो क्रम से बनाये जाते हैं। एक समय-विभाग कक्षा-क्रम से बनाया जाता है, जिसमें प्रत्येक कक्षा में प्रत्येक अन्तर में होने वाले कार्य का उल्लेख रहता है। दूसरा समय-विभाग अध्यापक क्रम से बनाया जाता है, जिसमे प्रत्येक अध्यापक का प्रत्येक अन्तर का विद्यालय-कार्य दिखाया जाता है। प्रथम से किसी भी कक्षा में किसी भी अन्तर में होने वाली क्रिया का पता चलता है और द्वितीय से अध्यापक विशेष किस अन्तर में कहाँ पर किस कार्य में लीन है, इसका पता चलता है। दोनों ही उपयोगी हैं। दोनों की प्रतियाँ प्रधानाध्यापक-कक्ष, अध्यापक-कक्ष तथा विद्यालय-कार्यालय में अवश्य होनी चाहिये।

नवीन पद्धतियों में

शिक्षा-क्षेत्र में कुछ नवीन शिक्षा-प्रणालियों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। इनमें कुछ ऐसी हैं, जिनमें समय-विभाग का प्रयोग इस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में साधारणतः समझा जाता है खेल-पद्धति (Play-way) डाल्टना-योजना (Daltan Plon) प्रोजेक्ट-पद्धति (Project method) तथा क्रियात्मक पद्धति (Activity method) इस प्रकार की प्रणालियाँ हैं, जिनमें समय-विभाग अत्यन्त लचीला होता है। साधारण समय-विभाग इनके लिये उपयुक्त नहीं होता है। इनके लिये निश्चित अवधि के अन्तर नहीं होते। क्रिया के सम्पादन के अनुसार इसमें कम अधिक समय लग सकता है। क्रियाप्रधान होने के कारण इनमें बच्चे को उतना समय दिया जाता है, जितने में वह उस क्रिया को पूरा कर सके। केवल इस बात का ध्यान रखा जाता हैकि समय का दुरुपयोग न होने पावे।

उपसंहार

समय-विभाग-निर्माण के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं, उनकी चर्चा इस अध्याय में की जा चुकी है। आदर्श समय-विभाग आदर्श परिस्थितियों में ही बन सकता है। अभिभावकों तथा शिक्षा-विभागों की निर्धनता के कारण हमारे विद्यालय भी निर्धन ही हैं। फलतः वहाँ आदर्श परिस्थितियाँ कदाचित ही मिल पाती हों। उनमें विभिन्न विषयों मे जितने अध्यापक होने चाहिए उतने नहीं रखे जापाते हैं। अध्यापन-सामग्री तथा कक्षों आदि की भी कमी रहती है। तथापि उपलब्ध परिस्थितियों में अधिक से अधिक आदर्श समय-विभाग बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक निरन्तर चिन्तन-शील रहे और उसे उसके सहयोगियों का ठीक सहयोग मिलता रहे, तो सीमाओं के भीतर भी बढ़िया काम किया जा सकता है।

द्वादश अध्याय

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना, पर्यवेक्षण का महत्त्व; मुख्य अभिप्राय; सफल पर्यवेक्षण का स्वरूप; पर्यवेक्षण से लाभ; पर्यवेक्षण के सिद्धान्त; आवश्यक सलाहे प्रत्यक क्रिया पर्यवेक्षणीय, पर्यवेक्षण नियमित हो, उद्देश्य स्पष्ट और सद्भावना-पूर्ण, अध्यापकों के सहयोग से, आत्म-विकास चलता रहे, शिक्षण-कार्य पर विशेष ध्यान, क्या-क्या देखें; गृहकार्य—उपयोगिता, दिया जाए अथवा नहीं, गृहकार्य कैसा हो, गृह-कार्य का परिमाण, आवश्यक सावधानियाँ; पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण; उपसंहार।

प्रस्तावना

इस अध्याय में हम पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण की चर्चा करने जारहे हैं। साधारणतया पर्यवेक्षण का अर्थ देखना समझा जाता है परन्तु इस शब्द द्वारा अभिप्रेत "देखना" ऐसा देखना होता है, जो किसी ऊँचे स्थान पर स्थित होकर किया जाए, जहाँ से नीचे का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप इतनी अच्छी तरह दिखाई पड़े कि उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति की कमियाँ, कमजोरियाँ तथा उनका सम्पूर्ण क्रिया-कलाप पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर

होता रहे। विद्यालय का सुसंचालन इसी प्रकार के देखने से हो सकता है। भावी अध्यापक उसके महत्त्व, उपयोगी सिद्धान्तों तथा क्रिया-विधियों से परिचित होजाएँ, इसीलिए इस अध्याय में उसकी चर्चा की जारही है।

पर्यवेक्षण का महत्त्व

पिछले अध्यायों में अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है कि विद्यालय एक सप्रयोजन संगठन होता है और उसका प्रयोजन तभी सिद्ध हो सकता है, जबकि उसके अग-प्रत्यंग निर्धारित प्रकार से काम करते रहें। वे इस प्रकार काम तभी करते रह सकते है, जब उनको प्रोत्साहन दिया जाता रहे, उनकी कमियां और कमज़ोरियाँ दूर की जाती रहें और उनके मार्ग की बाधाएँ हटाई जाती रहें। यह सब करना प्रधानाध्यापक का प्रमुख कार्य है और वह इसे पर्यवेक्षण करते हुए ही कर सकता है। पर्यवेक्षण के विषय मे उसके शिथिल होजाने पर विद्यालय के अध्यापक आदि अंग भी ढीले पड़ जाएँगे और जिस उद्देश्य से विद्यालय का संचालन किया जारहा है, वह कभी प्राप्त न हो सकेगा -

मुख्य अभिप्राय

बहुत से लोग पर्यवेक्षण का मुख्य अभिप्राय छिद्रान्वेषण मात्र समझ बैठते हैं। वस्तुतः इसका अभिप्राय विद्यालय की समस्त क्रियाओं का निरीक्षण करके उनसे प्राप्त होने वाले परिणामों का मूल्यांकन करना और यह निश्चय करना होता है कि विद्यालय अपने उद्देश्यों मे कहाँ तक सफल रहा है और यदि सफल नही होरहा है तो किन कारणों, त्रुटियो और अभावों से उसे असफलता मिल रही है और उन्हें किस प्रकार दूर किया जासकता है। साथ ही पर्यवेक्षण का अभिप्राय उन त्रुटियों आदि को दूर करते हुए कार्यकर्ताओं को पथ-प्रदर्शन तथा सुझाव आदि द्वारा प्रोत्साहित करना भी होता है। पर्यवेक्षण का अभिप्राय छिद्रान्वेषण मात्र कभी नहीं है। छिद्रान्वेषी पर्यवेक्षक संगठन के संचालन में तो असफल रहते ही हैं, अपने बहुत से आलोचक और शत्रु भी बना लेते हैं।

सफल पर्यवेक्षण का स्वरूप

अभिप्राय के साथ सफल पर्यवेक्षण के स्वरूप का चिन्तन भी उपयोगी होगा। हमारी सम्मति में उस पर्यवेक्षण को सफल कहा जाएगा, जिसके परिणाम स्वरूप :

(१) संगठन सुचारूरूपेण व्यवस्था के अनुसार चलता रहे,

(२) यदि उसमें असुचारुता उत्पन्न हो, तो उस पर शीघ्रातिशीघ्र दृष्टि पड़जाए, कम से कम विलम्ब से उसका कारण पकड़ मे आजाए और तत्काल उसका उपाय कर दिया जाए,

(३) विद्यालय के ईमानदार अङ्गों के हृदय में यह विश्वास बना रहे कि उनकी कर्मनिष्ठा की सराहना की जारही है, और कामटालू अङ्ग यह अनुभव करते रहें कि वे किसी को धोखा नहीं देपारहे हैं और अपना काम ईमानदारी से किये बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा,

(४) संगठन के सभी अङ्गों अर्थात् अध्यापकों छात्रों तथा कर्मचारियों में अनुशासन, परस्पर प्रेम और सद्भावना बनी रहें,

(५) प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह विश्वास रहे कि वास्तविक कठिनाई तथा असमर्थता के अवसर पर एक सबल एव सहानुभूति-पूर्व हाथ सदैव उनकी सहायता के लिए तैयार रहता है ।

(६) प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर से काम को प्रतिदिन और अधिक बढ़िया बनाने और इस प्रकार समाज की अधिकाधिक सेवा करने की प्रेरणा अनुभव करता रहे ।

(७) पर्यवेक्षण करने वाले पर भी इतना कार्यभार न पड़ जाए कि वह अपना शारीरिक और मानसिक समतुलन खो बैठे और उसे अपना काम भार प्रतीत होने लगे ।

पर्यवेक्षण से लाभ

पर्यवेक्षण मुख्यतया प्रधानाध्यापक का और सामान्यतया अपने-अपने क्षेत्र में सभी अध्यापकों का उत्तरदायित्व होता है । इससे पर्यवेक्षणीय और पर्यवेक्षक दोनों को ही लाभ होता है । उन लाभों को हम निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं :

(१) पर्यवेक्षण का सबसे पहला लाभ स्वयं पर्यवेक्षक को होता है । चूंकि वह अन्यों के कार्य का पर्यवेक्षण करता है अतः वह अपने व्यवहार में तथा अपने कार्य को ठीक रखने में अत्यधिक सावधान रहता तथा सावधानी रखने का अभ्यासी हो जाता है । फलतः विद्यालय और वह दोनों यशस्वी होते हैं ।

(२) पर्यवेक्षण से विद्यालय के सभी अङ्ग अपने-अपने कर्तव्यों के पालन में सावधान रहते हैं और साथ ही उन्हें अपनी कुशलता बढ़ाने की प्रेरणा तथा उसके लिए आवश्यक जानकारी भी मिलती रहती है ।

(३) किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कतिपय साधनों का संकलन तथा कार्य-विधियों और व्यवस्थाओं का निर्धारण एवं संचालन करना पड़ता है । पर्यवेक्षण से उनकी कमियों का पता लगता रहता है और उन्हें समय रहते दूर करके प्रगति के मार्ग में आई हुई बाधाओं का निराकरण किया जासकता है ।

(४) संस्था में पर्यवेक्षण होते रहने से छात्र उसकी गतिविधियों तथा

क्रिया-कलापों से पूरी तरह लाभान्वित होते रहते है। व्यवस्था ठीक रहने से उन्हें भी व्यवस्थित जीवन बिताने का अभ्यास मिलता रहता है। उनके सामने व्यवस्थित जीवन का आदर्श बना रहता है फलतः उनका अनुशासन दृढ़ होता है।

(५) पर्यवेक्षण होते रहने से समाज भी लाभ मे रहता है क्योंकि उसे एक व्यवस्थित विद्यालय सेवा के लिए प्राप्त होता रहता है।

पर्यवेक्षण के सिद्धान्त

पर्यवेक्षण का कार्य सरल नहीं है। इसके लिये विशेष समीक्षात्मक बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति किसी कार्य मे अपनी समझ के अनुसार अनेक त्रुटियाँ निकाल सकता है किन्तु विध्वंसात्मक समीक्षा से कोई लाभ नही होता है। पर्यवेक्षण का उद्देश्य रचनात्मक है, विध्वंसात्मक नहीं। किसी कार्य की समीक्षा करते हुये उसके सुधार और संशोधन के लिये ठोस परामर्श और सुझाव देना भी पर्यवेक्षण का अङ्ग है। इस प्रकार के कार्य के लिये विशेष योग्यता और उन सिद्धान्तों की जानकारी अपेक्षित है, जिनके आधार पर पर्यवेक्षण उपयोगी और सार्थक हो सकता है। नीचे हम पर्यवेक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को उपस्थित करेंगे।

(१) **किसी कार्य की पूर्ण समीक्षा की जानी चाहिए**—यह तभी सभव है जब कि अग-प्रत्यंग, साधनो, कार्य-प्रणाली और उससे प्राप्त फल की पूर्णतः विवेचना की जाय और उनमे पाई जाने वाली त्रुटियों और अच्छाइयों दोनों को देखकर परामर्श दिया जाय। समीक्षा का अभिप्राय सहयोग, सहानुभूति और सहायता हो न कि आलोचना मात्र। अन्यथा पर्यवेक्षण में पूर्णता नहीं रहेगी।

(२) **पर्यवेक्षण व्यापक होना चाहिये**—किसी अंश को देख कर सम्पूर्ण चित्र की कल्पना तो की जा सकती है किन्तु कल्पना के मिथ्या सिद्ध होने की सम्भावना भी रहती है। पर्यवेक्षण विद्यालय के सभी अङ्ग-प्रत्यंग का होना चाहिये, चाहे वह पाठ्य-क्रम-सम्बन्धी क्रिया हो अथवा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रिया। शीघ्रता में किसी अधूरे अंश का निरीक्षण करके सम्पूर्ण कार्य के विषय में मत स्थिर कर लेना उचित नहीं है।

(३) **पर्यवेक्षक को स्वयं पर्यवेक्षणीय विषयों का पूरा ज्ञान होना चाहिये**—बिना व्यापक दृष्टि और उचित ज्ञान के उसका मूल्यांकन दोषपूर्ण होसकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई निरीक्षक केवल कोरे आदर्श और सिद्धान्त की बातें करता है और परिस्थिति की वास्तविकता पर ध्यान नहीं देता है तो

उसके परामर्श और निर्देशन का कोई मूल्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे अनुभव नही है कि परिस्थिति विशेष में क्या सम्भव है।

(४) **पर्यवेक्षण रचनात्मक होना चाहिये, विध्वंसात्मक नहीं**—किसी भी कार्य में न तो केवल अच्छाई ही होती है और न बुराई ही। अनुदार निरीक्षक केवल बुराई ही देखता है और अपना रोष और असंतोष प्रकट करता रहता है। उससे किसी रचनात्मक परामर्श और निर्देशन की आशा नहीं की जा सकती है। उदार निरीक्षक अच्छाई को पहले देखता है और उसके लिये प्रशंसा करता है और उत्साह बढाता है। फिर त्रुटियों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि सम्बन्धित व्यक्ति त्रुटियों को समझ जाय। उसके परामर्श और निर्देशन का आदर होता है और उससे वास्तविक और ठोस उन्नति होती है।

(५) **पर्यवेक्षण सदैव नियमित, निष्पक्ष और न्यायसंगत होना चाहिये**—कभी अत्यन्त ढिलाई वर्तना, कभी अत्यन्त कड़ाई करना, कभी उदासीन हो जाना, आदि पर्यवेक्षण और निरीक्षण के महत्व को कम कर देते है। सम्बन्धित व्यक्ति को भी ज्ञात रहना चाहिये कि उसके कार्य का निरीक्षण किन आधारों पर किया जायगा और उससे क्या आशा की जाती है। सभी के लिये समान नियम होने चाहिये और प्रत्येक कार्य की जांच निष्पक्ष भावना से की जानी चाहिए। कार्यकर्ताओ को भी अपने कार्य के विषय में अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने का अवसर प्रदान करना चाहिये जिससे उसके साथ अन्याय होने की सम्भावना न रहे।

(६) **पर्यवेक्षक को अपने कार्य के उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए**—यदि पर्यवेक्षक का निर्देशन ग़लत है तो उससे बड़ी हानि हो सकती है। उसे स्वयं बहुत सतर्क, संयमित, स्थिर-बुद्धि, शीलवान और दृढ़ होने की आवश्यकता है। उसमें मौलिकता, सूझ-बूझ, अन्तर्दृष्टि तथा प्रयोग की प्रवृत्ति भी होनी चाहिये।

आवश्यक सलाहें

प्रत्येक क्रिया पर्यवेक्षणीय—हम पहले कह चुके है कि प्रत्येक प्रधानाचार्य का एक प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने विद्यालय की प्रत्येक क्रिया का पर्यवेक्षण करता रहे। उसे पाठ्यक्रम-सम्बन्धी तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ दोनों का ही पर्यवेक्षण करते रहना आवश्यक है वर्ना विद्यालय के कार्यक्रम में शिथिलता आ जायगी और वह निर्धारित लक्ष्यों को पूरा न कर सकेगा।

पर्यवेक्षण नियमित हो—यदि प्रधानाध्यापक के निरीक्षण में नियम और क्रमवद्धता नहीं है, तो वह विद्यालय की सम्पूर्ण क्रियाओं का पर्यवेक्षण करने में

सक्षम और सफल नहीं हो सकता। उसे एक सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली अपनानी पड़ेगी, तभी वह सफलता से पर्यवेक्षण और निरीक्षण कर सकेगा और विद्यालय की सभी क्रियाओं में उसकी उपस्थिति का भान हो सकेगा।

उद्देश्य स्पष्ट और सद्भावना-पूर्ण हो—प्रधानाध्यपक के सामने इन कार्यों के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिये। उसमें आत्मविश्वास होना चाहिये कि वह अपने अनुभव अध्ययन और अन्तर्दृष्टि के आधार पर जो सुझाव देरहा है, वह विद्यालय के लिये हितकर हैं और उनसे छात्र एवं अध्यापक सभी लाभान्वित होंगे।

जिद नहीं—कुछ प्रधानाध्यापकों में एक विशेष प्रकार की जिद देखी जाती है। जो कुछ उनकी समझ में ठीक है उसे वे सदैव ठीक ही मानते हैं और अपने मत के विरुद्ध किसी की सलाह सुनना पसन्द नहीं करते। यह प्रवृत्ति अनैतिक एव अप्रजातंत्रीय है। इससे संकुचित मनोवृत्ति एवं कूप-मंडूकता का परिचय मिलता है। प्रधानाध्यापक को स्वयं अपनी निरीक्षण-प्रणाली और उससे प्राप्त परिणामों का सदैव अध्ययन करते रहना चाहिए। यदि वह दूसरों के तर्कयुक्त परामर्शों को मान लेता है, तो कोई हानि नहीं होगी और न इसमें उसकी प्रतिष्ठा कम हो जायगी।

अध्यापकों के सहयोग से—यह भी सम्भव नहीं है कि प्रधानाध्यापक समस्त कार्यों का पर्यवेक्षण और निरीक्षण सदैव स्वयं ही करता रहे। उसे अपने सहयोगियों का विश्वास करना चाहिये और उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण और निरीक्षण तो उसे अवश्य ही करना पड़ता हैं किन्तु विद्यालय की अन्य पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का भार उसे अपने योग्य और अनुभवी सहयोगियों पर छोड़ना चाहिये और स्वयं सबके ऊपर अपनी दृष्टि रखनी चाहिये। इससे उसका कार्यभार भी हलका होगा और उसके सहयोगी-वर्ग का प्रशिक्षण भी होगा। जब तक अत्यन्त आवश्यक न हो, उसे प्रत्येक कार्य में दखल नहीं देना चाहिये।

आत्म-विकास चलता रहे—प्रधानाध्यापक की समीक्षात्मक बुद्धि जितनी बिकसित होगी उतनी ही प्रभावोत्पादकता उसके पर्यवेक्षण और निरीक्षण में उत्पन्न होगी। समीक्षात्मक बुद्धि कुछ तो स्वाभाविक होती है किन्तु अधिकांश में वह अनुभव और अध्ययन से विकसित होती है। प्रधानाध्यापक को सदैव अपने शिक्षा-विषयक ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए। इससे उसके भीतर वह शक्ति उत्पन्न हो जायगी कि वह दृष्टि-संचालन से ही किसी क्रिया की अच्छाई और बुराई समझ सकेगा। अनुभव द्वारा उसे यह समझने के लिये भी प्रयत्नशील रहना चाहिए कि किस भाँति वह अपने पर्यवेक्षण को और अधिक प्रभावशाली बना सकता है। इन कार्यों को केवल औपचारिक रूप में करना

अपना और दूसरों का समय नष्ट करना है। इनका स्पष्ट उद्देश्य विद्यालय की कार्य-प्रणाली को उन्नत, सूक्ष्म, प्रभावशाली एवं साभिप्राय बनाना है जिससे विद्यालय उन आदर्शों को पूर्ति में सफल हो सके, जिनके लिये उसकी स्थापना हुई है। यह केवल प्रधानाध्यापक का ही उत्तरदायित्व नहीं है। प्रजातन्त्रीय प्रणाली में सम्पूर्ण अध्यापक-वर्ग इस उत्तरदायित्व को वहन करता है।

शिक्षण-कार्य पर विशेष ध्यान—यों तो विद्यालय की वे समस्त क्रियायें जो छात्रों के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक हैं, महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु शिक्षण-कार्य विद्यालय की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। इसका पर्यवेक्षण विधिवत् और सतर्कता से होना चाहिए। यह कार्य प्रधानाध्यापक के दैनिक कर्तव्यों में प्रमुख होना चाहिए। उसे प्रत्येक अध्यापक के अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण करना उचित है। मौखिक और लिखित दोनों ही कार्यों का पर्यवेक्षण होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को कक्षा के भीतर जाकर देखना चाहिए कि अमुक अध्यापक किस प्रकार पढा रहा है। उसे त्रुटियों को नोट कर लेना चाहिये और बाद में अध्यापक को बुलाकर उन पर विचार-विमर्श कर लेना चाहिये। कक्षा में न तो उसे कोई बात ही इस प्रकार की कहनी चाहिए और न कोई कार्य ही ऐसा करना चाहिए कि अध्यापक के सम्मान को ठेस लगे। बाद में विचार-विनिमय करके उसे अध्यापक को अपना दृष्टिकोण समझाते हुये अपना परामर्श एवं आदेश देना चाहिये।

शिक्षण के पर्यवेक्षण में किन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसके उत्तर पर ही निर्भर करेगा कि हम निरीक्षण और पर्यवेक्षण किन बातों का कर रहे हैं। कुछ प्रमुख बातें नीचे दी जा रही हैं :—

(१) **पाठ्यवस्तु की उपयुक्तता**—अपने देश में पाठ्यवस्तु-निर्धारण का अधिकार अध्यापक के हाथ में नही है। उसे तो बना बनाया पाठ्यक्रम पढ़ाने को मिलता है। तथापि एक बात उसके हाथ मे है। वह उस पाठ्यक्रम को अधिक मनोवैज्ञानिक आधार पर पुनःसंगठित कर सकता है और उसको ऐसी इकाइयों में बिभक्त कर सकता है, जिनसे छात्रों के सम्मुख उसका उपस्थापन सरल हो जाय। पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह अध्यापक के कार्य का इस दृष्टि से पर्यवेक्षण अवश्य कर लिया करे। ऐसा कर लेने से हमारे पाठ्यक्रमों में विद्यमान बहुत से दोष दूर हो जायेंगे।

(२) **शिक्षण-प्रणाली**—किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए एक सुसंगठित और व्यवस्थित प्रणाली आवश्यक आवश्यक होती है। प्रशिक्षण-विद्यालयों

में छात्राध्यापकों को शिक्षण-प्रणाली के सिद्धान्त बतलाये जाते हैं और उनका अभ्यास कराया जाता है। प्रायः सुनने में आता है कि प्रशिक्षण-विद्यालयों की शिक्षण-प्रणालियाँ अव्यावहारिक है और उनके द्वारा विद्यालयों में पढ़ाना सम्भव नहीं है क्योंकि उन अध्यापन विधियों द्वारा पढ़ाकर पाठ्यक्रम पूरा नहीं किया जा सकता है।

अभी तक यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ पर शिक्षा से अधिक महत्व परीक्षा का है। पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाते है परीक्षा की दृष्टि से न कि शिक्षा की दृष्टि से। यही कारण है कि पाठ्यक्रम का पूरा करना अधिक आवश्यक समझा जाता है और इस बात पर ध्यान कम दिया जाता है कि पाठ्यक्रम का कितना अश वास्तव में छात्र के व्यक्तित्व का अंग बन पाता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता है कि प्रशिक्षण-विद्यालयों में सीखी गई शिक्षण-प्रणाली अव्यावहारिक है। वर्तमान परिस्थिति में भी उसका पूर्ण विस्तार से नही तो कम से कम उसकी प्रमुख बातों का प्रयोग तो किया ही जा सकता है। अतः पर्यवेक्षण और निरीक्षण करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि अध्यापक की शिक्षण-प्रणाली कहाँ तक मनोवैज्ञानिक और मान्य है।

शिक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत हरबार्ट की पचपदीय विधि वर्तमान में भी मान्य हैं। शिक्षक को पाठसूत्र का निर्माण अवश्य कर लेना चाहिये। अभ्यास हो जाने पर उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नही रहती है। और पाठ की केवल रूपरेखा बना लेना ही पर्याप्त होता है। इससे पाठ मे क्रम और व्यवस्था बनी रहती है और पाठ्य वस्तु निश्चित होजाती है। शिक्षक को अपने पाठ के उद्देश्य को निर्धारित कर लेना चाहिये और उसे पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये। पाठ्यवस्तु में छात्रों की रुचि जागृत करना आवश्यक है वर्ना अध्यापन प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। रुचि जागृत करने के लिये समुचित सहायक सामग्री का होना आवश्यक है। शिक्षक को विभिन्न साधनों और विधियों से पाठ को रोचक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। पाठ का उपस्थापन अत्यन्त वैज्ञानिक ढङ्ग से होना चाहिये, जिससे सरलता से पाठ्यवस्तु छात्रों के मस्तिष्क में प्रवेश करती जावे। पाठ्यवस्तु उपस्थापन सदैव मनोवैज्ञानिक आधारों पर निश्चित होना चाहिये। छात्रों की सामर्थ्य और योग्यता का भी ध्यान रखना उचित है। अध्यापन-विधियों का अनुशीलन करते समय अध्यापक पूछे जाने वाले प्रश्नों पर भी विचार कर लेता है। प्रश्नों की भाषा, उनका प्रकार और वितरण ठीक होना चाहिये। इन सभी बातों पर पर्यवेक्षक को ध्यान देना चाहिये।

(३) **अध्यापक-छात्र-सम्बन्ध**—अध्यापन एक प्रक्रिया है। इसका प्रभाव अध्यापक तथा छात्र दोनों ही पर पड़ता है। पर्यवेक्षण और निरीक्षण के समय इन दोनों के बीच स्थापित सम्बन्ध पर भी ध्यान देना चाहिये। अध्यापक का कक्षा के साथ व्यवहार कैसा है; वह कहाँ तक बालकों की कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न कर कर रहा है; छात्रों के साथ उसकी सहानुभूति कितनी है, उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को किस सीमा तक अध्यापक दूर कर रहा है, अध्यापक के आत्मविश्वास, संयम, ज्ञान, न्याय, संकल्प आदि गुण कैसे हैं, इन बातों पर भी ध्यान देना निरीक्षक का कर्तव्य है। निरीक्षक को यह भी देखना चाहिये कि कक्षा की प्रतिक्रिया क्या है। बालक कहाँ तक अध्यापक से साथ सहयोग कर रहे है, उनके उत्तर कहाँ तक संतोषजनक हैं; वे पाठ्य वस्तु को ग्रहण करने में कहाँ तक सफल होरहे है; आदि बातों को देखना भी आवश्यक है क्योंकि इनकी सफलता पर ही अध्यापक की सफलता निर्भर करती है।

(४) **गृह-कार्य**—प्रधानाध्यापक को पर्यवेक्षण करते समय छात्रों के गृह-कार्य को भी देखना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि वह प्रतिदिन प्रत्येक कक्षा का गृह-कार्य देखले। वह विभिन्न दिन विभिन्न कक्षाओं तथा विषयों का कार्य देख सकता है। गृह-कार्य देखकर प्रधानाध्यापक को छात्र की प्रगति तथा अध्यापक की परिश्रमशीलता तथा सावधानी का परिचय मिलता रह सकता है। गृह-कार्य के विषय में विशेष ज्ञातव्य बातें इसी अध्याय की अगली पक्तियों में दी जा रही है।

(५) **अन्य सामान्य बातें**—कक्षा-व्यवस्था, बैठने की व्यवस्था, उठने-बैठने का ढङ्ग, प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने का ढङ्ग, कक्षानुशासन, श्यामपट्ट-कार्य, वेश-भूषा, समय की पाबन्दी, पारस्परिक व्यवहार आदि भी निरीक्षण के विषय होने चाहिए।

गृह-कार्य

उपयोगिता—विद्यालय में छात्र केवल कुछ घन्टे ही व्यतीत करता है। शेष समय वह छात्रावास में अथवा अपने घर पर व्यतीत करता है। ऐसी परिस्थिति में विद्यालय पाठ्यक्रम का कुछ भाग पूरा करा पाता है और प्रमुख वस्तुओं का ज्ञान दे देता है। छात्र के शेष समय का भी उचित सदुपयोग होना चाहिये। इस शेष समय में वह विद्यालय में प्राप्त अध्ययन को भली भाँति ग्रहण करने का प्रयत्न कर सकता है और आने वाले पाठ के लिये अपने को प्रस्तुत कर सकता है। इस कार्य के लिये सर्वोत्तम माध्यम गृह-कार्य

होता है। गृह-कार्य से स्वाध्याय को प्रोत्साहन मिलता है और जिन बातों को छात्र विद्यालय के गतिमान प्रवाह के कारण ठीक प्रकार से नहीं समझ पाता है, उन्हें वह गृह के स्वच्छन्द वातावरण में अच्छी तरह समझने की चेष्टा करता है। इस प्रकार गृह-कार्य विद्यालय के कार्य को ठोस और विकसित बनाता है। यदि छात्र विद्यालय द्वारा प्राप्त ज्ञान को गृह-कार्य के रूप में करके उसको हृदयंगम करले, उसे व्यवस्थित रूप से मन में बिठाले और उसे आत्म गत करले, तो वह ज्ञान उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है और उसके लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। गृह-कार्य द्वारा स्वाध्याय के अतिरिक्त आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहन मिलता है। इससे स्वावलम्बन की भावना को भी अवलम्ब मिलता है। गृह-कार्य देखकर अध्यापक को भी ज्ञात होजाता है कि छात्र ने पाठ को ग्रहण कर लिया अथवा नहीं।

दिया जाय अथवा नहीं—गृह-कार्य के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ के विचार से गृह-कार्य देना चाहिये और कुछ के मत से नहीं। इसके पक्ष और विपक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं उनका सारांश नीचे दिया जाता है :—

पक्ष में—ऊपर जो कुछ गृह-कार्य के महत्व के विषय में कहा गया है वह सब उसके पक्ष का समर्थन करता है। इस मत के अनुसार गृह-कार्य अनिवार्य रूप से दिया जाना चाहिये, क्योंकि उससे अनेक लाभ होते है। परीक्षा की दृष्टि से भी गृह-कार्य उपयोगी होता है।

विपक्ष में—विद्यालय का सम्पूर्ण कार्य विद्यालय-समय के अन्दर ही समाप्त हो जाना चाहिये। विद्यालय में जितना शिक्षण होता है वह छात्रों के लिये पर्याप्त होता है। गृह-कार्य से छात्रों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और अधिक मानसिक कार्य करने से उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। कुछ छात्रों की घरेलू परिस्थितियाँ ऐसी होती है कि उन्हें घर पर गृह-कार्य करने की सुविधा नहीं मिल पाती है। कार्य उचित ढंग से न कर पाने पर उन्हें मानसिक क्षोभ और चिन्ता उत्पन्न हो जाते हैं। इससे उनमें मानसिक और शारीरिक दुर्बलताएं उत्पन्न हो जाती है।

समन्वय—हमारी राय में गृह-कार्य के विषय में मतभेद होने की गुंजाइश नहीं है। पक्ष और विपक्ष के तर्कों को ध्यान में रखकर यदि दोनों का समन्वय कर दिया जाय तो गृह-कार्य की उपयोगिता और अधिक बढ़ जायगी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गृह-कार्य देते समय कुछ प्रमुख उद्देश्यों को ध्यान में रखना उचित है। यदि उनके अनुसार कार्य किया जाय तो गृह-कार्य से लाभ अवश्य होगा। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली कक्षा-प्रणाली पर आधारित है।

एक ही कक्षा में बहुत से विद्यार्थी सामूहिक रूप से शिक्षा ग्रहण करते है । कक्षा में यह सम्भव नही हो पाता कि अध्यापक प्रत्येक छात्र को व्यक्तिगत सहायता दे सके और उस पर पूरा ध्यान दे सके अतः प्रत्येक छात्र कक्षाध्यापन से पूरा लाभ नहीं उठा पाता है। ऐसी दशा में यदि गृह-कार्य न हो, तो कुछ छात्र सदैव पिछड़े रह जाँयगे । मन्द-बुद्धि छात्रों के लिये विद्यालय का शिक्षण ही पर्याप्त नहीं होता है । उन्हें गृह-कार्य द्वारा ही कक्षा-स्तर पर लाने का प्रयास किया जा सकता है ।

गृह-कार्य कैसा हो—गृह-कार्य देते समय अध्यापको के सम्मुख गृह-कार्य के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिये । उन्हें निम्नांकित बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिये :—

(१) गृह-कार्य विद्यालय-कार्य का पूरक हो ।

(२) गृह-कार्य छात्रों की योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थितियों के अनुकूल हो ।

(३) गृह-कार्य से विद्यालय-कार्य की केवल पुनरावृत्ति मात्र न हो वरन् तद्विषयक ज्ञान की वृद्धि भी हो ।

(४) गृह-कार्य लिखित और मौखिक दोनों ही प्रकार का हो; जैसे लेख, तथा निबंध, लिखना पद्य कंठाग्र करना आदि ।

(५) गृह-कार्य का उचित समय के भीतर मूल्यांकन भी करना आवश्यक है; नहीं तो उसके उद्देश्य व्यर्थ हो जांयगे ।

(६) गृह-कार्य छात्र के सामान्य ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो और उसे अध्ययन के लिये प्रोत्साहित करे ।

गृहकार्य का परिमाण—गृह-कार्य के परिमाण के विषय में कोई निश्चित नियम तो नहीं बनाया जासकता है, किन्तु उसका सिद्धान्त यह अवश्य होना चाहिये कि परिमाण की वृद्धि क्रमशः होनी चाहिये । छोटी कक्षाओं (प्रारम्भिक स्तर) तक नियमित और दैनिक गृह-कार्य की आवश्यकता नहीं रहती है । हां, उन्हें घर पर स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है । जैसे-जैसे छात्र उच्चतर कक्षाओं में बढता जाय, वैसे-वैसे गृह-कार्य की मात्रा बढ़ती जानी चाहिये । उच्चतर माध्यमिक स्तर पर छात्र प्रतिदिन ३ घन्टे गृह-कार्य कर सकता है । ऊँची कक्षाओं में आकर छात्र की रुचि और झुकाव स्वतः गृह-कार्य की ओर हो जाते हैं और वह अपने स्वाध्याय का अभ्यास बढ़ा लेता है । किन्तु यह स्वाध्ययन अधिक उपयोगी तभी हो सकेगा, जबकि आरम्भ से ही गृह-कार्य उचित प्रकार से छात्रों की रुचि इस ओर बढावे ।

गृह-कार्य के प्रकार—गृह-कार्य के प्रकार के विषय में भी अभी हम बहुत

पिछड़े हुये हैं। अभी हमारी शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा मनोविज्ञान को वह स्थान नहीं मिल रहा है, जो उसे मिलना चाहिये। हमारे विद्यालय में गृह-कार्य एक प्राचीन परम्परा की लीक पर ही चलता जारहा है। उसमें मौलिकता और विभिन्नता नहीं पायी जाती है। एक ही प्रकार का कार्य करते करते छात्र ऊब जाते हैं और उन्हें गृह-कार्य में आनन्द नहीं आता है। अधिक मनोविज्ञान-सम्मत यह होगा कि छात्रों को विभिन्न प्रकार के गृह-कार्य दिये जायँ। प्रत्येक विषय में इस विभिन्नता के लिये पर्याप्त अवसर रहता है। यदि अध्यापक अपने विषय में गृह-कार्य की योजना आरम्भ में ही बनाले और उसमें गृह कार्य के सिद्धान्तों और विशेषताओं का ध्यान रखे, तो निश्चित रूप से गृह-कार्य सफल और उपयोगी हो जाएगा।

आवश्यक सावधानियाँ—गृह-कार्य और स्वास्थ्य के सम्बन्ध पर विशेष ध्यान देना अवश्य आवश्यक है। सामर्थ्य से अधिक और अरोचक गृह-कार्य स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव अवश्य डालता है। किन्तु इसका निराकरण गृह-कार्य के परिमाण को, तथा उसके प्रकार को नियंत्रित करके किया जा सकता है। छोटी अवस्था के छात्रों को गृह-कार्य न्यूनतम दिया जाना चाहिये और यह भी ऐसा कार्य होना चाहिये जिसमें छात्र स्वयं रुचि ले। यदि व्यक्तिगत रुचियों और आवश्यकताओं के अनुसार गृह-कार्य दिया जाय तो स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना कम होगी और गृह-कार्य का उद्देश्य भी अधिक सफल होगा। प्रत्येक विषय-अध्यापक अपने ही विषय को अधिक महत्वपूर्ण समझ कर उत्साह के कारण इतना गृह-कार्य दे देता है कि अन्य विषयों की उपेक्षा की सम्भावना उत्पन्न होजाती है और बालक के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड़ जाता है। प्रधानाध्यापक का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक कक्षा में दिये जाने वाले गृह-कार्य का पर्यवेक्षण और निरीक्षण करके उसका परिमाण निश्चित कर दे। अध्यापकों का कर्तव्य है कि के गृह-कार्य देने के विषय में आपस में विचार-विमर्श कर के एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक विषय में गृह-कार्य की मात्रा और प्रकार को निश्चित कर लें।

गृह-कार्य देने में छात्रों की घरेलू परिस्थितियों पर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अनेक छात्र पारिवारिक परिस्थितियों के कारण समुचित रीति से गृह-कार्य नहीं कर पाते हैं और अध्यापक के भय से किसी अन्य सहपाठी के गृह-कार्य की नकल कर लेते हैं और अध्यापक को सन्तुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार का गृह-कार्य व्यर्थ तो होता ही है, साथ ही साथ वह छात्र के नैतिक पतन का कारण भी बन जाता है। इस विषय में अभिभावकों का सहयोग उत्तम परिणाम दे सकता है। प्रत्येक अभिभावक को ज्ञात होना चाहिये कि गृह-कार्य

देने के विषय में विद्यालय का नियम क्या है। प्रधानाध्यापक इस विषय में एक समय-विभाग बनाकर अभिभावकों को भेज सकता है। यदि अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि रखते हैं, तो वे स्वयं बालक को गृह-कार्य करने की सुविधाएं प्रदान करने को उत्सुक होंगे। किन्तु अध्यापकों के लिये छात्रों की घरेलू परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है और यदि कोई छात्र इन परिस्थितियों के कारण कार्य करने में असमर्थ है, तो उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार अपेक्षित है। यदि अध्यापक उसकी परिस्थितियों पर ध्यान न देकर उसके साथ सख्ती करके उसे कार्य करने को बाध्य करता है, तो छात्र को अनैतिकता का मार्ग अपनाने को मजबूर होना पड़ता है और वह किसी अन्य छात्र के कार्य से नकल करके रख लेता है। गृह-कार्य की एक विशेषता यह भी होनी चाहिये कि छात्र बिना दूसरों की सहायता के उसे स्वयं पूरा कर सके। यदि ऐसा नहीं है तो जिन छात्रों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि उन्हें दूसरे की सहायता उपलब्ध हो, उनको गृह-कार्य पूरा करने में अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और उनके लिये गृह-कार्य अभिशाप बन जाता है।

उपर्युक्त समस्या का एक हल यह भी हो सकता है कि छात्रों से गृह-कार्य कराने के लिये विद्यालय में ही सप्ताह में एक दिन नियत कर दिया जाय। उस दिन गृह-कार्य के लिये कुछ या पूरा समय दिया जाय। सभी विषयों के अध्यापक भी वहीं पर गृह-कार्य कराएं, निरीक्षण करें और छात्रों को व्यक्तिगत सहायता दें। यदि इस प्रकार गृह-कार्य की योजना रखी जाय तो छात्रों की घरेलू परिस्थितियाँ उसमें बाधक नहीं हो सकती। अवकाश के दिनों के लिये योजनाबद्ध गृह-कार्य अवश्य दिया जाना चाहिये। अवकाश के दिनों में, विशेषतः लम्बे अवकाश के दिनों में, छात्र अपना समय व्यर्थ ही नष्ट करते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा होता हैं, उसे भी भूल जाने की शंका रहती है। अतः अच्छा होगा कि वे अवकाश के दिनों में गृह-कार्य के कारण कुछ अध्ययन करते रहें।

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

पर्यवेक्षण जैसा ही एक कार्य निरीक्षण है। पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व होता है और निरीक्षण करते हैं प्रबन्धक अथवा शिक्षा-विभाग के अधिकारी। पर्यवेक्षण कार्य के सुसंचालन को लक्ष्य बनाकर किया जाता है परन्तु निरीक्षण में परीक्षा एवं मूल्यांकन की भावना की प्रधानता रहती है। इसके विषय में अन्य ज्ञातव्य बातें वे ही होती हैं, जिनकी चर्चा पर्यवेक्षण के प्रसंग में की जा चुकी है। निरीक्षण का स्वरूप भी दोष-दर्शन मात्र नहीं होना चाहिए।

जब कभी अवसर आए, प्रधानाध्यापक को विधिवत् निरीक्षण करा देना चाहिए। यदि उसका पर्यवेक्षण ठीक-ठीक चलता रहा है, तो निरीक्षण किसी भी प्रकार भयजनक नहीं सिद्ध होगा। उलटे, उससे उसे प्रशंसा ही मिलेगी। पर्यवेक्षण में असावधान प्रधानाध्यापक निरीक्षण से घबराते हैं और पर्याप्त तैयारी के उपरान्त भी वे लज्जाजनक स्थिति ही प्राप्त कर पाते हैं। अच्छे प्रधानाध्यापक को निरीक्षण के लिए किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उपसंहार

इस अध्याय में पर्यवेक्षण, निरीक्षण तथा गृह-कार्य के विषय में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी पर्यवेक्षक एवं निरीक्षक को अपनी पैनी दृष्टि से विभिन्न परिस्थितियों को ठीक-ठीक समझ कर यथोचित व्यवहार करना चाहिए। समस्त सम-विषय परिस्थितियों के लिए पूरी-पूरी जानकारी दे सकना तथा व्यवहार-सिद्धान्त बता सकना तो एकान्ततः असम्भव कार्य है। यदि लक्ष्य पर दृष्टि बनी रहे और बुद्धिमानी से पर्यवेक्षण एवं परिस्थितियों का विवेचन चलते रहें, तो सभी समस्याओं के उपयुक्त हल स्वतः सामने आ जाते है और संस्था सुव्यवस्थित बनी रहती है।

त्रयोदश अध्याय

विद्यालय के उपादान—छात्र

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; विद्यालय-प्रवेश के आधार; वर्गीकरण; अर्थ और महत्त्व; वर्गीकरण के सामान्य सिद्धान्त—प्रथम सिद्धान्त—समान आयु, समान योग्यता. समान रुचि, समन्वय; द्वितीय सिद्धान्त; तृतीय सिद्धान्त, चतुर्थ सिद्धान्त; वर्गीकरण की आलोचना—लाभ, हानियाँ, विद्यालय का कर्त्तव्य; वर्गीकरण और सहशिक्षा—पक्ष में, विपक्ष में, निष्कर्ष; उपसंहार।

प्रस्तावना

पूर्व अध्यायों में हमने विद्यालय, विद्यालय के साधक एवं साधनों का वर्णन किया है। किन्तु अभी तक हमने विद्यालय के उपादान—छात्र, का वर्णन नहीं किया है। विद्यालय की स्थापना हो जाने और उसमें साधनों के जुट जाने पर अनिवार्य होता है कि उसमें अध्ययन करने वाले छात्र प्रवेश पाएँ। छात्रों का प्रवेश किस आधार पर किया जाय, उनको कक्षा और वर्गों में किन आधारों पर विभक्त किया जाये, विभक्त करने की आवश्यकता क्यों है, वर्गीकरण से क्या लाभ और हानियाँ हैं, और उनका निराकरण कैसे सम्भव है, आदि अनेक प्रश्न प्रधानाध्यापक के सम्मुख आते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास करेंगे।

छात्र विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते हैं। हम यह कह चुके है कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा छात्र समाज में उपलब्ध ज्ञान-राशि एवं समाज की संस्कृति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करके साथ ही साथ उसे विकसित करने की शक्ति भी प्राप्त करता है। इस सामाजिक प्रक्रिया को सफल और उपयोगी बनाने के उद्देश्य से ही विद्यालय की स्थापना होती है। छात्र विद्यालय में इसी उद्देश्य की पूर्ति-हेतु आते हैं। अतः विद्यालय के व्यवस्थापकों तथा अध्यापकों का यह कर्तव्य होजाता है कि वे शिक्षा-उद्देश्यों की पूर्ति में छात्र को अधिक से अधिक सहायता पहुँचाएँ और इस बात का प्रयत्न करें कि छात्र धिद्यालय से पूर्ण लाभ उठावें। इसके लिए अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक है कि छात्रों का प्रवेश और वर्गीकरण निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर सावधानी के साथ किया जाए।

विद्यालय-प्रवेश के आधार

छात्रों के विद्यालय-प्रवेश के आधार योग्यता, आयु (शारीरिक एवं मानसिक), रुचि और भावी जीवन में अभीष्ट कार्य होने चाहिये। इसके लिये अध्यापक और विशेषकर प्रधानाध्यापक को छात्र की शारीरिक स्थिति, उसके मानसिक एवं बौद्धिक विकास, उसकी स्वाभाविक रुचि तथा उसकी आकांक्षा आदि की जानकारी आवश्यक होती है। प्रधानाध्यापक को उचित है कि प्रवेश के लिये उपस्थित बालक की विभिन्न प्रकार से परीक्षा करके उसकी योग्यता और शक्तियों का मूल्याङ्कन करले और जिस प्रकार की कक्षा के लिये उसे योग्य समझे, उसमें उसका प्रवेश करले। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इस प्रकार का प्रवेश आरम्भ में ही सम्भव है जबकि छात्र अपने घर के वातावरण से विद्यालय में प्रवेश के लिये आता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली कक्षा-प्रणाली पर आधारित है। यदि छात्र किसी एक विद्यालय से एक कक्षा उत्तीर्ण करके आए, तो उसका प्रवेश किसी अन्य विद्यालय की अगली कक्षा में ही स्वतः हो जाता है। प्रवेश के लिये प्रत्येक विद्यालय में एक प्रवेश-पत्र होता है। इसमें छात्र का नाम, आयु, योग्यता अभिभावक का नाम और पता आदि का लेखा दिया जाता है। इससे भी छात्र-विषयक अनेक बातों की जानकारी हो जाती है। हमारे विचार से प्रत्येक प्रधानाध्यापक को अपने विद्यालय में प्रवेश के लिए आये हुए छात्र की नये सिरे से जाँच कर लेनी चाहिए। बहुत से विद्यालय विभिन्न कारणों से अयोग्य छात्रों को भी कक्षोत्तीर्णता का प्रमाणपत्र दे देते हैं। ऐसे छात्र कक्षा में न केवल चल नहीं पाते अपितु अन्य छात्रों की प्रगति में बाधक बनते हैं और बाद में अनेक प्रकार से परेशानी के कारण बन जाते हैं।

वर्गीकरण : अर्थ और महत्त्व

विद्यालय के समस्त छात्र विभिन्न कक्षाओं और उप-कक्षाओं में विभाजित किये जाते है। इस विभाजन को हम वर्गीकरण कहते हैं। आदर्श शिक्षा-व्यवस्था में यदि प्रत्येक बालक के लिये एक शिक्षक हो, तो अति उत्तम है। किन्तु आज जनतन्त्रीय व्यवस्था एवं सामाजिक कल्याण का युग है। आज की शिक्षा समानता, स्वतन्त्रता और सामाजिक उत्थान की भावनाओं से अनुप्राणित है। सिद्धान्ततः हम समाज के किसी भी बच्चे को शिक्षाप्राप्ति से वंचित नही कर सकते। प्रत्येक बच्चे को शिक्षा-प्राप्ति का समान अधिकार और समान सुविधाएँ प्रदान करना समाज का कर्तव्य हैं। इस कारण यह सम्भव नहीं हो सकता है कि एक अध्यापक एक ही छात्र का अध्यापन करे। आधुनिक परिस्थितियों, अध्यापन-सुविधाओं, शिक्षण-व्यय तथा सामाजिक आवश्यकताओं आदि की दृष्टि से भी कक्षा-प्रणाली ही उपयुक्त सिद्ध होती है। वर्गीकरण के बिना कक्षा-प्रणाली तथा इसके बिना वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था चल ही नहीं सकती।

वर्गीकरण के सामान्य सिद्धान्त

ऐसी परिस्थिति में वर्गीकरण के आधार और सिद्धान्त भी निश्चित होने चाहिये। उनका संक्षिप्त निरूपण निम्नलिखित है :—

प्रथम सिद्धान्त—आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान के अनुसार छात्रों के वर्गीकरण के आधार आयु, योग्यता और रुचि होने चाहिये। समान आयु, योग्यता और रुचि रखने वाले छात्रो को एक कक्षा में रखना चाहिये। यदि ऐसा करना सम्भव हो जाय, तो अध्यापन-कार्य अत्यन्त सुविधाजनक हो जायगा। एक ही आयु, योग्यता और रुचि के छात्रों को अध्यापक समान गति से पढ़ा सकेगा और सब पर समान ध्यान दे सकेगा। छात्रों के दृष्टिकोण से भी वह वर्गीकरण आदर्श होगा क्योंकि कक्षा के सभी छात्र समान रूप से शिक्षण का लाभ उठा सकेंगे और सभी समान रूप से प्रगति कर सकेंगे। सभी छात्र एक समान स्तर पर होंगे, तो उनमें हीनता, भय, निराशा आदि की मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं उत्पन्न होंगी और वे शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति सरलता से कर सकेंगे। सिद्धान्त रूप से वर्गीकरण के ये आधार मनोवैज्ञानिक एवं सर्वमान्य है। किन्तु इनके पालन में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आ पड़ती है।

कमियाँ और कठिनाइयाँ

(अ) समान आयु—हमारे शिक्षा-विभागों ने कुछ आयु-वर्गो को निश्चित करके निर्देश दे दिए हैं कि समान आयु के बालकों को एक कक्षा में रखकर

शिक्षा दी जाय। उदाहरण के लिये, प्राइमरी विद्यालय में प्रवेश की न्यूनतम आयु ५ वर्ष की रखी गई है। किसी कक्षा में शिक्षा पाने वाले छात्र की अधिकतम आयु भी निर्धारित कर दी गई है। यदि छात्र की आयु अधिकतम आयु से अधिक हो जाय, तो सिद्धान्त रूप में उसका प्रवेश उस कक्षा मे नहीं होना चाहिये। व्यावहारिक रूप में हम शिक्षार्थी का वर्गीकरण इस आधार पर करते हैं। किन्तु सिद्धान्त के विचार से यह वर्गीकरण उचित नहीं कहा जासकता। यह आवश्यक नहीं है कि समान आयु के छात्रों में समान योग्यता, समान रुचि और समान शारीरिक और मानसिक विकास पाये जावें। वास्तविकता भी ऐसी ही पाई जाती है कि कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः समान नही होते। सभी में व्यक्तिगत भेद पाये जाते है। समान आयु के छात्रों मे भी कुछ कुशाग्र-बुद्धि, कुछ मध्यम-बुद्धि और कुछ मन्द-बुद्धि के होते है। इन सबको साथ रखकर पढ़ाने मे बड़ी कठिनाई पड़ती है।

(आ) **समान योग्यता**—बालक की योग्यता के अनुसार भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार के वर्गीकरण से प्रत्येक बालक को पूर्णरूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त हो सकता है। इससे अध्यापक और छात्र दोनों ही को लाभ होता है। यदि योग्यता के आधार पर कक्षाएं बनाई जायें, तो विभिन्न छात्रों मे योग्यता का अन्तर न्यूनतम किया जा सकता है और अध्यापन की दृष्टि से यह वर्गीकरण अत्यन्त लाभदायक हो सकता है। किन्तु यहाँ भी वही कठिनाई उपस्थित होती है कि विभिन्न व्यक्तियों में पूर्णतः समान योग्यता का होना असम्भव है। सभी की योग्यताओ मे किसी न किसी प्रकार की असमानता अवश्य पाई जाती है। कोई किसी विषय में कुशाग्र-बुद्धि होता है तो अन्य किसी में मन्द-बुद्धि। समान योग्यता वालों में भी समान रुचि का होना अनिवार्य नहीं है। और समान योग्यता का पता लगाना भी एक टेढ़ी खीर है। इसके लिये प्रत्येक बालक का विस्तृत मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है और उसके लिये साधनों की उपलब्धि का प्रश्न सम्मुख आता है। हमारे देश में अभी बुद्धि-परीक्षा, निदानात्मक-परीक्षा तथा अन्य नवीन प्रकार की परीक्षाओं का अभाव है अतः योग्यता का माप भी सरलता मे नहीं किया जासकता। समान योग्यता के छात्र यदि विभिन्न आयुओं के हुए, तब एक कठिनाई यह आपड़ती है कि एक ही कक्षा के बड़ी आयु के अतः शारीरिक दृष्टि से अधिक विकसित छात्र अपने से छोटों के साथ दुर्व्यवहार करने लग सकते हैं।

(इ) **समान रुचि**—समान रुचि के आधार पर भी छात्रों का वर्गीकरण किया जासकता है। एक प्रकार की रुचि वाले छात्रों का एक समूह बनाकर उन्हे अपनी रुचि के अनुसार विषयों के चयन और अध्ययन के लिये

प्रोत्साहित किया जासकता है। इस प्रकार का शिक्षण अत्यन्त प्रभावशाली और छात्र के भविष्य जीवन के लिये अधिक उपयोगी हो सकता है। किन्तु कठिनाई इसमे भी कम नही है। कहावत भी है कि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः।" लोगों का रुचि-वैचित्र्य प्रसिद्ध ही है। फिर विद्यालय कहाँ तक प्रत्येक की रुचि के अनुसार कार्य करने में समर्थ होगा जब कि छात्रों मे व्यक्तिगत भेदों का होना स्वामाविक ही है। इस आधार पर तो वर्गों का बनाना ही कठिन हो जाएगा।

व्यावहारिक मार्ग

इन परिस्थितियो मे किया क्या जाय? यदि आयु, योग्यता और रुचि के आधार दोषपूर्ण है, तो वर्गीकरण और किस अन्धार पर हो सकता है? वास्तव मे आदर्श वर्गीकरण असम्भव नही, तो दुसाध्य अवश्य है। वर्तमान परिस्थितियों मे यही पर्याप्त होगा कि हम आदर्श के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न करते रहें और विभाजन को यथासम्भव समान आयु, समान योग्यता और समान रुचि के समन्वय पर आधारित बनाते रहे।

द्वितीय सिद्धान्त—प्रत्येक कक्षा मे छात्रों की निर्धारित संख्या होनी आवश्यक है। प्राइमरी कक्षाओ मे ३३, जूनियर हाई स्कूल कक्षाओं मे ३५, हाई-स्कूल कक्षाओं मे ४० और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं मे ५० की संख्या शिक्षा-सहिता द्वारा स्वीकृत है। इनसे अधिक सख्या व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अवांछनीय है क्योंकि एक अध्यापक इससे अधिक संख्या की कक्षाओ को न तो सुचारु रूप से पढ़ा सकता और न उनका उचित निरीक्षण ही कर सकता है। आदर्श व्यवस्था मे तो सख्या इससे मी कम होनी चाहिये। आवश्यकतानुसार प्रत्येक कक्षा को विभागों मे विभाजित किया जा सकता है। ऐसा करते समय भी छात्रो की आयु, योग्यता और रुचियो की अधिकाधिक समानता पर विशेषता बल दिया जाना चाहिए। छात्रों को विभिन्न परीक्षाओं द्वारा जाँचकर उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि प्रत्येक विभाग के छात्रों की आयु, मानसिक आयु, योग्यता और रुचि मे अधिक से अधिक समानता हो और उनकी सख्या भी अधिक न हो। प्रत्येक कक्षा अथवा उसके विभाग में पुनः वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ सकती है। पूरी कक्षा चूँकि कभी समान योग्यता की नहीं हो सकती अत. उसको तीन उपकक्षाओं अथवा प्रविभागों में बाँटा जासकता है। यह कार्य अध्यापक को स्वयं करना पड़ेगा। इस प्रकार का प्रविभाजन प्रत्येक वर्ग में विषय की दृष्टि से करना उचित होगा और यह भी ध्यान रखना उचित होगा कि वह स्थायी न रहे। जैसे जैसे छात्रों की योग्यता-स्थिति में परिवर्तन होता रहे, वे विभिन्न वर्गों के

सदस्य बनते रहे। इससे छात्रों में हीनता आदि की भावना-ग्रन्थियाँ नहीं बनेंगी और उनके मनों में आगे बढ़ने का उत्साह उत्पन्न होता रहेगा।

तृतीय सिद्धान्त—समाज में कुछ बालक शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताओं से पीड़ित होते हैं। इन्हें विद्यालयों की सामान्य कक्षाओं में रखने से कोई लाभ नहीं हो सकता है। उनके लिये विशेष कक्षाओं अथवा विद्यालयों का प्रबन्ध होना चाहिये।

चतुर्थ सिद्धान्त—आदर्श सामाजिक व्यवस्था में सभी छात्र समान सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर के हो सकते हैं किन्तु वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में ऐसा नहीं पाया जाता है। अतः वर्गीकरण करते समय छात्र की इन पृष्ठभूमियों को भी ध्यान में रखना चाहिये।

वर्गीकरण की समालोचना

लाभ—उपरोक्त वर्गीकरण से लाभ भी हैं और हानियाँ भी। इससे प्राप्त लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) वर्गीकरण के द्वारा छात्रों को कक्षाओं और विभागों में विभाजित कर देने से अध्यापक और छात्र का सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हो जाता है। उन्हे एक दूसरे के सम्पर्क मे आने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। बालक अध्यापक के आदर्शों से प्रभावित होते है और अनुकरण द्वारा अपने को उन आदर्शों के अनुसार ढालने का प्रयत्न करते हैं। सुयोग्य अध्यापक इस तथ्य को जानते है अतः वे छात्रों के सम्मुख आदर्श रूप में उपस्थित होने का प्रयत्न करते है ताकि छात्र समाज के योग्य नागरिक बन सके।

(२) वर्गीकरण द्वारा समान आयु, योग्यता और रुचि के छात्र एक कक्षा अथवा विभाग मे एकत्रित हो जाते हैं। इससे अध्यापक एवं छात्र दोनों ही के समय और श्रम का सदुपयोग होता है, अन्यथा दोनों ही के समय और श्रम का दुरुपयोग होना सम्भव है। विभिन्न योग्यता के छात्रों को एक ही गति और एक ही प्रणाली से पढ़ाना व्यर्थ है क्योंकि उससे सब को समान लाभ नहीं हो सकता है।

(३) यदि कक्षा समान योग्यता पर आधारित है, तो प्रत्येक छात्रपर व्यक्तिगत ध्यान अधिक दिया जा सकता है और सामूहिक शिक्षण की अनेक त्रुटियों का निवारण किया जासकता है। सामूहिक शिक्षण में वैसे ही व्यक्तिगत ध्यान देना अध्यापक के लिये कठिन हो जाता है। यदि वर्गीकरण उचित प्रकार से नहीं किया गया है, तो यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है।

(४) समान आयु, योग्यता और रुचिपर आधारित कक्षा एक आदर्श

सामाजिक समूह के समान होती है। कुशल नागरिकता के प्रशिक्षण का यह सर्वोत्तम माध्यम हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के समूह मे सहानुभूति, प्रेम, सहयोग, उदारता आदि गुण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं।

(५) शिक्षा की व्यवस्था करने में समाज अथवा समाज के प्रतिनिधियों को अधिक सरलता और सुविधा प्राप्त हो जाती है। विद्यालय के कार्य, विद्यार्थियों के ज्ञान और अध्यापकों की कुशलता और क्षमता का मूल्यांकन करने में कक्षा-प्रणाली अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। इसमे सार्वजनिक-परीक्षाओं द्वारा छात्रों की योग्यता का सामूहिक मूल्यांकन उसके अनुसार उन्हें समाज के विभिन्न कार्यों का उत्तरदायित्व प्रदान किया जा सकता है।

(६) छात्रों को अपनी स्वाभाविक शक्तियों और परिस्थितियों के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है और उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही उनके पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाती है।

हानियाँ—वर्गीकरण से हानियाँ भी होती है और उनका विवेचन करना भी आवश्यक है :—

(१) समानता का सिद्धान्त वर्गीकरण मे लागू करना असम्भव है। विभिन्न परीक्षणों और सिद्धान्तों के आधार पर किया गया वर्गीकरण भी पूर्णतः संतोष-जनक नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि हम व्यक्तिगत भेदों को पूर्णतः मिटा नही सकते। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक, पारिवारिक आदि भेद-भाव स्वाभाविक है। संसार के कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः समान नही हो सकते अतः वर्गीकरण में भी समानता का सिद्धांत केवल सिद्धान्त ही रहेगा वह व्यावहारिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकेगा।

(२) जब समानता का सिद्धान्त वर्गीकरण में सम्पूर्णतः लागू करना असम्भव है, तो यह भी निर्विवाद है कि किसी भी वर्गीकरण से सभी छात्रों के साथ पूर्णरूप से न्याय नही किया जा सकता है और न सब छात्र वर्गीकरण से समान लाभ उठा सकते है।

विद्यालय का कर्तव्य

ऐसी परिस्थिति में विद्यालय का क्या कर्तव्य है ? ऐसी परिस्थितियों के के लिये समाज ने एक अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्त "The greatest good of the greatest number"—(बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय) स्थिर कर लिया है। हमारा वर्गीकरण ऐसा होना चाहिये कि उससे अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक लाभ हो सके। मानवीय उपादान तथा अन्य उपादानों में यही अन्तर है कि मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त अनेक शक्तियों से विभू-

षित है और उसका उपयोग मनचाहे ढङ्ग से नहीं किया जा सकता। उसकी नैसर्गिक शक्तियों और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास के लिये समान अवसर प्रदान करने का कार्य अत्यन्त कठिन तथा जटिल है। हम केवल प्रयत्न कर सकते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में वर्गीकरण द्वारा हम अधिक से अधिक लोगों को समुचित विकास का अवसर प्रदान कर सकें।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें वर्तमान वर्गीकरण-प्रणाली को अधिकाधिक वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक बनाने की आवश्यकता है। प्रणाली को उन्नत, प्रगतिशील और लचीली बनाने के लिये हमें आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान से अधिकाधिक सहायता लेनी चाहिये। इस सहायता के आधार पर ही हम व्यक्तिगत अन्तरों को न्यूनतम बना सकेंगे। मनोविज्ञान ने छात्रों की सहज-वृद्धि, विशेष-बुद्धि, रुचि, ध्यान, स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि पर विशेष प्रयोगों तथा अध्ययनों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनका उपयोग वर्गीकरण को उन्नत एवं वैज्ञानिक बनाने में किया जा सकता है।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने बहूद्देशीय विद्यालयों की स्थापना पर विशेष बल दिया है। इनमे विभिन्न पाठ्यक्रमों की सुविधा प्रदान करने का अवसर प्राप्त होता है और विविध पाठ्यक्रमों द्वारा विभिन्न रुचियों और रुझानों के विद्यार्थियों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम दिया जासकता है। पाठ्यक्रम जितना ही विस्तृत होगा, उतना ही हम वर्गीकरण से होने वाली हानियों का निराकरण कर सकेंगे। इस प्रकार का वर्गीकरण अधिक जनतंत्रीय भी होगा क्योंकि इसमें प्रत्येक बालक को अपनी सामर्थ्य, योग्यता और रुचि के अनुसार पाठ्यक्रम के चुनने का अवसर प्राप्त होगा और इस प्रकार हम 'सबके लिये समान अवसर' के सिद्धान्त को बहुत कुछ पूरा कर सकेंगे। कुछ विद्वानों के मत से यह भी आदर्श व्यवस्था नहीं है। उनका कहना है कि किसी व्यक्ति की योग्यता, रुचि और भावी शक्तियों का पता पूर्णतः नही लगाया जा सकता है अतः उसे पूर्व-निश्चित पाठ्य-क्रम और विषयों के दायरे में बाँधना उचित नहीं है। इस दृष्टिकोण से वर्गीकरण होना ही नहीं चाहिये और प्रत्येक के लिए व्यक्तिगत विकास की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। किन्तु हम दिखला चुके हैं कि यह उग्रवादी और केवल सिद्धान्त की बात है। यह व्यावहारिक नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में जो जो व्यावहारिक है, उसी पर ध्यान देना और उसे सफल बनाना हमारा कर्तव्य है।

यदि विद्यालय में छात्रों की संख्या पर्याप्त हो और प्रत्येक कक्षा में कई विभागों की आवश्यकता हो, तो प्रधानाचार्य वर्गीकरण के सिद्धान्तों का अधि-

काधिक प्रयोग कर सकता है ।यदि अध्यापकों और प्रधानाध्यापक ने छात्रों का विधिवत अध्ययन किया है, तभी वे एक विभाग में समान आयु, योग्यता, और स्वभाव के छात्रों को रख सकेंगे, अन्यथा वे अच्छा विभाग बनाने में असफल होंगे ।

वर्गीकरण एवं सह-शिक्षा

विद्यालय के उपादान का विवेचन करते हुये हमने प्राय छात्र और बालक शब्दों का प्रयोग किया है । किन्तु यह केवल सुविधा की दृष्टि से और अभ्यास-वश हुआ है । वास्तव में हमारा अभिप्राय बालक और बालिका दोनों से है । यही बात हम सम्पूर्ण पुस्तक के विषय में भी कह सकते है । दोनों ही शिक्षार्थी हैं और शिक्षा-सिद्धान्त समान रूप से दोनों पर लागू होते हैं । उनकी परि-स्थितियाँ और समस्याएं विभिन्न हो सकती है । वर्गीकरण के सम्बन्ध में सह-शिक्षा की समस्या भी सम्मुख आती है । क्या बालक और बालिकाओं को एक साथ शिक्षा दी जाय अथवा उनके लिये एक ही विद्यालय में भिन्न-भिन्न वर्ग बनाए जाएँ, या विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था की जाय, इन प्रश्नों के उत्तर में विश्व के शिक्षा-शास्त्रियों में मतैक्य नहीं है । इसके परिणामस्वरूप विभिन्न विचारधाराओं के अनुसार सह-शिक्षा के भी विभिन्न स्वरूप विश्व में पाये जाते हैं । कहीं पर आरम्भ से अन्त तक प्रत्येक स्तर पर सह-शिक्षा का प्रचलन मिलता है । कहीं पर प्राथमिक और उच्च शिक्षा में सह-शिक्षा है किन्तु माध्यमिक स्तर पर नहीं है । कहीं पर सह-शिक्षा का प्रबल विरोध है और किसी स्तर पर सह-शिक्षा नहीं है । कहीं पर लड़के और लड़कियों को एक ही कक्षा में साथ बिठा कर पढाया जाता है । कहीं पर दोनों को एक ही कक्षा में अलग-अलग बैठा कर शिक्षा दी जाती है । कुछ विद्यालयों में दोनों की अलग-अलग कक्षाएँ होती हैं, कुछ में सम्मिलित ।

सह-शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों का कारण सह-शिक्षा-विषयक मतभेद है । सह-शिक्षा के पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये जाते हैं, किन्तु अभी तक किसी निश्चित निष्कर्ष पर विश्व के शिक्षा-शास्त्री नहीं पहुँच सके हैं । पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली और पाश्चात्य विचार-धारा प्रायः सह-शिक्षा का समर्थन करती हैं किन्तु प्राच्य विचारधारा इसके विपक्ष में है । अच्छा यह होगा कि हम सह-शिक्षा के पक्ष एवं विपक्ष का समुचित विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करें ।

पक्ष में—(१) सह-शिक्षा का आरम्भ सम्भवतः आर्थिक कारणों से हुआ । बालक और बालिकाओं के लिये अलग-अलग विद्यालयों की स्थापना करना

अधिक व्यय-साध्य कार्य है। जब से राज्य ने शिक्षा देने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है, तब से शिक्षा-व्यय भी राजकोष का अङ्ग होगया है। मितव्ययिता के दृष्टिकोण से सह-शिक्षा व्यय अथवा आर्थिक समस्या को सुलझा सकती है। समाज ने भी विकास-क्रम में अनुभव किया कि शिक्षा की उपयोगिता दोनों लिंगों के लिये समान है और बालक और बालिकाओं दोनों ही के लिये शिक्षा आवश्यक है। अतः समाज ने सरल मार्ग अपनाया और सह-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर आर्थिक भार से बचने का मार्ग निकाल लिया।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण से भी सह-शिक्षा लाभप्रद है। विद्यालय समाज का लघुरूप है। समाज दोनों लिंगों से मिलकर बना है। समाज में स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते है। विद्यालय में भी यदि दोनों साथ ही शिक्षा ग्रहण करें, तो उनमें अनेक सामाजिक गुणों का स्वतः समावेश हो जायगा। साथ अध्ययन करने से एक दूसरे के गुण-अवगुण समझने की शक्ति का विकास होगा, सहयोग-भावना बढेगी, सामाजिक व्यवहार-कुशलता उत्पन्न होगी, और पारस्परिक विश्वास और सहानुभूति का विकास होगा। वास्तव में एक आदर्श समाज में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक है। एक की प्रकृति, स्वभाव, आचरण, गुण एवं कार्य दूसरे से भिन्न है। यदि दोनो को साथ रख दिया जाय, तो स्वाभाविक है कि वे एक दूसरे से प्रभावित होंगे और इस प्रक्रिया द्वारा दोनों के अवगुणो का ह्रास होगा और उनके गुणों का विकास होगा, पारस्परिक आदरभावना की अभिवृद्धि होगी और अप्राकृतिक आचरणों की जड़ नष्ट हो जायगी, पारस्परिक सम्बन्धों का विकास अधिक स्वाभाविक ढंग से हो सकेगा और दोनों का चारित्रिक विकास समुचित एवं वांछनीय ढंग से होगा।

(३) शिक्षा की व्यवस्था एवं प्रशासन के दृष्टिकोण से भी सहशिक्षा अधिक उपयुक्त है। सह-शिक्षा के अभाव में दोनों के लिये दो व्यवस्थाएं एवं दो प्रशासन-प्रणालियाँ आवश्यक हो जाती है। इससे अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएं उठ खडी होती हैं और अनुशासन की समस्याएँ भी अधिक हो जाती हैं। शिक्षा-क्षेत्र का अनुभव है कि सह-शिक्षा से बालक अधिक विनयशील हो जाते हैं और उनकी उद्दण्डता और अशिष्टता में कमी आ जाती है। ऐसे वातावरण में अनुशासन-भंग होने की सम्भावना कम होती है। दोनों को अलग-अलग विद्यालयों में रखने से दोनों ही में एक दूसरे के प्रति एक स्वाभाविक कौतूहल बना रहता है और अवांछमीय आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप अनुशासन और प्रशासन की समस्या अधिक उग्र होने की आशंका होती है।

(४) शैक्षणिक दृष्टि से भी सह-शिक्षा अधिक उपयुक्त है। बालिकाएं स्वभाव से ही अधिक प्रयत्नशील, परिश्रमी और कुछ बिषयों में अधिक रुचि

रखने के कारण उनमें विशेष प्रगतिशील होती हैं। बालक उनके सम्पर्क एवं प्रतिस्पर्धा के कारण उन्नत बनने के लिये बाध्य हो जाते हैं। उसी प्रकार बालिकाएं भी बालकों के विशेष क्षेत्रों में प्रगतिशील बनने का प्रयत्न करती है। हमारा स्वयं का अनुभव है कि सह-शिक्षा के कारण एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का सृजन होता है और उससे शिक्षा का स्तर ऊँचा उठ जाता है।

(५) सह-शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक वर्ग भी प्रायः संयुक्त वर्ग होता है जिसमें अध्यापक एवं अध्यापिकाएं दोनों ही होते है। इसके कारण विद्यालय वस्तुतः समाज का लघुरूप हो जाता है। विद्यालय सच्चे अर्थ मे एक परिवार बन जाता है और बालक एवं बालिकाओं के व्यक्तित्व के विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं पडती है। बालक और बालिकाओं को पुरुष एवं स्त्री-दोनों ही के साहचर्य एवं सम्पर्क का लाभ होता है और वे दोनों ही की विशेषताओं से लाभान्वित होते हैं।

विपक्ष में—अनेक शिक्षाविदों ने सह-शिक्षा के विपक्ष में भाँति-भाँति के तर्क उपस्थित किये है। उनका सारांश नीचे दिया जाता है :—

(१) **नैतिक दृष्टिकोण**—प्रकृति ने स्त्री और पुरुष की शारीरिक गठन, मानसिक विकास एव कार्यक्षेत्र में अन्तर रखा है। दोनों का जीवन उद्देश्य एक होते हुए भी भिन्न है। दोनों का पारस्परिक आकर्षण ही मानव-सृष्टि का मूल है। इस आकर्षण का आधार सौन्दर्योपभोग की लालसा एवं काम-वासना हैं। ये स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। इनका पूर्णतः दमन असम्भव है। समाज ने इन्हें नियन्त्रित करने के लिये अनेक सामाजिक, धार्मिक, आत्मिक एवं नैतिक नियम बनाये हैं। फिर भी अवसर आने पर स्वाभाविक प्रवृत्तियां इन बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर अपनी तृप्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती हैं। इससे अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। किशोरावस्था से पूर्व लिंग-भावना कम प्रबल होती है। अतः उस समय सह-शिक्षा से अधिक हानि होने की सम्भावना नहीं रहती है किन्तु किशोरावस्था में लिंग-भावना प्रबल होने लगती है और सह-शिक्षा मे चारित्रिक पतन की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। चारित्रिक पतन से होने वाले भयंकर परिणामों को ध्यान में रखते हुये सह-शिक्षा उचित नहीं मानी जा सकती।

(२) **सामाजिक जीवन का दृष्टिकोण**—समाज में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सहयोग से जीवन सुखी होता है। पारवारिक जीवन में स्त्री घर की स्वामिनी होकर घर गृहस्थी के चलाने में पुरुष की सहायता करती है। दोनों के कार्यक्षेत्र में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक है। घरेलू कार्य, गृहप्रबन्ध, भोजन-व्यवस्था, वस्त्र-व्यवस्था, संतान का पालन आदि स्त्री के सदैव से विशेषाधिकार

रहे हैं। शिक्षा-क्षेत्र में भी दोनों की शिक्षा में कुछ अन्तर रखना सामाजिक व्यवस्था के लिये अधिक उपयोगी होगा। विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले सभी विषय यदि बालक-बालिकाओं के लिये समान ही हों, तो सम्भव है, दोनों को उनसे वांछित लाभ न हो। बालकों को उन बिषयों को पढ़ाना अधिक उपयोगी होगा, जो उनके लिये अधिक उपयोगी और आवश्यक हों और बालिकाओं के लिये उन विषयों के शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये, जो उनके भविष्य जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी हों। सहशिक्षा में इस प्रकार की सुविधा नहीं हो सकती है अतः दोनों की शिक्षा अलग-अलग होनी चाहिये ताकि दोनों अपने-अपने सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक एवं उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त सकें।

(३) **स्वाभाविक, सहज गुणों का दृष्टिकोण**—समानता की जितनी भी प्रशंसा की जाय और उसके पक्ष में कितने ही नारे लगाये जाएँ, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रकृति में असमानता और व्यक्तिगत भेदों की प्रचुरता है। स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक, सहज विभेदों को दूर करना प्रकृति से विद्रोह करना है। बालिकाएँ स्वभाव से ही मृदुल एवं लज्जाशील होती हैं। यदि सहशिक्षा में बालकों की संख्या कुछ अधिक हो और बालिकाओं की कम, तो बालिकाओं के स्वाभाविक विकास में अवश्य बाधा पड़ जायगी। वे बालकों से दबी रहेगी। इसका उलटा होने पर परिणाम भी उलटा हो जायगा और बालकों में स्त्रियोचित गुणों के उत्पन्न होने की आशंका बढ जायगी।

(४) **मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण**—शिक्षा बालकेन्द्रित होनी चाहिये अर्थात् बालक की [illegible] के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। वंशगत संस्कारों एवं प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्तियों के कारण बालक और बालिकाओं की आवश्यकताएं सम्पूर्णतः समान नहीं हो सकती। अतः उनकी शिक्षा भी सम्पूर्णतः समान नहीं होनी चाहिये। किशोरावस्था में उत्पन्न होने वाली लिंगीय भावनाओं का पूर्णतः निवारण नहीं हो सकता। विभिन्न वातावरणों में दोनों को पृथक्-पृथक् रखने से उन्हें नियंत्रित करने में सुविधा होगी और उनके भीतर मानसिक ग्रन्थियों की उत्पत्ति में कमी की जासकेगी।

निष्कर्ष—सहशिक्षा के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इससे लाभ और हानियाँ दोनों ही है। ऐसी परिस्थिति में मध्यम मार्ग अपनाना उत्तम होगा। बाल्यावस्था में ११ अथवा १२ वर्ष की आयु तक सहशिक्षा अधिक उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध होगी। इस अवधि में बालक और बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जासकती है। इससे दोनों को

पर्याप्त लाभ हो सकता है और शिक्षा-व्यय भी कम रहेगा। किन्तु १२ वर्ष की आयु के पश्चात बालक और बालिकाओं की शिक्षा-व्यवस्था अलग अलग होनी चाहिये ताकि उनको सहशिक्षा से होने वाली हानियों से बचाया जा सके। आगे चलकर उच्च शिक्षा में दोनों फिर साथ ही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि तब तक उनके व्यक्तित्व में प्रौढ़ता आजाती है और वे अपनी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना सीख जाते है।

ऊपर जो सुझाव रखा गया है वह आधुनिक विचारधारा के अनुसार है। किन्तु सहशिक्षा के विषय में निर्णय करते समय देश, काल, समाज एवं परिस्थितियों पर भी विचार करना उचित है। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष संस्कृति होती है। उसके अनुसार समाज की मान्यताएँ, आकांक्षाएँ एवं परम्पराएँ होती हैं। शिक्षा को जीवन से भिन्न नहीं किया जासकता है। शिक्षा-व्यवस्था समाज की जीवनधारा के अनुरूप ही होनी उचित है, वर्ना समाज के आदर्शों, समाज की परम्पराओं और समाज के संगठनों के छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका उपस्थित हो जायगी। सामाजिक वातावरण का विचार यदि न किया जावेगा, तो शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव न हो सकेगी। समाज का चेतन वर्ग स्वयं अपने सामाजिक वातावरण में अपेक्षित सुधारों की ओर उन्मुख होता है और आवश्यकता होने पर सामाजिक वातावरण को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। यदि समाज सहशिक्षा की मांग करता है तो उस मांग को पूरा करना व्यवस्थापकों का कर्तव्य है। परंतु एक बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए कि यदि समाज विद्यार्थी-काल में बालकों और बालिकाओं से ब्रह्मचर्य-पालन की आशा करता है, तो उसे सहशिक्षा के प्रचलन द्वारा ब्रह्मचर्य-विरोधी वातावरण उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। काम-भावना इतनी बलवान् वासना है कि शुष्क तर्कों द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अभी हमारे भारतीय समाज में सहशिक्षा पर मतैक्य नहीं है। हमारी प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराएँ सह-शिक्षा के विरुद्ध हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ भी इसके मार्ग में बाधा उपस्थित करती हैं। इस समय भारत संक्रान्ति काल में चल रहा है। पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता एवं शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित वर्ग प्रायः सह-शिक्षा का समर्थक है। किंतु प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराओं के समर्थक सह-शिक्षा के विपक्ष में हैं। अतः किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन है। आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुये हमको ऊपर दिया हुआ निष्कर्ष ही उचित जान पड़ता है अर्थात् प्राथमिक एवं उच्चशिक्षा स्तरों पर सह-शिक्षा-व्यवस्था हो

किंतु माध्यमिक स्तर पर बालक और बालिकाओं की शिक्षा भिन्न-भिन्न संस्थाओं में दी जाय।

उपसंहार

इस अध्याय में वर्गीकरण से सम्बन्धित सामान्य सलाहें देदी गई हैं। बहुत सी समस्याएँ तब उठती हैं, जब कार्य में हाथ लिया जाता है। वर्गीकरण का कार्य हाथ में लेने पर जो समस्याएँ उत्पन्न होंगी, उनका समाधान प्रधानाध्यापक तथा अध्यापक दोनों को सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर अपनी सूझ-बूझ से ही करना पड़ेगा। वर्गीकरण जितना अधिक छात्रों की वैयक्तिक क्षमता के अनुकूल होगा, वे उतने ही अधिक लाभान्वित होंगे।

चतुर्दश अध्याय

अनुशासन-व्यवस्था

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; अनुशासन का अर्थ; अनुशासन एवं व्यवस्था; अनुशासन का स्वरूप; अनुशासन के घटक तत्त्व; अनुशासन-शिक्षा के अभिकरण; अनुशासन शिक्षा के उपाय—शिक्षण, प्रशिक्षण, वातावरण-निर्माण, दण्ड-व्यवस्था—दण्ड का अर्थ, दण्ड के रूप, दण्ड की व्यर्थता क्यों, दण्ड की उपयुक्त परिस्थिति, परिस्थिति उत्पन्न कैसे हो ?, दण्ड-रूपों पर विचार-निन्दा (एकान्त में) सार्वजनिक निन्दा, छुट्टी के पश्चात् रोक, अधिकारों से बंचित कर देना, अर्थ-दण्ड, निष्कासन, शारीरिक दण्ड, सामान्य निर्देश, पुरस्कार-व्यवस्था—पुरस्कार के प्रयोजन, पुरस्कार के रूप, पुरस्कार की व्यर्थता के कारण, विद्यालय क्या करे, पुरस्कार: उचित या अनुचित; कक्षा में अनुशासन; उपसंहार ।

प्रस्तावना

किसी संगठन में चलने वाला सम्पूर्ण व्यापार अथवा क्रिया-कलाप तभी साधना को लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकता है, जब कि उस संगठन के सभी साधक एवं चेतन साधन अपने व्यवहारों में अनुशासित हों । उनके व्यवहार में

अनुशासन-हीनता उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण संगठन में अव्यवस्था का राज्य हो जाएगा और वह प्रगति करने के स्थान पर अधोगति के गर्त में गिरने लगेगा। आज सम्पूर्ण देश में और विशेषतया शिक्षा-जगत् में अनुशासन-हीनता का बोल वाला होरहा है। इस पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने के साथ-साथ व्यापक रूप से देश में फैली हुई अनुशासन-हीनता की समस्या के विषय में छात्राध्यापकों को आवश्यक जानकारी देने के लिए इस अध्याय का आरम्भ किया जारहा है।

"अनुशासन" का अर्थ

"अनुशासन" शब्द आजकल एक नवीन अर्थ में प्रयुक्त होरहा है। मूलतः यह शब्द संस्कृत भाषा का है। वहाँ इसका अर्थ "उपदेश"[1] है। परन्तु अब इसका प्रयोग अंग्रेजी भाषा के "डिसिप्लिन" शब्द के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। सस्कृत भाषा में इस अर्थ में "विनय"[1] शब्द का प्रयोग होता था। उस अर्थ में विनय शब्द अब प्रचलित नहीं रहा है अतः हम अनुशासन शब्द का ही प्रयोग करते हुए आगे बढ़ेंगे।

अंग्रेजी भाषा का "डिसिप्लिन" शब्द "डिसाइपल" से बना है, जिसका अर्थ होता है शिष्य। शिष्य गुरु के चरणों में श्रद्धा-पूर्वक रहता है (था) और उसके उपदेशों को नम्रता-पूर्वक मानकर उनके अनुसार जीवन बिताता हुआ अपने जीवन में कतिपय गुणों का आधान करता है। डिसाइपल अर्थात् शिष्य की इस वृत्ति को दृष्टि में रखते हुए यदि सोचा जाए, यो "डिसिप्लिन" शब्द का अर्थ "शिष्यवृत्तिता" होगा। इसी अर्थ-साम्य के आधार पर इस शब्द का अर्थ" शिक्षा एवं आत्मालोचन के परिणाम स्वरूप व्यवहार में स्वयं उत्पन्न होजाने वाली नियमानुवर्तिता" माना जाता है। यही अर्थ अनुशासन का समझना चाहिए। "विनय" शब्द का भी वस्तुतः यही अर्थ है।

अनुशासन एवं व्यवस्था[2]

साधारणतया अनुशासन का अर्थ "व्यवस्था" समझा जाता है। जब अध्यापक कक्षा में अनुशासन स्थापित करता है, तो प्रकटतः यह व्यवस्था ही स्थापित करता है; परन्तु वस्तुतः अनुशासन एवं व्यवस्था दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

१. वेदमूनच्य आचार्योन्तेवासिनमनुशास्ति–तैत्तिरीय उपनिषद्। अथ शब्दानुशासनम्—महाभाष्य। अथ योगानुशासनम्—योगदर्शन।

१. विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि—गीता। विद्या ददाति विनयम्-पंचतन्त्र।

२. Order

जहाँ अनुशासन होता है, वहाँ व्यवस्था अवश्य रहती है परन्तु जहाँ व्यवस्था हो वहाँ अनुशासन भी रहे, यह आवश्यक नहीं है। अनुशासित व्यक्ति आत्म-नियन्त्रित होता है। उचितानुचित विवेक के कारण वह अपने व्यवहारों को जान-बूझकर या स्वभाववश नियन्त्रण में रखता है। इसी कारण अनुशासन और व्यवस्था साथ-साथ रहते है परन्तु व्यवस्था का जन्म व्यवस्थापक के रौब, दण्ड के भय अथवा पुरस्कार के लोभ के कारण होता है। ऊपर दिखाई पड़ने वाली व्यवस्था के नीचे शान्त से बैठे व्यक्तियों के मनों में विचारों तथा भावों के तूफान और विद्रोह के बवन्डर उठ रहे हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि रौब, भय तथा लोभ के हटते ही व्यवस्था घोर अव्यवस्था के विस्फोट में उड़ जाए। अनुशासन की स्थापना हो जाने पर यह सब कुछ नही हो सकता। वहाँ तो जो स्थिति बाहर दिखाई पड़ती है, वही वस्तुत: भीतर भी होती है।

अनुशासन का स्वरूप

ऊपर के अनुच्छेद में हमने "शिक्षा अथवा आत्मालोचन के परिणामस्वरूप व्यवहार में स्वयं उत्पन्न होजाने वाली नियमानुवर्तिता" को अनुशासन कहा है। इस अर्थ से ही स्पष्ट है कि अनुशासन का स्वरूप समाज-सापेक्ष होता है क्योंकि समाज ही व्यक्ति के लिए व्यवहार-नियमो का निर्माण करता है। यदि व्यक्ति भी अपने लिए नियम बनाता है तो वह समाज को दृष्टि में रखकर ही बनाता है।

इसी बात से यह भी परिणाम निकलता है कि प्रत्येक प्रकार के समाज के लिए अनुशासन का स्वरूप समान नहीं हो सकता। प्रत्येक समाज में कतिपय व्यवहार-नियम होते हैं और वह अपने प्रत्येक घटक से आशा करता है कि वह उनका अपने व्यवहार में पालन करे। जो व्यक्ति उन नियमों का पालन नहीं करता, वह उस समाज में अनुशासन-हीन कहलाना है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उस विशेष प्रकार का व्यवहार करता हुआ अन्य समाजों में भी अनुशासन-हीन कहलाए। वर्तमान भारतीय समाज में यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी या बहन को सार्वजनिक रूप में चूम ले, तो उसे असभ्य और अनुशासन-हीन माना जाएगा परन्तु पश्चिमी देशो मैं साधारण व्यवहार का अङ्ग मानकर इस व्यवहार पर कोई आपत्ति न उठाएगा।

अनुशासन के स्वरूप का समाज की शासन-व्यवस्था के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। यदि समाज में एकतन्त्रीय अथवा वर्गतन्त्रीय व्यवस्था प्रचलित हो, तो उसमें अनुशासन का स्वरूप उस समाज से नितान्त भिन्न होगा, जिसमें प्रशासन-व्यवस्था जनतन्त्रीय होती है। एकतन्त्रीय व्यवस्था वाले समाज में कतिपय

मूर्धन्य व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी व्यक्तियो को आज्ञा-परायण बनकर रहना पड़ता है। जिन आज्ञाओं का उन्हें पालन करना पड़ता है, उनके निर्धारण में उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रकार का हाथ नहीं होता। ऐसे समाज में प्रश्न करना, आपत्ति उठाना, वाद-विवाद करना तथा संदेह व्यक्त करना अनुशासन-हीनता के चिन्ह माने जाते है और इनके लिए व्यक्ति को दण्ड का भागी बनना पड़ता है। जनतन्त्रीय समाज मे स्थिति इसके बिलकुल विपरीत होती है। उसमे प्रत्येक व्यक्ति को उसको प्रभावित करने वाले सब निर्णयों तथा उनको क्रियान्वित करने वाली प्रक्रियाओं मे स्वयं अथवा अपने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का पूरा-पूरा अधिकार होता हैं। उस व्यवस्था में प्रश्न करना, आपत्ति उठाना, वाद-विवाद करना तथा संदेह व्यक्त करना न केवल सहन किया जाता है अपितु उसके लिए नागरिकों की प्रशंसा की जातीहै। फलतः किसी भी नागरिक के प्रश्न करने आदि को अनुशासन-हीनता बिलकुल नहीं माना जाता।

अनुशासन के स्वरूप की सामाजिकता के अधार पर ही विभिन्न देशों तथा कालों के विद्यालयों में माने जाने वाले अनुशासन के स्वरूप को समझा जासकता है। प्राचीन यूनान के इतिहास में स्पार्ती तथा एथेनी राज्यों तथा उनके विद्यालयो का वर्णन मिलता है। स्पार्ती राज्य पूर्णतया समाजवादी राज्य था। उसमें व्यक्ति को इतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी, जितनी कि समाज के हित में आवश्यक मानी जाती थी। उसमें प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह विना नन्-नच के राज्य की आज्ञाओं को निष्ठावान सैनिक की भाँति पालन करे। एथेनी राज्य इसके विलकुल विपरीत एक जनतान्त्रिक राज्य था। उसके नागरिक समुचित विचार-विनिमय के उपरान्त प्रत्येक बात का निर्णय करते थे। अपने-अपने समाजों की इस स्थिति के कारण ही उनके विद्यालयों में अनुशासन के विभिन्न रूप प्रचलित थे। स्पार्ती विद्यालयों में आज्ञापालन तथा कठोर दण्ड का बोलवाला था, जबकि एथेनी विद्यालय व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता देकर सत्य के शोध और व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास के लक्ष्य को लेकर चलते थे।

अपने देश में ही बौद्धकाल के विद्यालयों तथा मुसलमानी शासन के मकतबो और मदरसों के जो वर्णन मिलते है, उनको उनके समकालीन समाजों के वर्णनों के साथ मिलाकर पढ़ने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि अनुशासन का स्वरूप देश और काल की भिन्नता के साथ बदलता रहता है। यही कारण है कि अंग्रेजी शासनकाल में अनुशासन का जो स्वरूप माना जाता था, वह अब जनतन्त्रीय भारत में नहीं माना जाता। अंग्रेजों के शासन-काल में

समाज रचना का आदर्श जनतन्त्रीय नहीं था और अब वह निश्चित रूप से जनतन्त्रीय है।

अनुशासन का महत्व

अनुशासन का स्वरूप चाहे जो हो, परन्तु वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए है आवश्यक। यह बात आज भी सच है, अतीत में भी सच थी और भविष्य में भी सच ही रहेगी। यदि हम व्यक्ति की दृष्टि से विचार करें तो कह सकते हैं कि अनुशासित व्यक्ति ही अपने समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाने तथा उसे अपने गुणों और विशेषताओं से लाभान्वित करने में समर्थ हो पाता है। अनुशासित व्यक्ति को ही गुरुजन अथवा अन्य अनुभवी व्यक्ति अपना ज्ञान अथवा अनुभव देना चाहते है। अनुशासित व्यक्ति ही उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान और अनुभव को उचित वृत्ति के साथ श्रवण तथा ग्रहण कर सकता है। अनुशासित व्यक्ति ही कम से कम श्रम और समय को व्यय करते हुए उन अनुभवों को अपने व्यवहार तथा अभ्यास का विषय बना सकता है। समाज को अपने गुणों और योग्यताओं से लाभान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले समाज के मन को उन गुणों और विशेषताओं को देखने सुनने, समझने तथा मान्यता देने के लिए तैयार लिया जाए। अनुशासित व्यक्ति ही अपने व्यवहार से समाज के मन को अपनी ओर उन्मुख कर सकता है। कोई समाज किसी व्यक्ति के गुणों आदि का पूरा-पूरा लाभ तभी उठा सकता है, जब उस में अनुशासन हो। अनुशासन-रहित समाज में सबसे पहले लाभ उठाने के लिए धमाचौकड़ी मचेगी, उसमें लाभ उठाने का तो प्रश्न ही दूर है, लाभ देने वाला व्यक्ति ही सुरक्षित न रह पायेगा। अनुशासित व्यक्ति समाज को अनुशासित रहने की प्रेरणा देता हुआ उसमें अनुशासन के अनुकूल वातावरण बनाता है।

समाज की दृष्टि से सोचने पर भी अनुशासन का ऐसा ही महत्त्व दृष्टि-गोचर होता है। अनुशासन समाज का सत्ताधायकगुण है। अनुशासन के बिना व्यक्ति की सत्ता अवश्य रहेगी, यह दूसरी बात है कि वह समाज से लाभान्वित न हो सके अथवा अपने गुणों से समाज को लाभान्वित न कर सके। परन्तु अनुशासन के बिना समाज समाज न रहकर भीड़ बन जाएगा। प्रत्येक समाज वस्तुतः उसी सीमा तक समाज है, जिस सीमा तक वह किन्हीं नियमों, सिद्धान्तों अथवा मान्यताओं के अनुशासन में बँधा हुआ है। अनुशासन-बद्ध समाज ही अपने घटक व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह विकसित करने, अपने अधिकारों का उपभोग करने, अपने कर्तव्यों का पालन करने तथा अपने गुणों

और योग्यताओं से अन्यों को लाभान्वित करने का अवसर दे पाता है। अनुशासित समाज ही अनुशासन-मय वातावरण बनाकर अपने घटकों के लिए अनुशासनबद्ध रहने की प्रेरणा तथा अभ्यास का अवसर प्रस्तुत कर पाता है। अनुशासन में बँधकर ही समाज अपने घटकों के गुणों और योग्यताओं से लाभान्वित होते हुए अनुशासन-हीन व्यक्तियो का दमन कर पाता है। जब अन्य समाजों के साथ संघर्ष का अवसर उपस्थित हो पड़ता है, तब अनुशासित समाज ही संघर्ष मे विजयी होकर अपनी सत्ता और स्वाभिमान की रक्षा कर पाते हैं।

व्यक्ति और समाज दोनो की दृष्टि से जो कुछ ऊपर कहा गया है उसे संस्कृत के एक कवि ने बहुत ही संक्षेप में "विनय (अनुशासन) से व्यक्ति (और समाज दोनो) को पात्रता प्राप्त होती है,"[1] इस प्रकार कह दिया है। किसी भी लाभ का पात्र बन जाने पर वह मिलता ही है, इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इसी कारण प्राचीन लोग विनय को विद्या का फल मानते थे। उनकी सम्मति में वह विद्या व्यर्थ ही नही भार थी, जो व्यक्ति में विनय न उत्पन्न करे। विनय का उनकी दृष्टि में इतना महत्व था कि उन्होने अविनीत शिष्य को विद्यादान करने का स्पष्ट निषेध[2] किया हुआ था।

अनुशासन के घटक तत्व

छात्रों के व्यवहारों को अनुशासन-बद्ध बनाना विद्यालय का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। उनमे यह विशेषता किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है, यह जाने बिना अध्यापक तथा प्रधानाध्यक अपने उत्तरदायित्व को पूरा नही कर सकते। इस विषय में सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि अनुशासन के घटक तत्व कौन कौन से होते हैं।

अनुशासन का प्रथम घटक तत्व "ज्ञान" है। जिस व्यक्ति के जीवन-व्यवहारों में अनुशासन का आधान करना अभीष्ट हो, उसे सबसे पहले यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि किस देश और किस काल मै किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए और उस देश और उस काल में उस प्रकार का व्यवहार करना किन-किन कारणों से उचित माना जाता है। यह ज्ञान अनुशासन की बौद्धिक पृष्ठभूमि तैयार करता है। अनुशासन का दूसरा घटक तत्व है "अनुभूति"। केवल ज्ञान व्यवहार में परिवर्तन नहीं कर पाता। ज्ञान तभी

१—विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ॥ पंचतन्त्र ॥

२—विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिस्तेऽहमस्मि ॥
असूयकायानृजवेऽयताय मां मा दाः वीर्यवती यथा स्याम् ॥ वेद ॥

व्यवहार में परिवर्तन कर पाता है, जब वह विश्वास का विषय बन जाय। विश्वास का विषय बनाने के लिए उसे अनुभूति का विषय बनाना पड़ता है। अनुभूति का विषय बनते ही व्यक्ति सोचने लगता है कि विशिष्ट देश-काल में विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना वस्तुतः दूसरों के साथ-साथ मेरे लिए भी उचित है। अनुभूति से शून्य केवल ज्ञान इस मनःस्थिति को उत्पन्न करने में एक-दम असमर्थ होता है। अनुशासन का तीसरा घटक तत्व है "अभ्यास"। बहुत से व्यवहारों के विषय मे हम जानते हैं कि उनका आचरण करना उचित हैं परन्तु उन्हे कर नही पाते। यदि उस-उस परिस्थिति में उचित प्रकार के आचरण का अभ्यास कर लिया या करा दिया जाए, तो वह आदत का अंश बन जाता है। फलतः उचित परिस्थिति उत्पन्न होने पर वह स्वयं होने लगता है और ज्ञान तथा अनुभूति अप्रत्यक्षतः उस होने में सहायता करते रहते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में जिस किसी व्यवहार के विषय मे ये तीनों तत्व उत्पन्न हो जायेंगे, उसके विषय में उसका व्यवहार निश्चित रूप से अनुशासित हो जायगा।

संसार में सैनिको का अनुशासन प्रसिद्ध है। एक निश्चित ढंग से उठना, बैठना, चलना, काम करना तथा व्यवहार करना सैनिक अनुशासन की विशेषताएँ होती है। अपने अधिकारी का आदेश प्राप्त होते ही अनुशासन के नाम पर सैनिक अपने जीवन को भी सकट मे डाल देते है। इस सैनिक अनुशासन के पीछे ज्ञान तथा अभ्यास तत्वों की प्रधानता रहती है। ऊपर की पंक्तियों में हमने विशेष अवसरों पर विशेष प्रकार के व्यवहार के तथा उसके कारण के ज्ञान कों अनुशासन का प्रथम घटक तत्व कहा है। सेना में इस द्विविध ज्ञान को देकर उसका खूब अभ्यास कराया जाता है। वहाँ किसी व्यवहार का इतना अभ्यास कराया जाता है कि वह अभ्यास का विषय बन जाता है।

परन्तु इस अनुशासन के पीछे साधारणतया अनुभूति का अभाव रहता है। साधारणतया उसके पीछे प्रेरणा दण्ड-भय की रहती है, कर्तव्यानुभूति की नहीं। इस कारण यह अनुशासन वास्तविक अनुशासन की अपेक्षा व्यवस्था के अधिक पास पड़ता है। किसी के व्यवहार में वास्तविक अनुशासन उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान को अनुभूति में बदल दिया जाय जिससे तदनुसार व्यवहार की प्रेरणा अन्तर से उठने लगे और जीवन सच्चे अर्थो में में अनुशासित हो जाए।

अनुशासन के द्वितीय घटक तत्व के रूप में हमने "अनुभूति की चर्चा की है। किसी विशेष अवसर पर विशेष प्रकार का व्यवहार किसी व्यक्ति को व्यक्तिगत और सामाजिक इन दो रूपों में उचित प्रतीत हो सकता है। किसी

विशेष अवसर पर किसी विशेष प्रकार का व्यवहार यदि व्यक्तिगत रूप से लाभदायक अथवा सुविधाजनक प्रतीत होता है, तो प्रत्येक व्यक्ति उसे अपने अभ्यास का विषय बनाना चाहेगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार व्यक्तिगत लाभ अथवा सुविधा को ही साध्य मानकर चल दे, तो समाज में घोर अनुशासन-हीनता फैल जायगी। समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाएँ बहुधा व्यक्ति की तात्कालिक सुख-सुविधा के विरुद्ध बैठती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति उनका जब उचित समझे, तब उल्लघन करने लगे, तो समाज मे अनुशासन रह ही कहाँ जायगा ? अनुशासन के द्वितीय घटक तत्व के रूप में जिस अनुभूति की हमने चर्चा की है, उसका अभिप्राय "समाज के साथ पूर्ण एकात्मकता का अनुभव हो जाने के कारण व्यक्तिगत व्यवहारों एवं आचरणो के विषय मे उत्पन्न औचित्य की अनुभूति" से है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुख और सुविधा असुविधा को अपना सुख-दुख और सुविधा-असुविधा मानकर उचित और अनुचित का निर्णय इसी अनुभूति के पश्चात हो पाता है। इस अनुभूति के जग जाने के पश्चात् व्यक्ति एकान्त में भी अनुचित कार्य नही करता। ऐसी स्थिति को अनुशासन की सच्ची स्थिति कहा जाता है।

अनुशासन-शिक्षा के अभिकरण[1]

अनुशासन-शिक्षा को भी औपचारिक[2] तथा अनौपचारिक भेद से दो प्रकार का कहा जा सकता है। अनुशासन की औपचारिक शिक्षा विद्यालय में दी जाती है और अनौपचारिक[3] शिक्षा परिवार आदि सामाजिक सस्थाओं मे। इन सबमें विद्यालय सबसे मुख्य अभिकरण है क्योंकि इसकी स्थापना एवं संचालन सामाजिक संस्कृति को अगली पीढी में पहुँचाने तथा उसमे सामाजिक कुशलता उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है। अनुशासन के बिना सामाजिक कुशलता की कल्पना भी नहीं की जासकती, यह तो स्पष्ट ही है।

अनुशासन-शिक्षा के अभिकरणों मे विद्यालय की मुख्यता का यह अर्थ नही है कि अन्य अभिकरणों का महत्त्व कम है। कुछ अर्थों में वे विद्यालय से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। उनमें औपचारिकता की कमी होने के कारण वे अनुकरण और स्वतन्त्र अभ्यास के लिए अधिक अच्छा अवसर प्रदान करते हैं। यदि सीखने वाले व्यक्ति को विद्यालय ने विशेष सावधान न बना दिया हो, तो उनके द्वारा मन पर छोड़े हुए संस्कार बिद्यालय द्वारा दिये हुए संस्कारों की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान सिद्ध होते हैं। गंदे-गंदे गीत तथा भद्दी-भद्दी गालियाँ बच्चों को विद्यालय में नहीं सिखाई जाती है, वे शिक्षा के अन्य अभि-

1. Agencies. 2, Formal. 3. Informal.

करणों में ही उन्हें सीखते है। अनुशासन की वास्तविक शिक्षा तो तभी हो पाती है, जब सभी अभिकरण परस्पर सहयोग करे।

अनुशासन-शिक्षा के उपाय

अनुशासन-शिक्षा के दो उपाय है, एक शिक्षण और दूसरा प्रशिक्षण। इन दोनो के विषय मे आवश्यक जानकारियाँ नीचे की पंक्तियो में दी जारही है—

शिक्षण—इस शब्द का प्रयोग हम यहाँ कुछ सकुचित अर्थों में कर रहे है। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल छात्रों को यह बता देने से ह कि किस अवसर पर किस प्रकार का व्यवहार उचित माना जाता ह और उस प्रकार के व्यवहार को उस विशेष अवसर पर उचित मानने क क्या-क्या कारण होते हैं। यह अनुशासन शिक्षा का बौद्धिक पक्ष है। इसको कम महत्त्व नही दिया जाना चाहिए। बहुत से बच्चे ऐसे असंस्कृत एव अशिक्षित परिवारों से आते हैं, जहाँ उन्ह सभ्य समाज म उचित समझे जाने वाले व्यवहारो की कोई शिक्षा नही मिल पाती। फलतः वे यह न जानते हुए कि वे अनुशासन-भग कर रहे हैं, अनुशासन-विरुद्ध आचरण कर जाते है। इस कारण अनुशासन-शिक्षा का आरम्भ इसी प्रकार के शिक्षण से होना चाहिए।

अनुशासन-शिक्षा-विषयक बौद्धिक शिक्षण का दूसरा अश ह "व्यवहार के औचित्य का कारण बताना।" यह भी अत्यन्त आवश्यक है। किसी अवसर पर कोई व्यवहार क्यो उचित माना जाता है, यह बात युक्ति-पूर्वक समझा देने से छात्रो मे ऐसा व्यवहार-विवेक उत्पन्न हो जाता है कि उसके आधार पर वे नई परिस्थितियो मे उचित व्यवहार का निश्चय सफलता के साथ कर लेते है। शिक्षण के इस अंश के अभाव में पहले मिले हुए व्यवहार-निर्देश के आधार पर स्वयं बनाये हुए व्यवहार-सूत्रों के सहारे छात्र नई परिस्थितियों में मनचाहा आचरण करते हैं। वे आचरण कभी अनुचित होजाते हैं और कभी उचित। वस्तुतः अनुचित व्यवहारों के पीछे उनका कोई भावना-दोष नहीं होता। समुचित व्यवहार-सूत्र के अभाव में ही उनसे दुर्व्यवहार होजाता है। इस संभावना को पूर्णतया समाप्त करने के लिए शिक्षण का यह अंश अत्यन्त आवश्यक होता है। सम्पूर्ण शिक्षण के विषय मे एक यह बात अवश्य ध्यान रखने की है कि वह निरंतर नियम से चलता रहना चाहिए। कभी-कभी या भूल होने की स्थिति में बता देना मात्र पर्याप्त नहीं होता।

प्रशिक्षण—शिक्षण के पश्चात् प्रशिक्षण आरम्भ होता है। शिक्षण के साथ कर्माभ्यास (Practice) मिला देने से प्रशिक्षण का स्वरूप बनता है।

प्रशिक्षण के बिना शिक्षण आचरण का अंश नहीं बन पाता।

प्रशिक्षण को सुचारु रूप से चलाने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होती हैं :—

१—वातावरण-निर्माण

२—दण्ड-व्यवस्था

३—पुरस्कार-व्यवस्था।

हम इनकी एक-एक करके चर्चा करेंगे।

वातावरण-निर्माण

वातावरण-निर्माण से तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों का उत्पादन है, जिनमें छात्र के सम्मुख उचित प्रकार के व्यवहार के आदर्श ही बारम्बार प्रस्तुत हों, अनुचित प्रकार के व्यवहार के आदर्श या तो प्रस्तुत ही न हों, या कम से कम प्रस्तुत हों, उचित प्रकार से व्यवहार करता हुआ ही वह अपने अधिकारों का उपभोग कर सके, और अनुचित व्यवहार उसे पग-पग पर निन्दा और असहयोग का पात्र बना दे।

इस प्रकार की परिस्थितियों के निर्माण की पहली आवश्यकता यह है कि विद्यालय के प्रधानाध्यापक, अध्यापक तथा सभी कर्मचारियों के व्यक्तिगत आचरण एवं संस्थागत तथा सामाजिक व्यवहार बिलकुल वैसे हो, जैसे कि वे अपने छात्रों के बनाना चाहते हों। दुर्भाग्यवश इस महासत्य की ओर आज के अनेक अध्यापको तथा प्राध्यापकों का ध्यान नहीं है। प्राथमिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक के अध्यापकों के आचरणों तथा व्यवहारों का यदि सर्वेक्षण किया जाए, तो स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा कि आज के छात्रों के हृदय में अपने गुरुजनों के प्रति जो अश्रद्धा का भाव है, उसका बहुत कुछ कारण अध्यापकों तथा प्राध्यापकों के अपने आचरण एवं व्यवहार हैं। समय पर न आना, आकर कक्षा में गप्पें हाँकते रहना, अपने विषय को तैयारी के साथ न पढाना, पिछड़े हुए छात्रों के साथ सहानुभूति न रखना, ट्यूशनों के पीछे साथी अध्यापकों के साथ झगड़ा करना, ट्यूशन वाले छात्रों को अधिक अंक दे डालना या दिलवाना, छात्रों और छात्राओं के साथ अनैतिक सम्बद्ध रखना और उनके साथ पक्षपात करना, अपने साथी अध्यापकों की निन्दा करते फिरना, साथियों तथा प्रधानाध्यापक के साथ असहयोग करना तथा प्रबन्धकों की चापलूसी करते फिरना आदि न जाने कितनी शिकायतें प्रतिदिन अध्यापकों के विषय में सुनी जाती हैं। इस प्रकार की शिकायतों में फँसे हुए अध्यापक संस्था में कभी अनुकूल वातावरण का निर्माण नहीं कर सकते। किस प्रकार के अध्यापक अनुशासनोपयोगी वातावरण का निर्माण

कर सकते हैं, इसकी चर्चा "विद्यालय के साधक" शीर्षक अध्याय में की जा चुकी है। पाठक वहीं देखलें।

वातावरण-निर्माण की दूसरी आवश्यकता परम्परा-निर्माण है। विद्यालय में जिस प्रकार का आचरण छात्रों तथा अध्यापकों की ओर से अभीष्ट माना जाए, वैसे आचरण की परम्पराऐं डाल दी जानी चाहिए। परम्पराऐं संस्था की आदतें होती हैं। नवागन्तुक व्यक्ति परम्पराओं के सहारे बहुत से काम दूसरों को देखकर करने लगते हैं। इससे बार-बार समझाने, टोकने तथा सुधारने का श्रम तथा कटुता दोनों बच जाते है और वातावरण अनुकूल बना रहता है।

वातावरण-निर्माण की तीसरी आवश्यकता विद्यालय में विविध पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का जनतन्त्रीय आयोजन है। कक्षा में छात्रों को ज्ञान दिया जा सकता है परन्तु उसके अभ्यास का अवसर उन्हें वहाँ नहीं मिलता है। वहाँ तो अध्यापक के भय अथवा प्रभाव के कारण वे उचित प्रकार का व्यवहार करते रहते हैं। वहाँ जो अभ्यास उन्हें विवशता में मिल जाता है, उसे प्रशिक्षण की अपेक्षा शिक्षण करना ही अधिक उचित होगा। छात्रों को विद्यालय छोड़ने के उपरान्त समाज में जाना होगा, जहाँ उन पर अध्यापक का-सा कोई नियन्त्रण नहीं होगा। समाज में छात्र अनुशासन-पूर्वक रह सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज जैसी परिस्थितियों में ही रखकर उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए। यह प्रशिक्षण उन्हें पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

अनुशासन-बद्ध व्यवहार के लिए जिस सामाजिक एकात्मकता की अनुभूति की चर्चा हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं, उसकी उत्पत्ति छात्रों में पाठ्य-क्रम-सहगामिनी क्रियाओं में भाग लेते हुए स्वतः ही होने लगेगी। वहाँ वे विभिन्न पदों पर काम करेंगे। कहीं वे साधारण सदस्य होंगे और कहीं पदा-धिकारी। पदाधिकारियों के रूप में उन्हें अन्यों का सहयोग लेना पड़ेगा और साधारण सदस्य रूप के रूप में उनसे आशा की जाएगी कि वे अन्यों के साथ सहयोग करें। अच्छे कार्य के लिये उन्हें प्रशंसा मिलेगी और ढीले-ढाले रद्दी कार्य के लिए आलोचना। इस प्रकार वे व्यक्ति और समाज के अभेद का स्पष्टतया अनुभव कर लेंगे और समझ जाऐंगे कि समाज-विरोधी कार्य अन्त में अपने ही विरोधी सिद्ध होते हैं। जैसे ही किसी व्यक्ति को व्यक्ति और समाज की एकात्मता का अनुभव हो जाता है, वह स्वप्न में भी समाज-विरोधी कार्य नहीं कर सकता।

पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं के आयोजन में यह बात विशेष रूप से

ध्यान रखनी चाहिए कि वह जनतन्त्रीय हो। यदि उनका आयोजन एकतन्त्रीय ढंग से आदेशों के सहारे किया गया, तो उनसे छात्रों को आज्ञा-पालन का प्रशिक्षण तो मिलेगा अनुशासन का नहीं। जनतन्त्रीय समाज के उपयुक्त नागरिकों के निर्माण के लिए केवल आज्ञा-पालन का प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं हो सकता।

वातावरण-निर्माण की चौथी आवश्यकता अनिवार्य छात्रावास-व्यवस्था अथवा समाज-विद्यालय सहयोग है। छात्रों को अनुशासन का प्रशिक्षण देने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनको दिन-रात के चौबीस घंटों में कभी भी न तो अवांछनीय प्रकार के व्यवहार करने का अवसर मिले और न वे उस प्रकार का व्यवहार करने वालों के सम्पर्क में रहें। ऐसा जीवन भर तो नहीं हो सकता परन्तु ऐसा तब तक तो होना ही चाहिए, जब तक उनके विचार और आचार परिपक्व न हो जाएँ। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि छात्र छात्रावास में ही रहें और पूर्णतया अनुशासित जीवन बिताएँ। छात्रावास-जीवन के लाभों की चर्चा "छात्रावास" शीर्षक अध्याय में की ही जा चुकी है। यदि छात्रावासों की अनिवार्यता न की जा सके, तो समाज और विद्यालय में जीवित सहयोग रहना चाहिए। विद्यालय समाज में चलने वाले व्यवहारों के आधार पर ही अनशासन का स्वरूप निर्धारित करें और समाज विद्यालयों द्वारा निर्धारित स्वरूप को अपने व्यवहारों में मान्यता दे। परिवारों को इस विषय में विशेष सावधान रहना होगा। उनका यह कर्तव्य होगा कि वे विद्यालयों के पूरक के रूप में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करें जिनमें छात्रों को विद्यालयों में दी हुई शिक्षा का न केवल अभ्यास का अवसर मिले अपितु उसके विरोधी संस्कार उनके मन पर न पड़ सकें।

आज के युग में छात्रों की जिस अनुशासन-हीनता की जो शिकायत बार-बार की जाती है, उसका कारण जहाँ एक ओर अध्यापक वर्ग में फैली हुई आदर्श-हीनता है, वह परिवारों और समाज की उदासीनता भी है। अभिभावक एवं समाज छात्रों को विद्यालय में प्रविष्ट करा के अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वे अपने आचरणों और व्यवहारों के साथ अपने सम्पर्क में रहने वाले छात्रों के आचरणों और व्यवहारों का कोई सम्बन्ध नहीं अनुभव करते और अपने व्यवहारों में नितान्त उच्छृङ्खल बने रहते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो छात्रों के सामने विद्यालयों की आलोचना करने तथा अध्यापकों को गालियाँ देने लगते हैं। अभिभावकों तथा समाज के ऐसे व्यवहार के होते हुए छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत करना बिलकुल व्यर्थ है। यदि छात्रावास-व्यवस्था अनिवार्य नहीं की जा सकती, तो समाज

और विद्यालय में प्रतिसहयोग अत्यन्त आवश्यक है और उसका स्वरूप भी स्पष्टतया यह होना चाहिए कि समाज अपने व्यवहारों में इतना आत्म-नियन्त्रित हो जाए कि वह छात्रों के लिए आदर्श छात्रावास का स्थान ले ले।

वातावरण-निर्माण की पाँचवीं आवश्यकता है ऐसी परिस्थिति का उत्पादन, जिसमें अनुशासन-विरोधी व्यवहार के साथ भय का और आदर्श व्यवहार के साथ प्रसन्नता का सम्बन्ध जुड़ा रहे। विद्यालय समाज का संक्षिप्त रूप होता है, यह कई बार कहा जा चुका है। जैसे समाज में ऐसे तत्व होते हैं जिनके ऊपर समझाने-बुझाने आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और जो निरन्तर समाज-विरोधी कार्यों में लगे रहते हैं, वैसे ही विद्यालय में भी कुछ छात्र ऐसे हो सकते हैं, जो सम्पूर्ण शिक्षण तथा वातावरण-निर्माण की उपेक्षा करके भी अनुशासन-भंग करते रहें। ऐसे व्यक्ति या तो भय के वशीभूत हो सकते हैं अथवा लोभ के। ऐसे व्यक्तियों के लिये भय दण्ड-व्यवस्था द्वारा और लोभ पुरस्कार-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न किया जाता है। बस्तुतः ये दोनों व्यवस्थाएँ हैं तो, वातावरण-निर्माण की ही अंग परन्तु इनकी चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है, अतः पृथक् शीर्षक डाल कर की जा रही है। इनके विषय में जानकारी विशेष अवधान के साथ प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए भी हमें इसकी इस प्रकार चर्चा करना उचित प्रतीत हो रहा है।

दण्ड-व्यवस्था

दण्ड का अर्थ—दण्ड देने का अर्थ होता है किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक दुःख पहुँचाना। दण्ड देकर आशा की जाती है कि दण्डित व्यक्ति दुःख अथवा अपमान के भय से अनुचित कार्य से विरत रहेगा और जिन व्यक्तियों को ज्ञात होगा कि अमुक प्रकार के कार्य के परिणामस्वरूप अमुक प्रकार का दुःख भोगना पड़ सकता है, वे भी उस प्रकार के कार्य करने का साहस नहीं करेंगे।

दण्ड के रूप—अपराधी व्यक्ति को कठोर वाक्य कहने से ले लेकर प्राणों से वियुक्त कर देने तक दण्ड की सीमा है। विद्यालय में दण्ड की अन्तिम सीमा विद्यालय से पृथक् कर देने तक है। विद्यालय-समाज से किसी को पृथक् कर देना उस समाज की दृष्टि से एक प्रकार का मृत्युदण्ड ही है क्योंकि उसके बाद उस समाज के लोग समाज के सदस्य के रूप में उसे फिर नहीं देख सकते। इस सीमा के भीतर विद्यालय में एकान्त में अथवा सभी के सामने डाटना, स्थान बदल देना, विद्यालय के समय के बाद रोक लेना, सुविधा छीन लेना, जुरमाना कर देना, शारीरिक दण्ड देना, विद्यालय से अस्थायी रूप में अथवा स्थायी रूप में पृथक् कर देना आदि दंड-रूप प्रचलित होते हैं।

दण्ड की विफलता क्यों—इस विषय में विचित्र बात यह है कि विद्यालयों में सभी प्रकार के दंड चल रहे है, फिर भी देश में छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत बढ़ती ही चली जारही है। "मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" यह कहावत इस विषय में पूरी तरह लागू होती है। इस परिस्थिति को देखकर एक बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि या तो सफलतापूर्वक दण्ड देने के लिए जिन परिस्थितिओं की आवश्यकता होती है, उनका निर्माण नहीं हो पाता अथवा दंड ही गलत प्रकार के होते हैं अथवा उनका प्रयोग गलत ढंग से किया जाता है। वांछनीय परिणाम न निकलने पर और सोचा भी क्या जा सकता है ?

दण्ड के लिए उपयुक्त परिस्थिति- -किसी छात्र का दण्ड देने की उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हुई तब मानी जासकती है, जबकि छात्र यह अनुभव करने लगे कि उसने जो कुछ किया, दण्ड उसका स्वाभाविक परिणाम है और दंड देने वाला व्यक्ति दंड देकर उसके साथ अन्याय नहीं, कृपा कर रहा है। उसके मन में यह विश्वास अवश्य उत्पन्न कर दिया जाना चाहिए कि उसे दंड द्वेषवश नहीं दिया जारहा है।

परिस्थिति उत्पन्न कैसे हो—यह परिस्थिति उत्पन्न करने केलिए निम्नलिखित पग उठाने आवश्यक है:—

(१) दण्ड-विधान जनतान्त्रिक पद्धति से बनाया जाए। उसमें संस्था के अध्यापक तथा छात्र दोनों भाग लें। यह शंका नहीं की जानी चाहिए कि छात्रों की सम्मतियाँ अपराध की गुरुता को कम करने के पक्ष में पड़ेंगी। वस्तुतः जब तक कोई व्यक्तिगत हित मार्ग में न आपड़े, तब तक प्रत्येक व्यक्ति न्याय की बात ही कहता है। यही छात्रों के विषय में भी समझना चाहिए।

(२) संस्था के अध्यापक तथा कर्मचारी अपने आचरण के विषय में आदर्श रहें। यदि छात्रों की दृष्टि में यह बात आगई कि जिन कामों के लिए वे दण्ड के भागी हो जाते हैं, उन्हें ही कर्मचारी लोग खुले आम अथवा एकान्त में करते रहते हैं, तो दण्डनीय कार्य की दण्डनीयता में उनकी आस्था समाप्त हो जाएगी और वे कभी अपने आप को हृदय से दण्डनीय नहीं अनुभव कर पाएँगे।

(३) दंड-विधान का इतना व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए कि कोई भी छात्र तथा उसका अभिभावक यह न कह सके कि उसे यह नहीं मालूम था कि इस समाज में अमुक कार्य अनुचित माना जाता है और अमुक कार्य के लिए अमुक प्रकार का दंड मिलता है। इतना ही नहीं, विद्यालय में ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए कि उसका प्रत्येक छात्र यह अनुभव करे कि दंड-

विधान पूर्णतया उचित है और उसका नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह अपने व्यवहार को साफ-सुथरा तथा सुनियन्त्रित रखे। जिस विद्यालय के अध्यापक विद्यालय में अच्छी परम्पराएँ डाल देने के विषय में सावधान रहते हैं, वहाँ के छात्रों में यह अनुभूति स्वतः जागृत हो जाती है।

(४) अपराध करने वाले छात्रों को प्रथम एकान्त में तथा फिर सार्वजनिक रूप में विशेषतया उसके अपने मित्रों के सामने समझाया जाना चाहिए। यदि छात्र ने कोई अपराध भूल से किया है तो उसकी भूल सुधार दी जानी चाहिए। यदि विशिष्ट परिस्थितियों के कारण अपराध हुआ हो, तो यथासंभव उनको दूर कर दिया जाना चाहिए। दंड-व्यवस्था तभी की जानी चाहिए, जब अपराध को जानबूझकर किया गया हो। दंड भी प्रथम एकान्त में तथा फिर सार्वजनिक रूप में दिया जाना चाहिए।

(५) छात्रों के अपराधों की सूचना उनके अभिभावकों को भी भेजते रहना चाहिए जिससे उन्हें भी अपने बच्चों को सुधारने का अवसर रहे और दंड प्रयोग की दशा में वे उसे आकस्मिक वज्रपात न समझ बैठें।

(६) संस्था के किसी भी कर्मचारी अथवा अध्यापक को दंडित छात्र अथवा उसके किसी शुभचिन्तक या अभिभावक के सम्मुख दंड की आलोचना नहीं करनी चाहिए। यदि अभिभावक चाहते हैं कि दंड उनके बच्चे के सुधार के लिए उपयोगी सिद्ध हों, तो उन्हें भी इस मर्यादा का पालन करना चाहिए। अध्यापकों एवं अभिभावकों की अनुचित सहानुभूति पाकर उचित दंड को भी छात्र अनुचित समझने लगते हैं।

(७) दंड देने से उपरान्त भी अध्यापक के व्यवहार में शुष्कता अथवा नीरसता नहीं आनी चाहिए। यदि दंडित छात्र के प्रति कुछ और अधिक स्नेह प्रदर्शित किया जा सके, तो दंड की कटुता समाप्त हो जाती है।

यदि ये पग बुद्धिमानी के साथ उठाये जाएँ, तो दंडित छात्र को दंड के विषय में किसी प्रकार का नैतिक एवं पारिस्थितिक प्रोत्साहन नहीं मिलता और वह उसे हजम करके अपने को सुधारने में लग पड़ता है। दूसरों की दृष्टि में गिरने तथा उपहासास्पद बनने का भय उसे दुष्कर्म से बचाता रहता है।

दंड-रूपों पर विचार— दंड-व्यवस्था का समुचित परिणाम न निकलने का दूसरा कारण दंड की अनुपयुक्तता होता है, यह पहले कहा जासकता है। प्रसंगवश विभिन्न दंड-रूपों के औचित्यानौचित्य पर भी विचार कर लेना उचित होगा। नीचे की पंक्तियों में क्रमशः उनका उल्लेख तथा विवेचन किया जा रहा है :

(१) निन्दा (एकान्त में)—एकान्त में छात्र को बुलाकर किंचित् कठोर

वाक्य कहने से लेकर उसकी निन्दा करने तक के कार्य इस श्रेणी आ जाते हैं। यदि अध्यापक छात्रों की दुर्भावना का शिकार नहीं हो चुका है, तो शील-वान छात्र को सुधारने के लिए यह पर्याप्त होती है। अपराध की गुरुता के अनुपात में ही निन्दा में कठोरता होनी चाहिए। निन्दा भी इस प्रकार की जानी चाहिए कि बालक में आत्म-सम्मान का भाव उद्दीप्त हो उठे। यह सदैव ध्यान चाहिए कि निन्दा का अर्थ गाली-गलौज नहीं है। जो अपराध बालक ने कभी अज्ञानवश किये हों और जिनका निवटारा हो चुका है, उनको निन्दा करते समय बार-बार याद नहीं दिलाना चाहिए। इससे छात्र के मन पर यह संस्कार पड़ता है कि अध्यापक के मन में उसके प्रति द्वेष का भाव उत्पन्न हो गया है।

निन्दा से दण्ड का आरम्भ होता है। अध्यापक को अपना व्यक्तित्व ऐसा बनाना चाहिए कि उसकी आकृति पर आ जाने वाली दुख की रेखाएँ और आँखों की हलकी सी कठोरता भी छात्रों को असन्मार्ग से हटाने में प्रभावकारी काम करे। ऐसे अध्यापकों का समझाना-बुझाना भी पर्याप्त होता है। जब यह उपाय असफल हो तभी निन्दा का आश्रय लेना चाहिए। यदि छात्र अपने व्यवहार पर दुख प्रकट करदे, तो बात को खींचते नहीं जाना चाहिए।

(२) **सार्वजनिक निन्दा**—प्रथम प्रकार की निन्दा जब व्यर्थ सिद्ध हो तब इसका आश्रय लिया जाना चाहिए। पहले निन्दा कक्षा के सामने की जानी चाहिये, तदनन्तर सम्पूर्ण विद्यालय के सामने। अपयश किसी को प्रिय नहीं होता। इस प्रकार की निन्दा से कुछ छात्र अपना सुधार कर लेते हैं। इस प्रकार की निन्दा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि छात्र को किसी वर्ग की सहानुभूति न मिल जाए अन्यथा वह नेता बन बैठेगा।

३—**कक्षा में खड़ा कर देना**—यह दंड विद्यालयों में बहुत प्रचलित है। कोई-कोई अध्यापक अत्युत्साह मे छात्रों से खड़े हो जाने के साथ-साथ कान पकड़ने को भी कह देते है। कभी-कभी छात्रों को बेंचों पर भी खड़ा कर दिया जाता है। ये दंड कठोर तथा अपमान-जनक हैं। खडे करने का दण्ड एकान्त की निन्दा के पश्चात दिया जाना चाहिए। बेंच पर खडा करना, कान पकड़वाकर खड़ा करना, मुर्गा बनाना आदि दण्ड छात्र को निर्लज बना देते हैं अतः परि-त्याज्य है। छात्र के निर्लज बन जाने पर फिर उसके सुधार की कोई आशा नहीं रहती।

४—**छुट्टी के पश्चात् रोकना**—जब छात्र गृह-कार्य करके नहीं लाते, तब यह दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी रोकने के पश्चात उनसे काम पूरा कराया जाता है। यह दंड मनोविज्ञान-सम्मत नहीं है। रोका हुआ छात्र, यदि कार्य

रुचिकर नहीं है तो, विद्यालय में भी काम नहीं करेगा। काम के समय उसका मन इधर-उधर भटकेगा फलतः काम को मन लगाकर नहीं करेगा। इस प्रकार से काम से गृह-कार्य के लाभ नहीं मिल सकते। यदि छात्र घर की किसी कुपरिस्थिति के कारण गृह-कार्य नहीं कर पाया है, तो रोकना भी अनुचित होगा। रुकने वाले छात्र के साथ अध्यापक अथवा मानीटर को भी रुकना पड़ता है। यह एक प्रकार से दंडनीय छात्र के साथ उनको भी दंड मिलना हुआ। वे अपनी बला टालने के लिए छात्र के साथ ढील बरत सकते हैं। यदि ऐसा हुआ, तो उस पर दंड का कोई प्रभाव न पड़ेगा और वह दंड के स्वरूप की इस निर्बलता का लाभ उठाना चाहेगा। यदि रोक लगाना उचित समझा जाए तो छात्र को उसके किसी प्रिय कार्य में भाग लेने से रोकना चाहिए। अपने प्रिय कार्य में भाग लेने के लिये विह्वलता उसे अनुचित व्यवहारों से रोक सकती है।

५—**अधिकार से वंचित कर देना**—यदि विद्यालय का कार्य एक जनतन्त्रीय सहयोगी समिति के रूप में चलाया जा रहा है, तो उसमें अनेक समितियाँ तथा उपसमितियाँ अवश्य होंगी। उन समितियों के सदस्य तथा पदाधिकारी भी होंगे। यदि इन सदस्यों तथा पदाधिकारियों में से कोई व्यक्ति अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करता है, तो उसके अधिकार छीने जा सकते हैं। यह पग बहुत प्रभाव-पूर्ण होता है। इसको उठाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि बना लेनी चाहिए। अच्छा हो कि सम्बद्ध समिति को विश्वास में लेकर ही यह उठाया जाए, जिससे किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि किसी छात्र को द्वेषवश पदच्युत कर दिया गया है।

६—**निष्कासन**—निष्कासन दो प्रकार को होता है: १—कक्षा से निष्कासन तथा २—विद्यालय से निष्कासन। विद्यालय से छात्र को निकालना तभी चाहिए, जब विद्यालय में उसकी विद्यमानता असह्य हो जाए और अन्य दंड बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हो चुकें। यह दण्ड बहुत सोच-विचार करके दिया जाना चाहिए क्यों कि इसका परिणाम छात्र के जीवन की बरबादी भी हो सकता है। जब विद्यालय तथा परिवार दोनों के सभी उपाय व्यर्थ हो जाएँ, तब इसका प्रयोग किया जाना चाहिए परन्तु एकबार निर्णय घोषित करके उसे वापस नहीं लिया जाना चाहिए।

(७) **अर्थ-दण्ड**—अर्थ-दण्ड का अर्थ है, जुरमाना। छात्रों पर जुरमाना करने की परम्परा प्रत्येक विद्यालय में होती है। छात्रों से आशा की जाती है कि वे जुरमाने के भय से अनुचित कार्यों से विरत रहेंगे। दुर्भाग्यवश इसका भी जो प्रभाव होना चाहिए, वह हो नहीं पाता है। यदि इसके विषय में कुछ बातें ध्यान रखी जाएँ, तो यह प्रभावकारी हो सकता है।

यह दण्ड वस्तुतः छात्रों पर न होकर उनके अभिभावकों पर होता है। बहुत से अभिभावक इतने गरीब होते है कि वे इसको चुकाने में असमर्थ रहते हैं। इस कारण इसका प्रयोग करने से पहले सभी अभिभावकों को सूचना भिजवानी चाहिए कि छात्र के विरुद्ध अगला कदम अर्थ-दण्ड के रूप में उठाया जाएगा। यह जान कर सम्भव है कि वे ही अपने छात्र को ठीक रास्ते पर ले आयें।

यदि सूचना देने पर भी अभिभावक ध्यान न दें तो पर्याप्त भारी अर्थदण्ड देना चाहिए। छोटे-छोटे अर्थ-दण्डों की चिन्ता न तो छात्र करते हैं और उनके अभिभावक। यदि अभिभावकों को बिना सूचित किये छोटा-सा अर्थ-दण्ड लगा दिया जाए, तो छात्र उन्हें बिना बताए किसी बहाने से पैसे लाकर भर देते है। भारी अर्थ-दण्ड अपने अभिभावकों को बिना बताए देना छात्रों के लिए संभव नहीं होता। कितना अर्थ-दण्ड दिया गया है, इसकी सूचना भी विधिवत् अभिभावकों के पास भिजवा देनी चाहिए।

इस अधिकार का प्रयोग विद्यालय को बहुत सावधानी से करना चाहिए और ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि किसी की व्यक्तिगत नाराजगी के कारण यह दण्ड किसी छात्र पर न पड़े। छोटी-छोटी बातों पर अर्थ-दण्ड लगाने की आदत प्रत्येक दृष्टि भी निन्दनीय है।

शारीरिक दण्ड—कान पकड़ने से लेकर सार्वजनिक रूप में बेंत लगाने तक के दंड-रूप इस वर्ग में आजाते हैं। स्थान की दृष्टि से इसकी स्थिति निष्कासन से पूर्व रहती है। यदि छात्र इससे भी न सुधरे तो निष्कासन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रहता।

अनेक शिक्षाशास्त्र-विशारदों का विचार है कि शारीरिक दण्ड कदापि नही दिया जाना चाहिए। इसके बिषय में उनको निम्नलिखित आपत्तियाँ होती हैं—

(१) दण्ड अपने स्वरूप में ही पाशविक है। मानवीय व्यवहारों में इसे स्थान नहीं मिलना चाहिए।

(२) इसके प्रयोग से छात्र निर्लज्ज और विद्रोही हो जाता है। दंड देने वाले के प्रति उसके मन में घृणा का स्थायीभाव बन जाता है। ऐसे छात्र भविष्य में समाज के लिए भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं।

(३) कोमल प्रकृति के छात्रों को इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

जो इसके पक्ष में हैं, वे इसको अनिवार्य मानते हैं। इसके समर्थन में वे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं :—

(१) बहुत से छात्र इतने गन्दे परिवारों तथा वातावरण से आते है, जहाँ

बात-बात पर शारीरिक दंड का प्रयोग होता है। ऐसे छात्रों को शारीरिक दंड पाने का ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि वे उसके बिना मानते ही नहीं है।

(२) छात्र को विद्यालय से निकालकर उसके सामने जीवन बिगड़ने के खतरा उपस्थित करने से पहले शारीरिक दंड द्वारा उसे सुधारने के एक दो प्रयत्न अवश्य किये जाने चाहिए।

हम विस्तार से इस विवाद में न पड़कर इतना ही कहना चाहते हैं कि—

(१) इस दण्ड के प्रयोग का अधिकार मुख्याध्यापक के ही हाथ में रहना चाहिए। जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया हो, यदि वही दंड देने लगे, तो क्रोध में उसकी मात्रा अवांछनीय हो सकती है।

(२) इसका प्रयोग अन्तिम रूप में ही किया जाना चाहिए। बात-बात में बेंत लेकर जुट पड़ना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

सामान्य निर्देश—दंड द्वारा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो सके, इसके लिए निम्न लिखित बातें अवश्य ध्यान रखनी चाहिए :—

(१) जब मधुर उपाय काम न दें, तभी दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।

(२) क्रोध में भरकर दण्ड का निश्चय तथा क्रियान्वयन नहीं किया जाना चाहिए।

(३) दण्डनीय कार्य के सम्पादन तथा दण्ड के क्रियान्वयन में काल का अनावश्यक अन्तर नहीं पड़ने देना चाहिए।

(४) दण्ड क्रमशः कठोर होता जाना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी को किसी अपराध में कठोरतम दण्ड एकदम दे डाला जाय।

(५) दण्ड सदैव अपराध के अनुपात में कठोर होना चाहिए।

(६) दण्ड के विकल्प रूप में प्रायश्चित-व्यवस्था अवश्य रखनी चाहिए। यदि दण्डनीय व्यक्ति प्रायश्चित कर डाले, तो उसे पुनः दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।

(७) दण्ड के उपरान्त भी सुधार के मधुर उपाय चलते रहने चाहिये।

पुरस्कार-व्यवस्था

पुरस्कार का प्रयोजन—जिस प्रकार दण्ड के साथ भय का भाव जुड़ा रहता है, उसी प्रकार पुरस्कार के साथ लोभ का भाव जुड़ा रहता है। दण्ड के भय से व्यक्ति असत् कार्य से दूर रहता है और पुरस्कार के लोभ में वह सत्-कार्य में प्रवृत्त हो सकता है। वातावरण-निर्माण में दण्ड जहाँ अपराध को रोककर सहायता करता है वहाँ पुरस्कार उसमें सत्कार्य की ओर प्रेरणा देकर साधक बनता है।

पुरस्कार के रूप—अच्छे कार्य करने वाले व्यक्ति की वाचिक प्रशंसा

मे लेकर उसको सुख-सुविधा की वस्तुएँ अथवा परिस्थितियाँ देने तक पुरस्कार की सीमा है। विद्यालय में पुरस्कार के रूप में, प्रशंसा-पत्र, पुस्तकें, पदक तथा शील्ड प्रदान किये जाते हैं। जिन संस्थाओं में विद्यालय-व्यवस्था में छात्रों का भी सहयोग लिया जाता है, उनमें पुरस्कार रूप में छात्रों को कुछ अधिकार भी दिये जाते है।

पुरस्कार की व्यर्थता के कारण—जिस प्रकार दण्ड की विद्यमानता में भी अनुशासनहीनता का पनपना आश्चर्यजनक है,उसी प्रकार यह भी आश्चर्यजनक है कि पुरस्कारों पर प्रभूत धन-राशि व्यय होने पर भी शुभ कार्यों की ओर छात्रों की वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती, जैसी कि दिखाई पड़नी चाहिए। इस स्थिति के संभवतः दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि पुरस्कार प्रदान करना एक पारम्परिक कार्य हो गया है। छात्र जानते हैं कि पुरस्कार के लिए जो धन-राशि रख दी गई है, वह व्यय तो की ही जायगी, और जब वह व्यय की ही जाएगी, तो अपनी बारी भी आ ही जाएगी फलतः उच्चकोटि की पुरस्करणीय स्थिति को प्राप्त करने का गंभीर प्रयत्न कोई नहीं करता। इसका द्वितीय कारण यह है कि पुरस्कार-वितरण में अधिकतर न्याय का स्थान पक्ष-पात ले लेता है। एक मामले में भी पक्षपात की गन्ध आजाने पर पुरस्कार प्राप्त करने के लिए जो वास्तविक योग्यता प्रदर्शित की जानी चाहिए, उसके स्थान पर चापलूसी एवं हाँ-हुजूरी आदि का प्रदर्शन चलने लगता है और पुरस्कार-प्रदान का वास्तविक प्रयोजन नष्ट हो जाता है।

विद्यालय क्या करे?—यदि पुरस्कार-व्यवस्था का वास्तविक लाभ अभीष्ट है, तो पुरस्करणीय स्थिति ऐसी रखनी चाहिए जिसकी प्राप्ति के लिए सचमुच गम्भीर प्रयत्न करना पड़े। यदि निश्चित योग्यता का प्रदर्शन कोई भी छात्र न कर सके, तो पुरस्कार किसी को नहीं मिलना चाहिए। एकबार ऐसी कठोरता बरत देने पर अगले बार से गंभीर प्रयत्न चलने लगेगा। आदर्श निर्धारित करने में यह बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिए कि वह ऐसा हो, जिसकी प्राप्ति संभव हो। असंभव आदर्श रख देने पर तो कोई प्रयत्न ही नहीं करेगा। यदि क्षमता की न्यूनता एवं अधिकता के आधार पर छात्रों के अनेक वर्ग बनाए जा सकें, तो प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् पुरस्कार रखे जा सकते हैं। इससे लाभ यह होगा कि सभी स्तरों की क्षमता वाले छात्र पुरस्कार प्राप्त करने में प्रयत्नशील होंगे।

इस उद्देश्य से दूसरी व्यवस्था यह करनी पड़ेगी कि पुरस्कारों के अधि-कारियों का निर्णय निष्पक्षता से हो सके। निर्णायक ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए, जिनकी निष्पक्षता सन्देह के परे हो। इस विषय में अन्य

विद्यालयों के अध्यापकों तथा संमान्य नागरिकों का सहयोग भी प्राप्त किया जासकता है।

पुरस्कार: उचित या अनुचित ?—कुछ विचारक दण्ड-व्यवस्था की भाँति पुरस्कार-व्यवस्था को भी अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि पुरस्कार छात्रों की लोभ-वृत्ति का लाभ उठाते हैं। लोभ के कारण अच्छे कार्यों में प्रवृत्त होना कोई प्रशंसा की बात नहीं है। वे यह भी सोचते हैं कि विद्यालय का उद्देश्य छात्रों को समाज के दुःख में दुखी और उसके सुख में सुखी होने का अभ्यासी बनाना है। व्यक्तिगत रूप से दिये जाने वाले पुरस्कार छात्रों को व्यक्तिवादी बना देते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि अपने साथियों को अनुचित रूप से हानि पहुँचा कर भी छात्र पुरस्कार जीतने का प्रयत्न करते हैं।

पुरस्कार-व्यवस्था के पक्षपातियों का कहना है कि यह सत्य है कि पुरस्कार छात्रों की लोभवृत्ति का लाभ उठाते है परंतु इसमें अनुचित बात कुछ नहीं है। सभी शुभ कार्य किसी न किसी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक लाभ के लोभ में ही किये जाते हैं। लोभवश अच्छे कार्य करते हुए छात्रों को धीरे-धीरे अच्छे कार्यों को करते रहने का अभ्यास तो पड़ ही सकता है। दूसरे आक्षेप के विषय में उनका कथन है कि व्यक्तिवादी होना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है। यदि कोई व्यक्ति समाज की सेवा करने में व्यक्तिगत रूप से सर्वोत्तम सिद्ध होना चाहता है, तो इसमें बुराई की क्या बात है ? किसी को अनुचित रूप से हानि पहुँचाकर पुरस्कार-योग्य सिद्ध होने को निन्दनीय ठहरा कर इस बुराई को रोका जासकता है। इस बुराई के भय से पुरस्कार का लाभ न उठाना तो, बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

दोनों पक्षों में बहुत कुछ कहा सुना जा सकता है। हम उस विवाद में नहीं पड़ना चाहते है। वस्तुतः आदर्श तो यही है कि छात्र व्यक्तिगत दुख-सुख दण्ड-पुरस्कार तथा निन्दा-स्तुति से नियन्त्रित एवं उत्साहित न होकर शुद्ध कर्तव्य-भावना द्वारा नियन्त्रित एवं उत्साहित हुआ करें परन्तु जिस प्रकार समाज में उदार और अनुदार तथा सूक्ष्म बुद्धि एवं स्थूल-बुद्धि दोनों प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, उसी प्रकार विद्यालय में भी सभी प्रकार के छात्र आते हैं। इस कारण विद्यालय में पुरस्कार-व्यवस्था रहनी अवश्य चाहिए, उसका संचालन अवश्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह उपर्युक्त दुष्प्रभावों को न उत्पन्न करे। इसके लिए निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जासकती हैं :—

(१) छोटी कक्षाओं में पुरस्कार के रूप मे उपयोगी वस्तुएँ—विशेषतः शिक्षा-प्रद पुस्तकें दीजाएँ। धीरे-धीरे ऊँची कक्षाओं में उनका स्थान प्रमाण-

पत्र आदि प्रशंसा-सूचक वस्तुएँ लेती जाएँ। साधारणतया पुरस्कार बहुत मूल्यवान नहीं होने चाहिए।

(२) अपने किसी साथी के मार्ग में बाधक बनकर पुरस्कार जीतने के प्रयत्न को न केवल पुरस्कार के अयोग्य अपितु निन्दा के योग्य माना जाए।

(३) पुरस्कार बौद्धिक, शारीरिक, चारित्रिक तथा शैक्षणिक आदि सभी प्रकार की योग्यताओं के लिए रखे जाएँ, जिससे छात्रों के सभी वर्गों में उनका उचित वितरण हो सके।

(४) कुछ पुरस्कार व्यक्तियों को न देकर टोलियों को दिये जाएँ। ऐसा करने से छात्रों में समूह-भावना का विकास होगा। धीरे-धीरे सभी पुरस्कार इसी प्रकार दिये जासकते है। व्यक्ति और समाज के हितों के एकत्व का दर्शन कराने में इस प्रकार के पुरस्कार बहुत उपयोगी होंगे।

(५) जिन छात्रों को पुरस्कार मिले, उनके नाम विद्यालय-पत्रिका मे सम्मान के साथ प्रकाशित किये जाएँ और जो सब क्षेत्रों में मिलाकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो, उसका नाम किसी ऊँचे स्थान पर स्थायी रूप से अंकित कर दिया जाए।

इन सब युक्तियों से यदि विद्यालय के वातावरण को अनुशासन के उपयुक्त बनाकर रखा जासके, तो उसमें पलने वाले छात्रों के जीवन स्वतः अनुशासित होजाएँगे। अनुशासन तथा अनुशासन-हीनता दोनों ही छात्र अपने वातावरण से सीखते हैं। वातावरण ठीक रहने पर जो कुछ थोड़े से अपवाद होंगे, उन्हें शीघ्र ही वश में लाया जासकेगा। जब बातावरण में ही अनुशासन-हीनता व्याप्त हो, तब तो कुछ भी उपाय नहीं चल सकता।

कक्षा में अनुशासन

यहाँ तक तो चर्चा सामान्य अनुशासन-व्यवस्था की हुई है। बहुत से अध्यापकों को यह शिकायत रहा करती है कि उनकी कक्षा में छात्रों का व्यवहार अनुशासन-विरोधी रहता है। हमारे अनुभव में ऐसे अध्यापक भी आए है, जिनकी कक्षा में वे छात्र भी उपद्रप मचाने लगते हैं, जो किसी और की कक्षा में कभी अनुशासन-भंग नहीं करते। ऐसे अध्यापकों को कुछ सलाहें देकर हम इस अध्याय को समाप्त करना चाहते हैं।

छात्र अध्यापक के सच्चे आलोचक होते हैं। जब अध्यापक अपनी कमियों के कारण छात्रों की श्रद्धा का अपात्र सिद्ध होलाता है, तब वे उसकी कक्षा में अनुशासन-भंग करने लगते है। कुछ छात्र कुसंगवश शरारती भी होजाते है और कुछ और उनकी देखा देखी भी शरारत करने लगते हैं। परंतु जब

अध्यापक कक्षा में अनुशासन-भंग होते देखे, तो पहले उसे आत्म-निरीक्षण करके अपनी कमियों को दूर कर लेना चाहिए। इसके उपरान्त दण्ड का आश्रय लिया जासकता है।

कक्षा में अनुशासन-भंग के अध्यापक के पक्ष से सामान्यतया निम्नलिखित कारण होते है :—

(१) पाठ्यवस्तु पर अध्यापक का अधिकार न होना।
(२) पाठन-विधि का मनोविज्ञान-सम्मत न होना।
(३) प्रकाश, वायु तथा बैठने की व्यवस्था का समुचित न होना।
(४) अध्यापक के व्यवहारों का उपहासास्पद अथवा घृणास्पद होना।
(५) छात्रों के साथ पक्षपात-पूर्ण अथवा नृशंसता-पूर्ण व्यवहार करना।
(६) अध्यापन में रुचि न लेना।
(७) बात-बात में प्रधानाध्यापक से शिकायत करना।

इन विषयो में सावधान रहने वाले अध्यापकों की कक्षा मे अनुशासन-हीनता नही उत्पन्न हो पाती। कभी-कभी कक्षा के अनुशासन पर कक्षा के बाहरी बातावरण (हड़ताल, सिनेमा के गीत, ऋतु-परिवर्तन आदि) का भी प्रभाव पड़ता है। ऐसे अवसरों पर अध्यापक को चतुर प्रशासक की भाँति युक्ति से काम निकालना चाहिए। बहुत सी समस्याएँ कक्षा के आन्तरिक वातावरण को रोचक बना देने से हल हो जाती है।

उपसंहार

इस अध्याय मे अनुशासन के विषय मे हमने व्यावहारिक बाते ही कही है। शास्त्रीय चर्चा के रूप में अभी बहुत कुछ कहा जा सकता है। यों ही अध्याय बहुत लम्बा हो गया है अतः हम उससे विरत रहे हैं। यदि अध्यापक आदर्श रहे, विद्यालय का वातावरण शुद्ध रहे, उसे परिवार तथा समाज का ठीक सहयोग मिलता रहे, तो अनुशासन की समस्या पहले तो उठेगी नहीं और यदि उठेगी तो तत्काल हल हो जायएगी, यह सारतत्व अध्यापक की दृष्टि मे सदैव रहना चाहिए।

पंचदश अध्याय

परीक्षा-पद्धति

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना, परीक्षा का अर्थ, परीक्षा के प्रयोजन, परीक्षा के भेद-उपभेद, बाह्य और आन्तरिक परीक्षाएँ, परीक्षाओं का संगठन एवं सचालन, परीक्षा-परिणामों पर पुनर्विचार, कतिपय सुझाव, परीक्षा-पद्धति में सुधार, परीक्षा-परिणामों का मूल्यांकन, परीक्षाएँ भयप्रद कैसे न रहें, उपसंहार ।

प्रस्तावना

शिक्षण और परीक्षण साथ-साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं । परीक्षा के बिना यह ज्ञात ही नहीं होसकता कि शिक्षण ठीक दिशा में चल रहा है अथवा नहीं और यदि नहीं चल रहा है तो शिक्षणालय के किस अङ्ग के दोष के कारण ऐसा हो रहा है । इसी कारण प्रत्येक विद्यालय में परीक्षाएँ ली जाती हैं । प्रस्तुत अध्याय में हम परीक्षा की ही चर्चा करेंगे ।

परीक्षा का अर्थ

"परीक्षा" शब्द का अर्थ होता है "चारों ओर से अच्छे प्रकार देखना ।" यह देखना साधारण देखने से इस अर्थ में भिन्न होता है कि इससे परीक्षित वस्तु के सभी गुण-दोष पूरी तरह स्पष्ट हो जाते हैं । हिन्दी भाषा में "ठोक

बजाकर देखना" इस मुहावरे का जो अर्थ है, वही वस्तुतः परीक्षा का अर्थ है। इस शब्दार्थ के कारण "परीक्षा" शब्द विद्यालयीय तथा सामाजिक जीवन में प्रचलित उस क्रिया-कलाप के लिए प्रसिद्ध होगया है, जिसका प्रयोजन किसी परीक्षार्थी के ज्ञान अथवा कौशल की जाँच कर किसी स्थिति, पद या अधिकार के लिए उसकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का निर्धारण करना होता है।

परीक्षा के प्रयोजन

संक्षेप में परीक्षा का प्रयोजन ऊपर के अनुच्छेद मे कह दिया गया है। अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए परीक्षाओं के प्रयोजनों का नीचे की पंक्तियों में परिगणन किया जारहा है :—

(१) यह पता लगाना कि छात्र में अध्येय पाठ्यवस्तु के अध्ययन, अनुष्ठेय कार्य के सम्पादन तथा अभीष्ट पद अथवा अधिकार के निर्वाह के लिए आवश्यक क्षमता अथवा अभिरुचि है अथवा नहीं,

(२) इस बात की जाँच करना कि छात्र सिखाई जाने वाली वस्तु को ग्रहण करने मे मनोयोगपूर्वक प्रयत्न कर रहा है, अथवा नहीं,

(३) विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रो में छात्रों की प्रगति का जाँच करना,

(४) ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में प्रगति करने, प्राप्त ज्ञान को सगठित करने तथा विविध जीवन-परिस्थितियो में उसका प्रयोग करनें में छात्रों की सहायता करना,

(५) छात्रों मे परिश्रम, धैर्य, दृढ़ता, सावधानी आदि चारित्रिक गुणों की विद्यमानता की जाँच करना तथा अधिकाधिक मात्रा में उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देना,

(६) छात्रों के अध्यापन से पूरी तरह लाभान्वित न होने के कारणों का पता लगाना,

(७) अध्यापकों की योग्यता तथा कुशलता का मूल्यांकन करना।

(८) अध्यापकों को अपनी योग्यता और कुशलता बढ़ाते रहने की प्रेरणा देना,

(९) पुरस्कार एवं छात्रवृति आदि के लिए योग्य छात्रों का चयन करना।

परीक्षा के भेद उपभेद

परीक्षा के भेद कई दृष्टियों से किये जासकते हैं। एक दृष्टि से सभी प्रकार की परीक्षाओं को मौखिक, लिखित तथा क्रियात्मक इन तीन भेदों में विभक्त किया जा सकता है। दूसरी दृष्टि से परीक्षा क्षमता-परीक्षा, प्रयत्न-

परीक्षा, सफलता-परीक्षा, असफलता-निदान-परीक्षा तथा प्रतियोगिता-परीक्षा इन पाँच भेदों में विभक्त हो जाती हैं। एक तीसरी दृष्टि से परीक्षाओं को आन्तरिक एवं बाह्य इन दो भेदों में विभक्त किया जाता है। विद्यालय-जीवन में परीक्षा के ये सभी प्रकार चलते हैं। इनकी विस्तृत जानकारी के लिए इसी लेखक-युगल द्वारा लिखित "कक्षाध्यापन एवं पाठसूत्र-निर्माण" शीर्षक ग्रन्थ का "परीक्षा-पद्धति" शीर्षक अध्याय देखना उपयोगी होगा। इस अध्याय में हम संगठन एव संचालन सम्बन्धी आवश्यक बातों की ही चर्चा करेंगे।

बाह्य और आन्तरिक परीक्षाएँ

संगठन की दृष्टि से परीक्षाओं को बाह्य और आन्तरिक इन दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। वे परीक्षाएँ बाह्य कहलाती है, जिनके प्रश्न-पत्रों का निर्माण तथा उत्तर पुस्तकों का जाँचना विद्यालय से बाहर के किसी अभिकरण के नियन्त्रण में बाहर के ही परीक्षक करते हैं। जूनियर हाई स्कूल, हाई स्कूल तथा इण्टरमीजियेट की परीक्षाएं बाह्य परीक्षाएं हैं। इनका सँचालन क्रमशः जिला-विद्यालय-निरीक्षक तथा माध्यमिक-शिक्षा-परिषद् करते हैं।

प्रत्येक विद्यालय में निम्नलिखिड़ आन्तरिक परीक्षाएँ होती है :

(अ) **प्रवेश-परीक्षा**—यह परीक्षा उस समय ली जाती है, जब कोई बालक या बालिका विद्यालय में प्रवेश के लिए आती है। यदि सभी विद्यालयों का स्तर समान तथा ठीक रहे, तो इस परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्तर-विषयक असमानता तथा गड़बडी के कारण यह परीक्षा इस समय आवश्यक हो गई है। प्रत्येक विद्यालय को प्रवेश-परीक्षा लेकर ही छात्रों को प्रविष्ट करना चाहिये। हमारे विचार से प्रवेश-परीक्षा के रूप में भाषा, गणित तथा बुद्धि इन तीन की परीक्षा ली जानी चाहिए। छात्र को जितनी भी भाषाएँ विद्यालय में पढ़नी है, परीक्षा उन सबमें होनी चाहिए। जिन छात्रों को गणित नहीं पढ़ना है, उनकी गणित में परीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। बुद्धि-परीक्षा सब की होनी चाहिए। इस परीक्षा के लिए समीपवर्ती प्रशिक्षण-महाविद्यालय, प्रसार-विभाग तथा जिला-मनोवैज्ञानिक आदि की सहायता ली जा सकती है। जो छात्र तीनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण हों, उन्हें ही विद्यालय की उपयुक्त कक्षा में प्रवेश देना चाहिए। यदि कोई छात्र विषय-परीक्षाओं में अनुपयुक्त सिद्ध हो परन्तु बुद्धि-परीक्षा में खरा उतरे, तो उसे विद्यालय की आवश्यकतानुसार प्रवेश दिया जा सकता है।

यदि विद्यालय में प्रवेश-परीक्षा होती हो, तो फिर परीक्षा के अतिरिक्त

किसी अन्य दबाव के कारण छात्रों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक किसी दबाव में आ गया, तो फ़िर उसके सामने इतनी समस्याएँ आकर खड़ी हो जायेंगी कि वे उसके सुलझाये न सुलझेंगी। यदि जिला-विद्यालय-निरीक्षक अनुमति दें, और यदि विद्यालय के पास पर्याप्त कोष हो या अभिभावक अतिरिक्त शुल्क देने को तैयार हों, तो पिछड़े हुए छात्रों के लिए विशेष कक्षाएँ खोली जा सकती हैं।

(आ) **मासिक परीक्षा**—यह परीक्षा प्रत्येक मास के अन्तिम दिनों में ली जाती है। किन्हीं-किन्हीं विद्यालयों में इसका आयोजन नियम-पूर्वक होता है और किन्हीं-किन्हीं में अनियमित रूप से। इसमें परीक्षक भी विषयाध्यापक ही होता है। प्रत्येक विद्यालय में इस परीक्षा का आयोजन होना चाहिए।

(इ) **त्रैमासिक परीक्षा**—यह परीक्षा मासिक परीक्षाओं की भाँति ही चलती है। इसके आयोजन की स्थिति भी उसकी जैसी ही होती है। किन्हीं २ विद्यालयों में इसमें परीक्षक कक्षा के विषयाध्यापक न होकर अन्य कक्षाओं के विषयाध्यापक हो जाते हैं।

(ई) **षाण्मासिक परीक्षा**—यह परीक्षा अधिकतर विद्यालयों में होती हैं। साधारणतया इसमें परीक्षक परीक्ष्य कक्षा के उस विषय के अध्यापक न होकर अन्य कक्षाओं के अध्यापक होते हैं। इसका आयोजन लगभग वार्षिक परीक्षा की ही भाँति चलता है। इसका आयोजन कहीं-कहीं दिसम्बर के तृतीय सप्ताह में और कहीं-कहीं जनवरी के प्रथम सप्ताह में होता है। इसमें छात्रों को वार्षिक परीक्षा का पूर्वाभ्यास मिल जाता है और वे इसकी तैयारी से वार्षिक परीक्षा की तैयारी भी आरम्भ कर सकते हैं।

(उ) **वार्षिक परीक्षा**—यह परीक्षा तो प्रत्येक विद्यालय में होती ही हैं। इसका ढंग वही होता है, जो षाण्मासिक परीक्षा के प्रसंग में लिखा जा चुका है।

परीक्षाओं का संगठन एवं संचालन

मासिक परीक्षाएं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्बद्ध कक्षा का विषयाध्यापक ही लेता है। उसके संगठन एवं संचालन का उत्तरदायित्व विषयाध्यापक पर ही होता है। शेष परीक्षाओं के संचालन के लिए प्रत्येक विद्यालय में एक विद्यालय-परीक्षा-समिति बननी चाहिए। इसका प्रधान स्वयं प्रधानाध्यापक तथा संयोजक वरिष्ठतम अध्यापक अथा उपप्रधानाध्यापक रहे। प्रत्येक विषय के अध्यापकों में से वरिष्ठता के क्रम से एक एक अध्यापक को इस का सदस्य बनाना चाहिए। इस समिति को परीक्षाओं से संगठन तथा संचालन का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए।

परीक्ष्य पाठ्यक्रमांशों का संकलन, परीक्षक-चयन, प्रश्नपत्र-निर्मापन, उचित स्तर की दृष्टि से प्रश्नपत्रों पर पुनर्विचार, मुद्रण, परीक्षा-व्यवस्था, निरीक्षकों की नियुक्ति, परीक्षा-संचालन, उत्तर-पुस्तकों का संकलन, प्रेषण तथा प्रत्यादान, रजिस्टरों में प्राप्तांकों का लेखन तथा परीक्षा-फल-निर्माण आदि सम्पूर्ण कार्य-कलाप इस समिति को करना चाहिए। प्रश्न-पत्रों तथा परीक्षा-फल की गोपनीयता तथा प्रश्न-पत्रों की स्तरोचितता का इसे विशेष ध्यान रखना चाहिए। समिति का अध्यापकों के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि वे इसे अपना-अपना सर्वोत्तम सहयोग देकर प्रसन्नता अनुभव करें।

परीक्षकों की नियुक्ति में इसे इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जो अध्यापक जिन-जिन छात्रों की प्राइवेट ट्यूशन करते हों, वे उनके परीक्षक न हों। इस विषय में थोड़ी सी सावधानी बरतने से पक्षपात के आक्षेप के बहुत से झगड़े उत्पन्न नहीं हो पाते हैं। यदि आस-पास के अन्य विद्यालय सहयोग करने को तैयार हों, तो दूसरे विद्यालयों के अध्यापकों को भी परीक्षक नियुक्त किया जा सकता है। प्राप्तांक-रजिस्टर इस प्रकार बनाने चाहिए जिनमें मासिक परीक्षाओं के अंक भी चढ़ाये जा सकें। इन अंकों के लेखन का कार्य प्रतिमास प्रत्येक कक्षा के विषयाध्यापक करते रह सकते है। इससे प्रत्येक छात्र का प्रगति-चित्र सरलता से बनाया जा सकता है। अन्तिम रूप में परीक्षा-परिणाम-पत्र तैयार करने में समिति यदि आवश्यकता समझे तो कक्षाध्यापकों की सहायता ले सकती है।

प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह इस समिति के कार्य पर सामान्य दृष्टि रखे और उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम करने दे। जहाँ वह कोई गंभीर भूल देखे वहीं अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करे। बार-बार का हस्तक्षेप कार्य-कर्ताओं के उत्साह को नष्ट कर देता है। गलती करके सीखने देना प्रधानाध्यापक के लिए एक अच्छी नीति होगी। स्थान पर की हुई भूल आगे चलकर स्वयं अपने मार्ग में रोड़ा बन जाती है और तब करने वाला स्वयं उसे सुधारने के लिए विवश हो जाता है।

परीक्षा-परिणामों पर पुनर्विचार

परीक्षा-परिणाम बन जाने पर बहुत बार उस पर पुनर्विचार किया जाता है। जो छात्र स्पष्टतया उत्तीर्ण हो जाते है, उन्हें तो कक्षोन्नत कर ही दिया जाता है परन्तु जो छात्र एक या अनेक विषयों में अनुत्तीर्ण हो जाते है उनके मामलों पर विचार करके यह निश्चय करने के लिए कि किन शर्तों पर छात्रों को को कक्षोन्नति दे दीजाए, परीक्षा-परिणाम पर पुनर्विचार करना पड़ता है।

अपने यहाँ के बहुत से विद्यालयों में पुनर्विचार के नाम पर बड़ी गड़बड़ चलती है। कभी-कभी ट्यूशन करने वाले अध्यापकों, अभिभावकों तथा प्रबन्ध-समितियों के सदस्यों के दबाव के कारण, कक्षोन्नति के नियम इतने सरल बना दिये जाते है कि परीक्षा लेने का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। इस विषय में प्रधानाध्यापक को कुछ सिद्धान्तवादिता दिखानी चाहिए।

सुझाव—सभी व [illegible] के लिए निश्चित सिद्धान्त बता सकना तो हमारे लिए कठिन है परन्तु इस विषय में निम्नलिखित कतिपय सुझाव हम अवश्य देना चाहते हैं।

(१) जो छात्र वार्षिक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो परन्तु वर्ष में होने वाली अन्य परीक्षाओं में प्राप्तांकों के आधार पर उत्तीर्ण हो जाता हो, उसे कक्षोन्नत कर देना चाहिए।

(२) मातृभाषा एवं गणित (यदि अगले स्तर पर भी गणित पढ़ना आवश्यक हो अथवा वैकल्पिक विषय के रूप मे गणित का अध्ययन चलाना हो तो) मे अनुत्तीर्ण छात्रों को कदापि कक्षोन्नत नहीं करना चाहिए।

(३) जिन विषयों के बारे में यह तय हो कि उनमें पुनः परीक्षा लेकर छात्रों को कक्षोन्नत किया जाएगा, उनमें ईमानदारी से परीक्षा लेकर ही कक्षोन्नति मिलनी चाहिए। ऐसे छात्रों के लिए यदि आवश्यकता हो, तो विशेष कक्षाओं का आयोजन किया जाना चाहिए। आवश्यक हो तो अभिभावकों से अतिरिक्त शुल्क लिया जाए।

(४) बहुत बार अभिभावक लोग यह कहते हैं कि उनके छात्रों को इस शर्त पर कक्षोन्नत कर दिया जाए कि वे उनकी कमजोरी दूर करवा देंगे। यदि अभिभावकों को प्रत्येक परीक्षा का परिणाम प्रतिमास भेजा जाता रहे और उनको स्पष्ट बताया जाता रहे कि वार्षिक कक्षोन्नति के अवसर उनके छात्रों को कक्षोन्नत करना संभव नही हो सकेगा, तो वे इस प्रकार की माँग नहीं कर सकेंगे। यदि फिर भी कोई करे, तो उसे नम्रता एवं दृढ़ता के साथ अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।

(५) बहुत से विद्यालय इस शर्त पर छात्र को कक्षोन्नत करने को तैयार हो जाते हैं कि प्रमाण-पत्र लेकर छात्र या छात्रा विद्यालय का परित्याग करके कहीं अन्यत्र प्रवेश प्राप्त करले। यह परम्परा भी उचित नहीं है। इससे अन्य विद्यालयों के सम्मुख समस्याऐं खड़ी हो जाती हैं।

(६) कक्षोन्नति में पक्षपात नहीं बरता जाना चाहिए। समाज तथा संस्था का हित इसी में है कि प्रत्येक कक्षा में योग्य छात्र ही आएं। विशेष व्यक्तियों

के लिए विशेष नियम न्याय की जड़ों पर सीधी चोट करते हैं। वस्तुगत रूप से नियम बनाकर उन्हें दृढ़ता से लागू करना चाहिए।

(७) जो छात्र एक से अधिक विषयों में अनुत्तीर्ण हों और साथ में जिन्हें योग के ३३% से कम अङ्क मिले हों, उन्हें भी कक्षोन्नत नहीं किया जाना चाहिए।

(८) जो छात्र पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं में विशेष दक्ष हैं, उन्हें केवल इसी आधार पर चढ़ाते जाना भी उचित नहीं है। वे फिर सार्वजनिक परीक्षाओं पर पहुँच कर रुक जाएँगे। ऐसी कक्षोन्नति तो उनके साथ शत्रुता के समान होगी।

ये सब सुझाव मात्र हैं। प्रत्येक कक्षा में योग्य छात्र ही पहुँचने चाहिए, इस दृष्टि से जहाँ आवश्यक हो, इनमें संशोधन कर लेना उचित होगा।

परीक्षा-पद्धति में सुधार

अध्यापन और परीक्षा दोनों साथ-साथ चलने वाली प्रक्रियाएं है। परीक्षा से ही यह विदित हो पाता है कि अध्यापन अपने उद्देश्य में सफल हो रहा है अथवा नहीं और यदि नहीं हो पा रहा है तो दोष कहाँ पर है। इस कारण प्रत्येक शिक्षा-पद्धति में अध्यापन के पश्चात् परीक्षा अवश्य जुड़ी रहती है। परीक्षा की पद्धति का अध्यापन-पद्धति पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। जिस बात की परीक्षा ली जाएगी, वही वस्तु अध्यापन का विषय बनेगी। यदि परीक्षा तथ्य-प्रधान होगी, तों परीक्षार्थियों को तथ्य रटने पड़ेंगे और अध्यापन विधि रटन्त पर आश्रित होगी। यदि परीक्षा में छात्रों से अपनी विचार-शक्ति के अभिव्यंजन की आशा की जाएगी, तो अध्यापन को भी ऐसा ही बनना पड़ेगा, जिसमें विचार-शक्ति विकसित हो।

हमारे देश में अब तक निबन्धात्मक परीक्षा का बोलबाला रहा है। इसमें अनेक गुणों के साथ अनेक कमियाँ भी हैं। इन कमियों को दूर करने के लिए अब यह सुझाव दिया जा रहा है कि इस परीक्षा के साथ "नये ढंग की वस्तुगत-सफलता-परीक्षा" को भी प्रचलित किया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हमारे विद्यालयों में इन दोनों परीक्षा रूपों का साथ-साथ प्रचलन हो जाए, तो हमारे यहाँ प्रचलित अध्यापन-विधियों में बहुत सा सुधार हो जाए।

टिप्पणी—परीक्षाओं के विभिन्न रूपों की चर्चा हम यहाँ इसलिए नहीं करना चाहते क्योंकि इन सब बातों को छात्राध्यापक एल टी० के प्रथम तथा बी० टी० के द्वितीय पत्र में पढ़ लेते हैं। यहाँ उनकी चर्चा पिष्टपेषण मात्र होगी और पुस्तक का कलेवर व्यर्थ में बढ़ जाएगा।

परीक्षा-पद्धति में सुधार को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्रीय शिक्षामन्त्रालय के माध्यमिक-शिक्षा-विभाग की ओर से स्थान-स्थान पर परीक्षा एवं मूल्याङ्कन गोष्ठियाँ होती रहती हैं। उनमें विशेषज्ञ अध्यापकों को यह सिखाते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमारी परीक्षा-पद्धति में क्या-क्या सुधार अपेक्षित है। प्रत्येक विद्यालय को ऐसी गोष्ठियों में अपने यहाँ के अध्यापक भेजकर उनका लाभ उठाना चाहिए।

जो कुछ इन गोष्ठियों में सिखाया जाता है, उसका सार यह है कि प्रत्येक विषय का अध्यापन आरंभ करने के पहले अध्यापक को पहले यह निश्चय करना चाहिए कि वह किन-किन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उस विषय का अध्ययन करने जा रहा है। तत्पश्चात् उसे यह निश्चय करना चाहिए कि छात्र के व्यवहार में क्या-क्या परिवर्तन हो जाने पर वह मान लेगा कि अमुक उद्देश्य उसे प्राप्त होगया है। इस प्रकार उसे उद्देश्य को विश्लिष्ट करके व्यवहार-रूपों[1] में विभक्त कर लेना चाहिए। इसके अनन्तर उसे यह सोचना चाहिए कि पाठ्यवस्तु अथवा लोक-जीवन के किस-किस अंश के आधार पर क्या-क्या क्रियाएँ करा के वह आश्वस्त हो सकेगा कि छात्रों के जीवन में वे व्यवहार-रूप उत्पन्न हो गए हैं। जब कभी उसे छात्रों की परीक्षा लेनी हो, तब उसके सम्मुख प्रथम तो जिस तत्व की वह परीक्षा लेना चाहता है, वह स्पष्ट होना चाहिए और फिर उसे वे ही क्रियाएँ छात्रों से करानी चाहिए, जिनका कर देना स्पष्टतया यह प्रमाणित कर दे कि अभीष्ट योग्यता छात्र में है। इस प्रकार उसे जिस विषय के क्षेत्र में परीक्षा लेनी हो, उसके सभी उद्देश्यों की प्राप्ति की परीक्षा ले लेनी चाहिए। बिना निश्चित उद्देश्यों को मन में रखे अथवा कुछ थोड़े से ही उद्देश्यों को ही मन में रखकर प्रश्नपत्र बना डालना और फिर उसे मन चाहे ढंग से जाँच कर किसी को उत्तीर्ण और किसी को अनुत्तीर्ण कर देना किसी प्रकार उचित नहीं है।

प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह अपने अध्यापकों को परीक्षा-पत्र बनाने तथा उनके उत्तरों का सही-सही मूल्याङ्कन करने की कला में प्रशिक्षित करालें। इसके लिए वह उन्हें प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के साथ लगे हुए प्रसार-विभागों द्वारा आयोजित गोष्ठियों में भेजें। यदि किसी प्रकार यह सम्भव न हो सके तो अपने विद्यालयों के प्रशिक्षित अध्यापकों से ही अप्रशिक्षित अध्यापकों को कामचलाऊ प्रशिक्षण दिला दे। चाहे कुछ हो, उसे अपने विद्यालय की परीक्षा पद्धति में संशोधन करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। परीक्षा-पद्धति में

1. Behaviour patterns.

सुधार होते ही अध्यापन-पद्धति भी स्वतः बदल जाएगी क्योंकि व्यवहार-रूपों की परीक्षा के लिए जो क्रियाएं कराई जाएँगी, उन्हीं को करा के उनकी शिक्षा दी जा सकेगी। स्पष्ट है कि तैरने की योग्यता की परीक्षा जिन क्रियाओं को कराके ली जाएगी, उन्हीं को कराके तैरने की योग्यता उत्पन्न की जाएगी। परीक्षा के रूप की भ्रष्टता के कारण ही हमारी शिक्षा में रटन्त तथा परीक्षक की स्वेच्छाचारिता का बोलबाला हो रहा है। उसे वस्तुगत बनाए बिना हमारी शिक्षा का उद्धार असंभव है।

परीक्षा-परिणामों का मूल्यांकन

छात्रों को परिणाय बता देने के पश्चात् अध्यापक-मण्डल को बैठकर परीक्षा-परिणामों का मूल्याङ्कन करना चाहिए। उन्हें सोचना चाहिये कि कौन-कौन से छात्र किस-किस क्षेत्र में पिछड़े हुए सिद्ध हुए हैं, उनके उस-उस क्षेत्र में पिछड़ने के कारण क्या हैं, उनको अन्य छात्रों के साथ लाने के लिए क्या किया जाना उचित है, इस विषय में विद्यालय कितना काम कर सकता है, कितना काम छात्रों के अभिभावकों को करना चाहिए, उन छात्रों के पिछड़ने में कितना उत्तरदायित्व व्यक्तिगत रूप से विभिन्न अध्यापकों का है, और कितना सम्पूर्ण विद्यालय का है, भविष्य में अध्यापकों अथवा विद्यालय की ओर से कमी न रह जाए, इसके लिये क्या किया जाना चाहिये और क्या-क्या किया जाये कि सफल छात्रों की सफलता और अधिक उज्ज्वल हो जाये। परीक्षा-परिणामों का इस प्रकार मूल्याङ्कन करने तथा उचित पग उठाने में ही परीक्षाएं लेने तथा उसमें इतना श्रम और धन लगाने की उपयोगिता है। आज की परीक्षाएँ तो अपने आपको धोखा देने की साधन-मात्र हैं।

परीक्षाएँ भयप्रद कैसे न रहें ?

प्रायः देखा जाता है कि परीक्षाएं छात्रों के लिए बड़ी भयप्रद सिद्ध होती हैं। हमने बहुत से छात्रों को परीक्षा के कारण अस्वस्थ हो जाते देखा है। बहुतों के होश-हवास परीक्षा-भवन में बैठकर गुम हो जाते हैं। अनेक छात्र परीक्षा-भवन में बैठकर रोते देखे जाते हैं। परीक्षा आने पर अति जागरण तथा अनियमित भोजन के कारण स्वास्थ्य तो लगभग सभी छात्रों का बिगड़ जाता है। जीवन में यह अस्तव्यस्तता भी परीक्षा के भय के कारण ही उत्पन्न हो जाती है। क्या परीक्षा सचमुच ऐसी ही भयानक वस्तु है ? हमारी सम्मति में परीक्षा अपने आप में उतनी भयानक वस्तु नहीं है। उसे भयानक परीक्षा लेने के ढंग ने बना रखा है। यदि परीक्षा को शिक्षण-प्रक्रिया का स्वाभाविक अंश बना दिया जाए और उसके लिए विशेष तैयारी न की जाए, तो उसका भय समाप्त हो जाए।

अध्यापक बन्धु वर्ष के प्रारम्भ में ही एक ऐसी गृह-कार्य-योजना बना लें, जिसके अनुसार छात्रों को प्रतिसप्ताह गृह-कार्य दिया जाया करे और प्रत्येक कार्य ऐसा हो जिसे करने में छात्र को पिछले सप्ताहों में पढ़ाये हुए पाठों की भी पुनरावृत्ति कर लेनी पड़े। यदि ऐसी योजना साप्ताहिक आधार पर बनाना संभव न हो, तो मासिक आधार पर बनाई जा सकती है और प्रत्येक मास के अन्त में ऐसा काम कराया जा सकता है, जिसको पूरा करने में पिछले मासों में पढ़ाई हुई पाठ्य वस्तु की पुनरावृत्ति कर लेनी पड़े। इस प्रकार परीक्षा शिक्षण का अभिन्न अङ्ग बनकर वर्ष भर चलती रहेगी और वह छात्रों के लिए इतनी स्वाभाविक हो जाएगी कि उनके मन से उसका भय ही निकल जाएगा। और यदि प्रत्येक गृह-कार्य पर किया जाने वाला अंक दान छात्रों को कक्षोन्नति की दृष्टि से उपयोगी प्रतीत होने लगे, तो वह प्रत्येक गृह-कार्य को भी उतनी ही गंभीरता से करेगा, जितनी गंभीरता से वह वार्षिक परीक्षा की तैयारी करता है।

ऐसी परम्परा डाल देने से अनुशासन-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के अनेक लाभ होंगे। छात्रों का श्रम वर्ष भर में वितीर्ण हो जाएगा अतः वर्ष भर मौज और शरारत करने तथा वार्षिक परीक्षा के अवसर पर दिन-रात जग कर स्वास्थ्य खराब कर लेने के खतरे समाप्त हो जाएंगे। छात्र अध्यापकों के प्रति नम्र और शिष्ट व्यवहार करने के अभ्यासी बनेंगे और वार्षिक परीक्षा के अवसर पर की जाने वाली नकलें तथा निरीक्षकों को भय-प्रदर्शन करने की घटनाएं स्वतः बन्द हो जाएँगी।

परीक्षा को नया रूप देने में अध्यापक बन्धुओं को श्रम अवश्य करना पड़ेगा परन्तु जैसे छात्रों का श्रम वर्ष भर में वितीर्ण हो जाएगा, वैसे उन्हें भी वर्ष के किसी एक भाग में अतिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि गृह-कार्य-माला निबन्धात्मक परीक्षा तथा नवीन ढङ्ग की वस्तुगत-सफलता-परीक्षा के समन्वय के आधार पर बनाई जाने लगे, तो उसको जाँचने में भी उतना श्रम नहीं पड़ेगा, जितना आजकल पड़ता है। और सम्भवत एक बार बनाई हुई गृह-कार्य-माला थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ अनेक वर्षों तक काम देती रहेगी। जो थोड़ा बहुत अतिरिक्त श्रम पड़ भी जाएगा, वह निश्चित रूप से आज के खतरे उटाने के बदले अधिक स्वीकरणीय होगा।

उपसंहार

शिक्षण के साथ परीक्षा का चोली-दामन का सम्बन्ध है। यह सदा रहा है और सदा रहेगा। परीक्षा ने सदैव शिक्षण को प्रभावित किया है और वह

आगे भी प्रभावित करती रहेगी। परीक्षा से छुटकारा पाने का कोई उपाय नही है। उससे छुटकारा पाया भी नही जाना चाहिए अन्यथा सर्वत्र असावधानी का बोलबाला हो जाएगा। आज शिक्षा-क्षेत्र मे जो बहुत सी गड़बड़ें दिखाई दे रही हैं, वे परीक्षा के कारण नहीं, परीक्षा के गलत ढङ्ग के कारण है। वे तो परीक्षा को हटाने से नहीं, उसके ढङ्ग बदलने से दूर होंगी। यही सोचकर इस अध्याय मे उसके विषय मे कुछ सलाहें दी गई है। परीक्षा के अङ्गभूत विभिन्न प्रकार की जाँचों तथा उनके गुण-दोषों की चर्चा हम जान-बूझ कर टाल गये है क्योकि उससे पिष्ट-पेषण मात्र होता। उसके विषय में विस्तृत जानकारी परीक्षा-विषयक किसी पुस्तक से ली जानी चाहिए। सामान्य जानकारी हमारी "कक्षाध्यापन और पाठ सूत्र-निर्माण" से ली जा सकती है। आशा है कि ऊपर की पंक्तियाँ परीक्षा-पद्धति मे आवश्यक सुधार लाने की दिशायें अध्यापक बन्धुओं को कुछ प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगी।

षोडश अध्याय

चिकित्सात्मक अध्यापन तथा शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; चिकित्सात्मक अध्यापन—अर्थ, क्षेत्र, प्रयोजन, छात्रों के पिछड़ने के कारण (बुद्धि-मन्दता, इन्द्रियदोष, प्रकृति-दोष, विपरीत परिस्थितियाँ, अस्वस्थता, वातावरण की दूषितता, भावना-ग्रन्थियाँ, दोषपूर्ण अध्यापन, दुरभ्यास, अन्य कारण), विद्यालय का कर्तव्य, चिकित्सात्मक अध्यापन के आधारभूत सिद्धान्त; **शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन**—अर्थ, प्रयोजन, पथ-प्रदर्शन की आवश्यकताएं, पथ-प्रदर्शक के गुण, पथ-प्रदर्शन के मार्ग में कठिनाइयाँ विद्यालय क्या करे, पथ-प्रदर्शन के सामान्य सिद्धान्त, उपसंहार ।

प्रस्तावना

परीक्षा-परिणामों के मूल्याङ्कन की बात पिछले अध्याय में कही जा चुकी है । परीक्षा-परिणामों का मूल्यांकन विभिन्न दृष्टियों से किया जासकता है और उससे विभिन्न प्रकारों की जानकारियाँ मिल सकती हैं । इन विभिन्न प्रकारों में दो प्रकार ये भी हो सकते हैं कि उससे यह पता लग जाए कि विभिन्न छात्र किस-किस क्षेत्र में पिछड़ रहे है और भविष्य में उसके अध्ययन के उपयुक्त कौन-कौन से विषय हो सकते हैं । प्रथम प्रकार की जानकारी के आधार पर

विद्यालय में चिकित्सात्मक अध्यापन[1] की तथा द्वितीय प्रकार की जानकारी के आधार पर शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन[2] की व्यवस्थाएँ की जासकती हैं। ये दोनों व्यवस्थाएँ प्रत्येक विद्यालय में अवश्य होनी चाहिए। इस अध्याय में हम इन दोनों की ही संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

चिकित्सात्मक अध्यापन

अर्थ—विद्यालय मे चलने बाले अध्यापन से पूरा-पूरा लाभ उठाने में असमर्थ होकर कक्षा में पिछड़ने लगने वाले छात्रों की असमर्थताओं के स्वरूप को समझकर उनके कारणों को खोजना और फिर उनको तथा उनके दुष्प्रभावों को दूर करने का प्रयत्न करना चिकित्सात्मक अध्यापन कहलाता है।

क्षेत्र—विद्यालय-जीवन मे जो भी क्रिया-कलाप होता है, उसका एकमात्र उद्देश्य छात्रों की सर्वतोमुखी समन्वित अभ्युन्नति होना है। उन सब क्रियाओं में से किसी भी क्षेत्र में यदि बालक पिछड़ने लगता है, तो निश्चय ही उसके व्यक्तित्व का कोई न कोई पहलू अविकसित रह सकता है। इसलिए यही मानना उचित है कि विद्यालय-जीवन का प्रत्येक कार्य चिकित्सात्मक अध्यापन के क्षेत्र में आता हैं।

प्रयोजन—मानव-समाज को पूरी तरह सुखी और समृद्ध बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक घटक (व्यक्ति) शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक तीनों दृष्टियों से अधिक से अधिक पूर्ण हो। संसार के सभी दुखों का मूल मनुष्य की अल्पज्ञता तथा अल्पशक्तिमत्ता है। मनुष्य कभी सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान नहीं बन सकता। हां, यदि कोई समाज अपने ज्ञान और क्रिया-शक्ति को संकलित कर सके, तो उसका संकलित ज्ञान और पुंजीभूत क्रिया-शक्ति उसे व्यक्ति की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बना सकते हैं। और यदि वह समाज ऐसा हो जाए कि उसका प्रत्येक घटक शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से अधिक से अधिक पूर्ण हो, तो निश्चय ही वह समाज सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति के अधिक से अधिक निकट पहुँच जाएगा। यह निकटता उसे अधिक से अधिक सुखी और समृद्ध बना सकेगी। इस कारण प्रत्येक समाज का यह गंभीर कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक घटक को अधिक से अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे और उसके मार्ग में जो बाधाएँ आएँ, उनको हटाने में उसकी सहायता करे।

समाज ने जिन कारणों से विद्यालयों की स्थापना की हुई होती है, उनमें से एक यह भी है कि वह प्रत्येक छात्र को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वतो-

1. Remedial teaching, 2. Educational guidance,

मुखी समन्वित विकास में पूरी-पूरी सहायता दे। इसी कर्तव्य को पूरा करने के लिए विद्यालय पाठ्यक्रमों का आयोजन करता है और छात्रों के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है। समाज द्वारा प्रदत्त इस उत्तरदायित्व को विद्यालय कभी नहीं निभा सकता, यदि वह पिछड़ने वाले छात्रों के लिए चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था न करे।

यह बिल्कुल सत्य है कि सभी छात्र समान मात्रा में अपने-अपने व्यक्तित्वों को विकसित नहीं कर सकते। उनकी जन्मजात वैयक्तिक भिन्नताएं उसमें बाधक हो जाएँगी। परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिक से अधिक विकास का अवसर तो मिलना ही चाहिए। जनतन्त्रीय समाज में तो यह और अधिक आवश्यक है। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हिताहित के निर्णय तथा उसके क्रियान्वयन में अपना पूरा-पूरा योग न दे सकेगा। इस स्थिति से अन्त में व्यक्ति-विशेष ही नहीं सम्पूर्ण समाज भी घाटे में रहेगा। सम्पूर्ण समाज को इस हानि से पूर्व-रक्षित करने के लिए विद्यालयों में चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था आवश्यक है।

छात्रों के पिछड़ने के कारण—नियमित अध्ययनाध्यापन चलते रहने पर भी छात्रों के कक्षा में पिछड़ जाने के निम्नलिखित कारण होते है :—

बुद्धि-मन्दता—बहुत से छात्रों के पास बुद्धि एवं स्मरण-शक्ति का ऐसा जन्मजात अभाव होता है कि घोर परिश्रम करने तथा शिक्षक के लाख सिर मारने पर भी वे या तो बिलकुल नहीं सीख पाते या बहुत मन्दगति से सीख पाते है। ऐसे लोगों की प्रगति-मन्दता का कारण उनकी बुद्धिमन्दता होती है।

इन्द्रिय-दोष—समाज में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान-क्रियात्मक व्यापार इन्द्रियों के माध्यम से चलता है। ज्ञान अनुभवों का सामान्यीकृत रूप होता है और अनुभव प्राप्त करने का साधक इन्द्रियाँ ही है। जिस व्यक्ति की इन्द्रियों में रचनागत अथवा क्रियागत दोष होता है, वह ज्ञान ग्रहण करने की प्रक्रिया में भी उतना ही मन्द होता है। यह मन्दता उसे धीरे-धीरे अन्य छात्रों की तुलना में पिछड़ने के लिए विवश कर देती है।

प्रकृति-दोष—बहुत से छात्र प्रकृति से सुस्त, जिद्दी, क्रोधी, झेंपू, जल्दबाज तथा एकान्त-प्रिय आदि होते है। इन प्रकृतिगत दोषों के कारण वे विद्यालय-जीवन में चलने वाली विभिन्न क्रियाओं में पूरा-पूरा भाग नहीं ले पाते और इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ने लगते है।

विपरीत परिस्थितियाँ:—बहुत से छात्र ऐसे होते है जिनकी परिस्थितियाँ इतनी विपरीत होती हैं कि वे अध्ययन में अपेक्षित समय तथा श्रम नहीं लगा पाते। बहुतों को माता-पिता की निर्धनता के कारण घर पर इतना परिश्रम

करना पड़ता है कि वे विद्यालय में थके-मांदे आते है और पाठ-ग्रहण मे ध्यान ही नहीं लगा पाते। बहुत से छात्रों को विद्यालय तक पहुँचने में कई मील की यात्रा करनी पड़ती है। बहुतों को माता-पिता दुर्व्यसन आदि कारणों से उनके साथ दुर्व्यवहार करते है। किन्हीं-किन्ही के घर पर पढने-लिखने के लिए उपयुक्त स्थान नही होता। बहुत से छात्रों को ट्यूशन अथवा नौकरी करते हुए पढ़ाई चलानी पड़ती है। बहुत से छात्र पिता के स्थानान्तरण (Transfer) के कारण भिन्न पाठ्यक्रम वाले विद्यालय से आकर इस विद्यालय में प्रविष्ट होते हैं। इन सब कारणों से छात्र मनोयोग-पूर्वक अध्ययन नही कर पाते और कक्षा में पिछड़ जाते है।

अस्वस्थता :—बहुत से छात्र अस्वस्थता के कारण कक्षा में पिछड़ने लगते हैं। अपर्याप्त अथवा पोषक-तत्व-हीन भोजन, अतिभोजन, व्यायाम का अभाव, अतिश्रम, व्यभिचार, धूम्रपान एवं रोग आदि कारणों से छात्रों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता और वे अध्ययन में उतना श्रम नहीं कर पाते, जितना उन्हें करना चाहिए। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि वे इच्छा रखते हुए भी श्रम करने, अवधान को केन्द्रित रखने तथा वस्तुओं को स्मृति में धारण करने में असमर्थ हो जाते है। इसका परिणाम होता है, बालक का पिछड़ने लगना।

वातावरण की दूषितता :—विद्या ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि छात्र ऐसे वातावरण मे रहे, जिसमें अध्ययनोचित गुणो के अर्जन में सुविधा हो और किसी भी प्रकार के कुसस्कार मन पर न पड़े। आजकल अधिकतर छात्र कुछ समय विद्यालय में रहकर अपने परिवार तथा समाज में वापस चले जाते हैं। वहाँ वे विभिन्न प्रकार के अध्ययन-विरोधी संस्कार एकत्रित करते रहते है। गुरुओं तथा विद्यालय के प्रति अश्रद्धा, दुर्व्यसन, अशुद्ध उच्चारण, अभद्र व्यवहार, अध्ययन में अरुचि तथा कामटालूपन आदि वे साधारणतया वहीं से सीखते हैं। इनके कारण भी छात्र कक्षा में पिछड़ने लगते हैं।

भावना-ग्रन्थियाँ :—बहुत से छात्र अपने को बहुत बुद्धिमान अथवा सामर्थ्ययुक्त समझकर अध्ययन में श्रम नही करते। कक्षा के अन्य छात्र नियमित गति से काम करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। फलतः अपने को अत्यधिक बुद्धिमान समझने वाला छात्र कक्षा में पिछड़ जाता है। कभी-कभी अपने को हीन मानने वाला छात्र नैराश्यभावना से स्तब्ध होकर श्रम करना बन्द कर देता है। वह भी कक्षा में पिछड़ जाता है। यह पिछड़ना ग्रन्थियों की विद्यमानता के कारण होता है।

दोष-पूर्ण अध्यापन :—प्रत्येक अध्यापक को अध्यापन-विधि का निर्णय

अध्यापन के उद्देश्य, पाठ्यवस्तु के स्वरूप, छात्र की क्षमता एवं रुचि, अपनी योग्यता तथा वातावरण की उपयुक्तता के विचार से करना पड़ता है। निर्णय करने के पश्चात् उसे सावधानी एवं परिश्रम से उस विधि का प्रयोग करना पड़ता है। यदि अध्यापक विधि-निर्णय में भूल कर जाए अथवा आलस्य एवं असावधानी के वशीभूत होकर कुछ का कुछ करने लगे, तो छात्र पाठ्यवस्तु को न तो अपना मनोयोग देगा और न उसे ठीक प्रकार से ग्रहण कर पाएगा। प्रतिभा-सम्पन्न अथवा घर पर अध्यापन की सुविधा प्राप्त कर लेने वाले छात्र, संभव है कि अध्यापक के इस दोष की हानियों से बच जाएँ, परंतु अन्य छात्र निश्चित रूप से कक्षा मे पिछड़ने लगेगे। इस प्रकार पिछड़ने वाले छात्रों के पिछड़ने का कारण अध्यापन-विधि की त्रुटि होगी।

बुरभ्यास :—बहुत से छात्रों को अनेक कारणों से बुरी आदतें पड़ जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी छात्र को ओठ हिलाते अथवा गुनगुनाते हुए पढ़ने की आदत पड़ जाए, तो वह निश्चित रूप से उतनी तेजी से मौनवाचन नहीं कर सकता, जितनी तेज़ी से निःस्वर वाचन करने वाला कर सकता है। फलत. उस का वाचन-परिमाण निश्चित रूप से अपेक्षाकृत कम होगा। ऐसे छात्र कक्षा में अवश्य पिछड़ेगे। बायें हाथ से लिखने वाले, अनावश्यक रूप से हाथ-पैर या सिर हिलाते हुए पढ़ने वाले, असावधानी से काम करने के अभ्यासी छात्र भी इसी प्रकार विभिन्न दृष्टियों से पिछड़ने लगते है।

अन्य कारण :—कक्षा में पिछड़ने के कुछ कारणों की चर्चा यहाँ कर दी है। सावधानी से निरीक्षण करने पर संभव है कि कतिपय अन्य कारणों पर भी दृष्टि पड़ जाए। उन्हें भी सावधानी से नोट कर लिया जाना चाहिए।

विद्यालय का कर्तव्य :—जिन छात्रों में बुद्धि की कमी है अथवा जिनकी इन्द्रियाँ इतनी विकृत हैं कि उनकी चिकित्सा न हो सके, उनके बिषय में विद्यालय कुछ नही कर सकता। वस्तुतः ऐसे छात्रों को, जो बुद्धि की कमी अथवा उग्र इन्द्रिय-दोष के कारण सामान्य विद्यालयों के छात्रों के साथ चलने में असमर्थ हों, विशिष्ट विद्यालयों में भेजा जाना चाहिए। छात्र के व्यक्तित्व की अन्य ऐसी कमियाँ जिनका आधार उपरिलिखित त्रुटियाँ हैं, उनके विषय में भी विद्यालय को विवश ही समझना चाहिए। इनके विषय मे विद्यालय का इतना कर्तव्य तो है ही कि वह इनके साथ सहानुभूति का ऐसा मधुर व्यवहार करे कि वे अपनी ग्लानि को भूलजाएँ। अन्य कारणों से अन्य क्षेत्रों में पिछड़ने वाले छात्रों के प्रति तो स्पष्टतया विद्यालयका यह कर्तव्य है कि वह पिछड़ने के कारणों तथा उनसे उत्पन्न हानियों से छात्रों को बचाए और उनके अभिभावकों की, जो कुछ बन पड़े, सहायता करे। इस विषय में विद्यालय

जो कुछ कर सकता है, उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे की पंक्तियों में किया जाता है ।

बुद्धि-मन्दता :—विद्यालय बुद्धिहीन छात्रों को बुद्धि नहीं दे सकता परन्तु जितनी बुद्धि उनके पास है, उसके सदुपयोग का अवसर अवश्य प्रस्तुत कर सकता है । यदि विद्यालय के अध्यापक निम्नलिखित कार्य कर सकें, तो मन्द-बुद्धि छात्र भी अपनी कमियाँ बहुत सीमा तक दूर कर सकते है :—

(१) कक्षाध्यापन मे छात्रो का अधिक से अधिक सहयोग लेना,

(२) छात्रों की छोटी-छोटी टोलियाँ बनाकर शिक्षा को अधिक से अधिक व्यक्तिगत बनाना,

(३) पाठ्यवस्तु और अध्यापन-विधि को अधिक से अधिक सरल तथा रोचक बनाना,

(४) स्मृति-सहायक युक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिकाधिक अभ्यास कराना ।

(५) मूर्त उदाहरणों (Ilcustrations) का अधिकाधिक प्रयोग करना ।

प्रकृति-दोष :—इस प्रकार के दोष कभी-कभी जन्मजात होते है, और कभी-कभी अर्जित । जन्म-जात दोष निर्मूल तो बहुत ही कठिनता से होते है, परंतु कम अवश्य हो सकते है । यदि व्यक्ति के हृदय में उत्कट इच्छा-शक्ति उत्पन्न कर दी जाए, तो वह सब प्रकार के दोषों को उखाड़कर फेंक सकता है । अर्जित दोष मिथ्या आहार-विहार, रोग तथा विविध मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न हो जाते है । कारणों के नाश तथा पोषक कारणों के निवारण से ऐसे दोष स्वतः दूर हो जाते है । विद्यालय को कारणों की खोज अवश्य सावधानी तथा मनोयोग से करनी पड़ेगी ।

इन्द्रिय-दोष—ये दोष भी दो प्रकार के होते हैं, प्रथम जन्मजात और द्वितीय अर्जित । दोनों प्रकार के दोष कुछ तो चिकित्सा से दूर हो जाते हैं और कुछ नहीं होते । जिन दोषों की चिकित्सा हो सकती है, उनके लिए विद्यालय-चिकित्सालयों की सहायता ली जानी चाहिए । अथवा छात्रों के अभिभावकों से प्रार्थना की जानी चाहिए कि वे उनकी समुचित चिकित्सा की व्यस्था करें ।

अध्यापक भी कुछ सावधान तथा [illegible]-पूर्ण रह कर कतिपय छात्रों की सहायता कर सकते हैं । जिन छात्रों की दृष्टि अथवा श्रवण-शक्ति दुर्बल हो, उन्हें कक्षा में आगे बिठा लेना चाहिए । जिनके उच्चारणांगों में कुछ विकृति हो, उनसे बार-बार उच्चारणाभ्यास कराया जाना चाहिए । इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय-दोषों के विषय में सावधानी से सहायता पहुँचायी जा सकती है ।

विपरीत परिस्थितियाँ–विपरीत परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कराने का एक-

मात्र उपाय छात्रावास-व्यवस्था है। इस व्यवस्था से भी धनिक छात्रों की समस्या ही हल हो सकती है। इस समस्या का दूसरा उपाय विद्यालय-परिवार-सहयोग है। उसके लिए भी सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। परिस्थितियों पर विजय कराने के लिए विद्यालय में भी कुछ किया जा सकता है। सहयोगिता के आधार पर पुस्तकों आदि के वितरण एवं विनिमय का प्रचलन कराके, विद्यालय समय में ही गृह-कार्य करने का अवसर देकर, धनिक छात्रों को अन्यों की सहायता करने का प्रोत्साहन देकर, छात्रवृत्तियों तथा पुरस्कारो की उदार व्यवस्था करके, विद्यालय में होने वाले निर्माण तथा मरम्मत के कार्यों को छात्रों से करा के तथा सामान्यतया सहानुभूति-पूर्ण वृत्ति रख के विद्यालय बहुत से छात्रों को विपरीत परिस्थितियों पर विजय करा सकता है। जो छात्र भिन्न पाठ्यक्रम वाले विद्यालय से आए हों, उनके लिए विशेष कक्षाएँ चलाई जा सकती हैं।

अस्वस्थता—अस्वस्थता के जिन कारणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है, वे विद्यालय में उत्पन्न न हो सकें, इस बात का ध्यान तो विद्यालय रख ही सकता है। स्वास्थ्य की जनक तथा अस्वास्थ्य की नाशक जिन परिस्थितियों के उत्पादन में परिवार और समाज के सहयोग की आवश्यकता पड़ती उनके विषय में विद्यालय प्रत्यक्षतः तो कुछ नही कर सकता परन्तु उसे इस विषय में उनका ध्यान आकृष्ट करते रहना चाहिए। समझदार तथा समर्थ माता-पिता अवश्य ही विद्यालय की सलाह का लाभ उठायेंगे जिससे पिछड़ने की समस्या किसी सीमा तक अवश्य हल होगी।

वातावरण की दूषितता—इस कारण उत्पन्न होने वाले फिसड्डीपन का पूरा निराकरण तो अनिवार्य छात्रावास-व्यवस्था से ही सम्भव है। उसके अभाव में विद्यालय-परिवार सहयोग का आश्रय लिया जाना चाहिए। आज के युग में यह भी संभव नहीं हो पा रहा है। ऐसी परिस्थिति में विद्यालय एक कार्य यही कर सकता है कि शिक्षण एव प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था से वह छात्रों के मन में दृढ़ प्रतिरोधी इच्छा-शक्ति उत्पन्न कर दे, जिससे उनके मन पर वातावरण का दूषित प्रभाव न पड़े। सच्चरित्र एवं अध्यावसायी अध्यापक इस कार्य में अवश्य सफल हो सकते है।

भावना-ग्रन्थियां—विद्यालयीय तथा सामाजिक जीवन में प्रतिक्षण चलने वाली सामाजिक मिथःक्रिया में विभिन्न कारणों से दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलता पाने वाले अथवा कम सफलता पाने वाले छात्रों के मन में क्रमशः श्रेष्ठता तथा हीनता की भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती है। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं छात्रों के मन में किन्हीं-किन्हीं विषयों तथा व्यक्तियों के विषय में भय,

द्वेष एवं अरुचि आदि की ग्रन्थियाँ भी जन्म ले लेती हैं। इनसे पीड़ित छात्रों की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। हीनता की भावना-ग्रन्थि से पीड़ित छात्र के साथ, यदि सहानुभूति का व्यवहार किया जाए और उसकी योग्यता के अनुरूप काम देकर उसे सफलता के दर्शन कराए जाऐं, तो उसकी ग्रन्थि टूट जाती है। प्रतियोगिता में भाग लिवाकर तथा कठिन काम दे-देकर और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर के, जिनमें वह कभी औरों से आगे तथा कभी औरों से पीछे रहे, श्रेष्ठता की भावना-ग्रन्थि को भी ढीला किया जा सकता है। भय आदि की ग्रन्थियों से पीड़ित छात्र को यह अनुभव कराना चाहिए कि उसने गलत-फहमी अथवा नासमझी के कारण उस प्रकार की धारणाएँ बनाली है। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक युक्तियों से विद्यालय अपने छात्रों को सब प्रकार की भावना-ग्रन्थियों से मुक्त कर सकता है।

दोष-पूर्ण अध्यापन— दोष-पूर्ण अध्यापन के कारण उत्पन्न छात्रों की कमियों को विद्यालय सरलता से दूर कर सकता है। वह सम्बद्ध अध्यापक से अपनी अध्यापन-विधि सुधारने के लिए कहे और साथ ही छात्र में जो कमियाँ उत्पन्न हो गई है, उनके लिए अतिरिक्त अध्यापन की व्यवस्था करे। अतिरिक्त अध्यापन रोचक विधियों से कराया जाना चाहिए अन्यथा वह छात्र के लिए भार-स्वरूप हो जाएगा।

दुरभ्यास—इसके विषय मे वे ही सब बातें लागू होती है, जो दूषित वातावरण के प्रसंग में कही जा चुकी है। इच्छा-शक्ति के निर्माण के उपरान्त अभ्यास की समुचित व्यवस्था भी विद्यालय को करनी चाहिए।

चिकित्सात्मक अध्यापन के सामान्य सिद्धान्त—विद्यालय-जीवन में चिकित्सात्मक अध्यापन की आवश्यकता पग-पग पर पड़ सकती है, इस कारण उसके आधारभूत सिद्धांतो को समझ लेना प्रत्येक अध्यापक के लिए उपयोगी होगा। सक्षेप में वे सिद्धान्त निम्नलिखित है :—

(१) अध्यापकों के मनों में छात्रो के प्रति गंभीर सहानुभूति का भाव होना चाहिए और उनके मन मे यह धारणा उत्पन्न करनी चाहिए कि वे अवश्य ही सफलता प्राप्त कर सकते है।

(२) प्रत्येक छात्र लगभग व्यक्तिगत करणों से ही पिछड़ता है अतः प्रत्येक का व्यक्तिगत रूप से ही ध्यान रखना चाहिये। जहाँ कहीं सामूहिक कार्य उपयोगी प्रतीत हो, वहाँ समूह में काम कराने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

(३) छात्रो की असफलता के स्थलो के कारणों का पता लगाकर उन्हें एक-एक करके निर्मूल कर देना चाहिये। जहाँ कारण-नाश के पश्चात् भी

उसके प्रभावों के पूरी तरह नष्ट न होने की संभावना हो, वहाँ शिक्षण एवं प्रशिक्षण द्वारा उस प्रभाव की भी स्वतन्त्र चिकित्सा कर लेनी चाहिये।

(४) अध्यापक को अपने व्यक्तित्व को श्रद्धेय बनाने तथा बनाये रखने के विषय में अत्यधिक सावधान रहना चाहिये। अश्रद्धेय चिकित्सक की चिकित्सा अधिकतर व्यर्थ ही जाती है।

(५) छात्रों के पिछड़ने के स्थलों तथा कारणों को अच्छे प्रकार समझ कर दोनों के विषय में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि पुरानी समस्याओं का समाधान तो होता ही चले, नई समस्यायें भी उत्पन्न न हों।

(६) विद्यालय, परिवार, समाज तथा विद्यालय-चिकित्सालयों के बीच सहयोग निरंतर बना रहना चाहिये।

(७) अभ्यास-कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं बरती जानी जानी चाहिये। परन्तु अभ्यास-कार्य इस प्रकार का नहीं होना चाहिये और न इस प्रकार कराया जाना चाहिये कि वह भार प्रतीत हो। दण्ड की भावना से तो इस प्रकार का कार्य कभी नहीं कराना चाहिये; अन्यथा कुसंस्कार पड़ने का भय रहता है।

इस प्रकार मनोयोग-पूर्वक चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था होने पर छात्रों की प्रगति के मार्ग में कोई बाधा नहीं खड़ी रह पाती। आज के विद्यालयों में असफलता का परिमाण देखते हुये इस प्रकार के अध्यापन की अत्यधिक आवश्यकता है।

शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन

अर्थ—सामान्य शिक्षा की समाप्ति पर प्रत्येक छात्र को अनेक वैकल्पिक विषयों में से किन्हीं दो तीन विषयों का चुनाव करना पड़ता है। चुनाव का यह अवसर इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है कि छात्र सामाजिक जीवन में जिस प्रकार का जीविका-साधन अपनाना चाहता हो, उसके लिए तैयार करने वाले विषयों का अध्ययन वह इसी समय से आरम्भ कर दे। इस चुनाव के अवसर पर छात्र को यह बताना कि उसमें अमुक-अमुक विषयों के अध्ययन की पात्रता है अतः उसे उनका चुनाव करके सामाजिक जीवन के लिए तैयार होने लगना चाहिए, शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था छात्रों के लिए १४+आयु के आसपास की जाती है।

प्रयोजन—आज का समाज बहुत अधिक जटिल होगया है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अब नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे व्यापार तथा व्यवसाय चल रहे हैं। उन उद्योग-धन्धों आदि को सुचारु रूप से चलाने तथा

उन्हें उन्नतिशील बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें ऐसे व्यक्ति ही सम्मिलित हों, जिनमें उनके उपयुक्त योग्यताएं हों। इधर मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी छात्र शारीरिक एक मानसिक कार्य-क्षमता की दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नताएं लिये हुए होते हैं, इसलिए सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्य के लिए और प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। इन सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों को मिलाकर देखने से एक तथ्य स्वयं प्रकट हो जाता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने योग्य उद्योग-धन्धों, व्यापार अथवा व्यवसाय में लग सके, तो व्यक्ति और समाज दोनों की न केवल आवश्यकताएं पूरी होती रहें अपितु वे निरन्तर प्रगति भी करते रहें। यह बिलकुल स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास उसी दिशा में अच्छे प्रकार से कर सकता है, जिसकी स्वाभाविक प्रतिभा उसमें पहले से विद्यमान हैं। शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था करके विद्यालय छात्रों को उस दिशा का ज्ञान कराते है, जिनमें चलकर वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करते हुए समाज की अधिकतम सेवा सकें। इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन के अभाव में यही अधिक संभव है कि विभिन्न परिस्थितियों से विवश होकर छात्र अनुपयुक्त दिशाओं में चल पडे और इस प्रकार एक ओर उन्हें अनुपयुक्त विषयों में अपनी शक्तियाँ लगाते रहना पडे और दूसरी ओर समाज के विभिन्न व्यवसाय एवं विभाग अनुपयुक्त व्यक्तियों द्वारा संचालित होकर दुर्गति को प्राप्त होते रहें।

पथ-प्रदर्शन की आवश्यकताएं—शैक्षणिक पथ-प्रदर्शक छात्रों को कल्पना अथवा अनुमान के सहारे मार्ग नहीं बता देता। वह प्रत्येक छात्र का व्यक्तिगत रूप से अध्ययन करता है और उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के विषय में जहाँ कहीं से कुछ भी जानकारी मिल सकती है, प्राप्त करके अपनी सलाह देता है। पथ-प्रदर्शक छात्र का जितना अधिक अच्छा अध्ययन करके अपना विचार बनाता है, वह उतना ही अधिक विश्वसनीय होता है। पथप्रदर्शक विश्वनीय रूप में सलाह देसके, इसके लिए उसे निम्नलिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है :—

(१) विद्यालय के परीक्षा-परिणाम

प्रचलित परीक्षा-पद्धति की कितनी भी आलोचना क्यों न की जाए परंतु यदि किसी छात्र के अनेक वर्षों के परीक्षा-परिणाम प्राप्त होजाएं, तो उनसे यह अवश्य पता लग सकता है कि उसने किस विषय में कितनी योग्यता प्राप्त करली है और किस विषय में उसकी अभिरुचि होने की अधिक संभावना है। किसी विषय में नियम से अधिक अंक प्राप्त करते रहना और किसी विषय में प्रगति-हीनता प्रदर्शित करते रहना अकारण नहीं हो सकते। परीक्षा-परिणामों

से तभी कुछ उपयोगी परिणाम निकाला जासकता है, जब वे यथासम्भव अधिक से अधिक परीक्षाओं के मिल सकें। एक दो परीक्षाओं में तो किसी छात्र के अधिक अंक किसी अन्य कारण से भी आसकते है।

(२) बुद्धि-परीक्षा-परिणाम

किस छात्र में कितनी बुद्धि है, इसकी परीक्षा भी जाँचों की सहायता से की जासकती है। यह समझ लिया गया है कि जीवन के किस क्षेत्र में जाने के लिए कम से कम कितनी बुद्धि होनी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, विज्ञान-समूह के विषयों के लिए ११०, भाषा-साहित्य-समूह के विषयों के लिए १००, व्यवसाय-समूह के विषयों के लिए ९५, औद्योगिक समूह के विषयों के लिए १००, कृषि-समूह के विषयों के लिए ९५, ललित कला-समूह के विषयों के लिए ९० तथा गृह-विज्ञान-समूह के विषयों के लिए ९० बुद्धि-अंक आवश्यक माने गये हैं। यदि किसी छात्र की बुद्धि-परीक्षा लेकर उसके बुद्धि-अंकों का पता लगा लिया जाए तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह किस-किस समूह में अधिक सफल हो सकेगा। बुद्धि-परीक्षा कुशल व्यक्ति ही ले सकते हैं अतः उसके लिए जिला-मनोवैज्ञानिक आदि विशेषज्ञों की सहायता ली जानी चाहिए।

(३) पात्रता-परीक्षा-परिणाम

बुद्धि सामान्य और विशिष्ट भेद से दो प्रकार की होती है। बुद्धि के सामान्य अंश का उपयोग सभी विषयों के अध्ययन में होता है परन्तु उसका विशिष्ट अंश, विशिष्ट क्षेत्रों के लिए होता हैं। इसी तरह विशिष्ट-विशिष्ट क्षेत्रों के लिए विशेष-विशेष शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक गुणों की विशेष उपयोगिता होती है। इन सब का अध्ययन करके यह जाना जासकता है कि छात्र मे किस विशेष विषय की विशेष पात्रता (Aptitude) है। उसके निर्देशन के लिए इस परीक्षा का परिणाम भी अत्यन्त उपयोगी होता है।

(४) अध्यापकों का प्राक्कथन

जब से छात्र विद्यालय में आता है, तब से वह विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न अध्यापकों के तत्वावधान में रहता है। उसके व्यवहार के विभिन्न रूपों को विभिन्न परिस्थितियों में देखकर उन्हें ज्ञात हो जाता है कि छात्र में क्या-क्या शारीरिक मानसिक आत्मिक तथा सामाजिक विशेषताएँ अथवा कमियाँ हैं। अपनी धारणाओं के आधार पर वे यह भी सोचने लगते हैं कि अमुक छात्र अमुक क्षेत्र में अधिक सफल हो सकेगा। शिक्षकों को यह प्राक्कलन, यद्यपि होता तो व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) है, तथापि इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। प्राक्कलन ऐसे ही अध्यापकों का उपयोगी

हो सकता है, जिन्होंने छात्रों को पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी दोनों प्रकार की क्रियाओं में काम करते हुए ध्यानपूर्वक देखा हो। यों ही कभी-कभी और जहाँ-कहीं देखने वालों का प्राक्कलन विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि अध्यापकों का प्राक्कलन तथा विविध परीक्षाओं के परिणाम एक ही दिशा में इंगित करें, तो छात्र के भविष्य के विषय में पर्याप्त निश्चय के साथ कुछ कहा जा सकता है। प्राक्कलन अनेक अध्यापकों ने पृथक्-पृथक् दिये हों, तो उनका मध्यम मान (Average) निकाल कर उपयोग में लाया जा सकता है। संभवतः व्यक्तिगत प्राक्कलनों की अपेक्षा यह अधिक विश्वसनीय भी होगा।

(५) छात्र की अपनी इच्छा

इच्छा और अभिरुचि का गहरा सम्बन्ध होता है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस कारण छात्र की इच्छा जानने का प्रयत्न भी करना चाहिए। परन्तु उसे अपनी इच्छा व्यक्त करने का अवसर देने के पहले उसे उसकी वास्तविक शारीरिक तथा बौद्धिक स्थिति तथा विभिन्न ज्ञानों और क्रियाओं की सामाजिक उपयोगिता तथा महत्त्व दोनों बता देने चाहिए। उसे यह भी स्पष्ट बता देना चाहिये कि किस क्षेत्र में जाने पर कितनी उन्नति संभव है और अपने वर्तमान गुणों के कारण वह किस क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता है। सब ऊँच-नीच जानकर छात्र जो इच्छा व्यक्त करे उसका आदर किया जाना चाहिए।

(६) अभिभावकों की इच्छा तथा परिस्थितियाँ

छात्र के भविष्य के विषय में उसकी अपनी इच्छा के साथ-साथ उसके अभिभावकों की इच्छा की जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिये। जिस प्रकार अध्यापक छात्रों को काफी निकट से देखते हैं, उसी प्रकार अभिभावक भी। यदि उन्होंने ममता-मुक्त बुद्धि से छात्र को समझ कर अपनी इच्छा बनाई है, तो उसका भी आदर करना चाहिये। साधारणतया प्रत्येक अभिभावक की अपने बच्चों के विषय में सम्मति ऊँची होती है। इसलिए उनकी सम्मति पर सहानुभूति और समझदारी से विचार करना चाहिए।

अभिभावकों की सम्मति एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होती है। अभिभावक जो कुछ बच्चे को बनाना चाहता है, उसके अनुकूल ही वह घर का वातावरण बनाता है। उसी से प्रेरित होकर वह अध्ययन की सुविधाएं प्रस्तुत करता है। बहुत से अभिभावक अपना पेट काट करके भी अपने बच्चों को अपनी इच्छा के अनुसार बनाना चाहते हैं। ये सब बातें छात्र के निर्माण

के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए अभिभावकों की इच्छा का भी उचित आदर अवश्य किया जाना चाहिए।

इतनी बात अभिभावकों की इच्छा जानने से पहले अवश्य की जानी चाहिए कि उन्हें उनके बच्चों की शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विशेषताओं तथा उनकी संभावनाओं से पूरी तरह परिचित कर दिया जाए। उस सब को जानकर ही वे अपनी इच्छा व्यक्त करें। ऐसा न हो कि वे भविष्य में कभी यह कह सकें कि उन्हें अंधेरे में रखा गया, इसलिए उनका निर्णय गलत होगया।

अभिभावकों की इच्छा के साथ पथ-प्रदर्शक को यह भी देखना चाहिए कि उनकी परिस्थितियाँ कैसी है। यदि परिवार की आर्थिक परिस्थितियाँ छात्र को दी हुई सलाह के प्रतिकूल बैठीं, तो सम्भव है कि वह उस दिशा में अध्ययन आरंभ ही न कर सके अथवा आरंभ करने पर भी अध्यापन का पूरा लाभ न उठा सके। यह भी हो सकता है कि उसे अपना अध्ययन समाप्त करके नई दिशा पकड़नी पड़ जाए।

(७) साक्षात्कार

पथ-प्रदर्शन के लिए साक्षात्कार भी किया जाना चाहिए। विभिन्न स्रोतों से जो जानकारी छात्र के विषय में मिली है, उसके समर्थन तथा उसमें जो कमी रह गई हो, उसकी पूर्ति करने के लिए साक्षात्कार किया जाता है। साक्षात्कार के समय बालक से बहुत सी ऐसी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जो किसी अन्य स्रोत से नहीं मिल सकती। उसके मित्र किस प्रकार के लोग हैं, उसे किस विषय का साहित्य अधिक रुचता है, वह किस प्रकार का मनोरंजन पसंद करता है, उसका खाली समय कैसे बीतता है, वह किस तरह के फिल्म देखना पसंद करता है, उसके घर की वास्तविक परिस्थिति क्या है और वह अध्ययन के किसी विशेष क्षेत्र में ही क्यों जाना चाहता है, आदि प्रश्नों का उत्तर छात्र स्वयं ही अच्छा दे सकता है। साक्षात्कार से वाक्चातुरी, प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा सामान्य बुद्धि आदि गुण भी प्रकट हो जाते हैं। वे भी उसके भविष्य की ओर संकेत कर सकते हैं।

(८) मित्र-मण्डली के विचार

एक प्राचीन कहावत है "समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्" अर्थात् व्यक्ति की मित्रता समान शील और व्यसन वाले व्यक्तियों से होती है। प्रत्येक व्यक्ति जितना अपने मित्रों के सामने खुलता है, उतना माता-पिता आदि किसी के सामने नहीं खुलता। इस कारण छात्र को पथ-प्रदर्शन देने के लिए उसके मित्रों और विशेषतया अभिन्न मित्रों से उनके विचार तथा आवश्यक जानकारियाँ

प्राप्त की जानी चाहिए। मित्र-मंडली के बिचार काफी दूर तक साक्षात्कार के पूरक हो सकते हैं।

पथ-प्रदर्शन की कुछ आवश्यकताओं का ऊपर की पंक्तियों में परिगणन किया गया है। उन्हें नमूनों के रूप में समझना चाहिए। पथ-प्रदर्शन के लिए छात्र के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के विषय में अधिक से अधिक जानकारी आवश्यक होती है। उसके विषय में जितनी अधिक जानकारी मिल सकेगी, उसके आधार पर दिया हुआ पथ-प्रदर्शन उतना ही अधिक विश्वसनीय होगा। इस बात को दृष्टि में रखते हुए मित्र-मण्डली से ही नहीं, अन्य स्रोतों से भी जितनी अधिक जानकारी मिल सके, प्राप्त की जानी चाहिए। मित्र-मण्डली को ऐसे सब अकथित स्रोतों का प्रतीक समझना उचित होगा।

(६) योग्य पथ-प्रदर्शक

पथ-प्रदर्शन की अन्तिम आवश्यकता योग्य पथ-प्रदर्शक है। वही तो इन सब स्रोतों से जानकारी प्राप्त करके और तत्पश्चात् उसका विश्लेषण एवं निर्वपन करके उसके विश्वसनीय अंश के आधार पर पथ-प्रदर्शन प्रदान करेगा। उसके अभाव में सब जानकारियाँ बेकार पड़ी रहेंगी।

पथ-प्रदर्शक के गुण एवं विशेषताएं—अपने कार्य को योग्यता-पूर्वक निभाने के लिए पथ-प्रदर्शक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए:—

(१) पथ-प्रदर्शन के कार्य में गहरी रुचि,

(२) विभिन्न विषयों एवं क्रियाओं तथा उनकी आवश्यकताओं के साथ गहरा परिचय,

(३) मनोविज्ञान के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्षों पर पूर्ण अधिकार,

(४) पथ-प्रदर्शन के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों में अच्छे प्रकार का प्रशिक्षण,

(५) छात्रों के साथ सच्ची सहानुभूति और उनकी दृष्टि से देखने का अभ्यास,

(६) धैर्य, परिश्रमशीलता, विश्वसनीयता मधुर व्यवहार एवं कर्तव्य-निष्ठा आदि चारित्रिक गुण।

ये विशेषताएँ इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

पथ-प्रदर्शन की कठिनाइयाँ—पथ-प्रदर्शन की उपयोगिता के विषय में संदेह का तनिक भी अवकाश नहीं है, परन्तु उसकी कठिनाइयाँ भी स्पष्टतया समझ ली जानी चाहिए। पथ-प्रदर्शन की जिन आवश्यकताओं की ऊपर की पंक्तियों में चर्चा की जा चुकी है, उनके अभाव को कठिनाई समझना चाहिए। वे अभाव विभिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं। अपने देश के बालकों के उपयुक्त

बुद्धि-परखें अभी तक नहीं बन सकी है। विदेशों में बनी परखों में थोड़ा-बहुत हेरफेर करके उनसे काम चलाया जारहा है। यही स्थिति पात्रता-परखों की है। जब तक उपयुक्त परखें न बन जाएँ, तब तक उनके परिणामों को विश्वसनीय नहीं माना जासकता। छात्रों की इच्छाओं को ठीक प्रकार से अङ्कित करने के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ हैं। बच्चा यह जाने बिना कि भविष्य में कौन-कौन से कार्यक्षेत्र उसके लिए खुले हुए हैं और उनमें से प्रत्येक में जीवन किस प्रकार का होता है, वह अपनी इच्छा क्या व्यक्त करेगा ? आर्थिक कारणों से सब बच्चे विभिन्न कार्यों के स्थलों पर जाकर उन्हें देख नहीं सकते। दृश्य श्रव्य उपकरणों द्वारा उन्हें विभिन्न व्यवसायों के जीवनों से परिचित किया जासकता है परन्तु अभी उनकी व्यवस्था भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाती है। प्रसार विभाग कतिपय फिल्मों की व्यवस्था रखते हैं और स्थान-स्थान पर उनका प्रदर्शन भी करते हैं परन्तु इस लम्बे चौड़े देश के लिए इतनी सुविधा अत्यधिक अपर्याप्त है। इसी प्रकार अभिभावकों की सही इच्छाएँ भी प्राप्त नहीं हो पाती हैं। बहुत से तो अशिक्षा के कारण इच्छा प्रकट करने योग्य ही नहीं होते। जो शिक्षित होते हैं, उनमें से अधिकतर अपनी इच्छाएँ विभिन्न पेशों की सामाजिक स्थिति के आधार पर बनाते हैं, बच्चे की पात्रता के आधार पर नहीं। ऐसे अभिभावकों में अपनी जिद् को छोड़ने के लिए तैयार होनेवाले अभिभावक विरले ही होते हैं। कभी-कभी विभिन्न विषयों के अध्यापक ही पथ-प्रदर्शन के विपरीत वातावरण बना डालते हैं। मन्द-बुद्धि छात्रों को अपने विषय से हटाने तथा तीव्र-बुद्धि छात्रों को अपने विषय की ओर आकृष्ट करके परीक्षा-परिणाम अच्छा बनाने के लिए वे कभी- कभी छात्रों को गलत सलाह दे डालते हैं। छात्र ऐसी सलाह के कारण बहक जाते हैं। पथ-प्रदर्शकों की कमी भी एक कठिनाई है। योग्य व्यक्तियों की संख्या इतनी कम है कि छात्रों की भारी भीड़ को ठीक मार्ग दिखा सकना एक असंभव कार्य हो जाता है। इनके प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की जारही है परन्तु उनकी सेवाएँ प्रत्येक छात्र तक पहुँच जाएँ इसमें अभी काफी समय लगेगा।

विद्यालय क्या करें—प्रत्येक विद्यालय में पथ-प्रदर्शन-सेवा का आयोजन अवश्य होना चाहिए। इससे वे समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि प्रत्येक विद्यालय में एक-एक पथ-प्रदर्शक नियुक्त रहे परन्तु यदि यह संभव न हो, तो जहाँ सरकार की ओर से पथ-प्रदर्शनाधिकारी नियुक्त हैं, वहाँ उनकी सेवाओं का लाभ उठाया जाना चाहिए। विद्यालय में प्रसार-विभागों के सहयोग से ऐसी फिल्मों का प्रदर्शन

चलता रहना चाहिए, जिनमें विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों में चलने वाले जीवन का सही-सही चित्रण हो। फिल्म-प्रदर्शनों में यदि अभिभावकों को भी आमन्त्रित कर लिया जाए तो अच्छा रहे। उन्हें देखकर वे अपनी इच्छाएँ भी समझदारी से व्यक्त कर सकेंगे। समय-समय पर वहाँ ऐसे सम्मेलन भी होते रहने चाहिए जिनमें सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले अनुभवी व्यक्ति, अभिभावक, अध्यापक तथा छात्र मिलकर विभिन्न प्रकार के जीवनों की आवश्यकताओं तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालें। जब कभी इस विषय के सेमिनार अथवा अल्पकालीन पाठ्यक्रम चलाए जाएँ, तब विद्यालय से कुछ अध्यापकों को प्रशिक्षण दिलाने में ढील नहीं होनी चाहिए। पथ-प्रदर्शन-विषयक कुछ साहित्य विद्यालय-पुस्तकालय में रखकर अधिक से अधिक अध्यापकों को उसे पढने की प्रेरणा देनी चाहिए जिससे वे छात्रों की, जो कुछ बने, सहायता कर सकें। प्रदर्शन का कार्य एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है अतः यदि विद्यालय में पृथक पथ-प्रदर्शक हो, तो भी सभी अध्यापकों को आवश्यक सूचनाओं के संकलन आदि में उसके साथ सहयोग करना चाहिए। पथ-प्रदर्शन का कार्यक्रम जितना प्रभावोत्पादक तथा व्यापक हो जाएगा, छात्रों तथा विद्यालय के श्रम और समय की बरबादी उतनी ही बच जाएगी।

पथ-प्रदर्शन के सामान्य सिद्धान्त

चिकित्सात्मक अध्यापन की भाँति शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन के भी कतिपय सामान्य सिद्धान्त है। इस कार्य में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इनकी जानकारी अवश्य होनी चाहिए। संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं :—

(१) पथ-प्रदर्शन को विभिन्न क्षेत्रों के लिए छात्रों को छाँटने की कार्यवाही न समझ कर अपने जीवन की योजना बनाने में उनकी सहायता की कार्यवाही समझा जाना चाहिए।

(२) पथ-प्रदर्शन में छात्रों के वैयक्तिक भेदों का सदैव विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(३) छात्रों को विभिन्न व्यवसायों, धन्धों तथा सम्बद्ध संस्थाओं के विषय में बिल्कुल ठीक-ठीक जानकारी निरन्तर दी जाती रहनी चाहिए।

(४) छात्रों की रुचियों, रुझानों तथा इच्छाओं और विभिन्न व्यवसायों के स्वरूपों तथा उनकी सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन हो जाने की संभावनाओं के विचार से छात्रों को पथ-प्रदर्शन विभिन्न स्तरों पर मिलता रहना चाहिए।

(५) उन्हें यह सुविधा भी मिलनी चाहिए कि वे अपनी जीवन-योजना को नवीन अनुभवों के प्रकाश में बदल सकें।

(६) इस कार्य में जल्दबाजी बिलकुल नहीं की जानी चाहिए। छात्रों के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करके ही उन्हे सलाह दी जानी चाहिए।

उपसंहार

चिकित्सात्मक अध्यापन तथा पथ-प्रदर्शन दो बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ हैं। इनकी ओर वास्तविक ध्यान बहुत कम विद्यालयों का है। उनकी अपनी-अपनी विवशताएँ भी इसमें बाधक हैं। हमारा सुझाव है कि विद्यालय इनकी ओर अधिक से अधिक ध्यान दें और इनके लिए अतिरिक्त सुविधाओं तथा धन-राशि की माँग करें और जब तक उनकी माँग स्वीकार न हों, तब तक जो सुविधाएँ उपलब्ध हों, उनका पूरा-पूरा लाभ उठाएँ। इन दो दिशाओं में प्रगतिशील हो जाने पर विद्यालय समाज और छात्र दोनों के लिए बहुत उपयोगी बन जाएँगे और साथ ही उन्हें समाज की अधिक श्रद्धा भी मिलेगी।

सप्तदश अध्याय

सिद्धि मिली या नहीं ?

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना, सिद्धि का स्वरूप; मिली या नहीं; अध्यापक स्वयं निर्णय करें; निर्णय की विधि; उपसंहार।

प्रस्तावना

प्रत्येक साधक किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए साधना का आरम्भ करता है। उसकी हार्दिक अभिलाषा होती है कि उसकी साधना के फलस्वरूप उसका साध्य सिद्ध बन जाए। हमने विद्यालय को साधना-स्थल मानकर इस ग्रन्थ में साधकों, साधनों तथा साधनाओं की चर्चा की है। अब ग्रन्थ की समाप्ति होने जारही है अतः उसमें हम सिद्धि की भी चर्चा करना चाहते है। हमारे विचार से प्रत्येक अध्यापक को यह भी सोचना चाहिए कि उसे सिद्धि मिली या नहीं।

सिद्धि का स्वरूप

पिछले अध्यायों में अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है कि विद्यालय की स्थापना समाज के लिए योग्य नागरिकों के निर्माण के लिए की जाती है। विद्यालय के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप छात्रों में कुशल नागरिकता के गुणों का जितनी ही अधिक मात्रा में आधान होता चले, समझना चाहिए कि अध्या-

पकों की साधना उसी मात्रा में सिद्धि की ओर अग्रसर होरही है। समाज का भाँति विद्यालय भी एक प्रवाहमयी सत्ता है अतः उसके विषय में सिद्धि के स्थिर स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती।

सिद्धि मिली या नहीं

विद्यालय के साधकों को यह भी सोचना चाहिए कि उन्हे सिद्धि मिली या नहीं। समाज विद्यालय-व्यवस्था के सचालन में लाखों व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करता है और उस पर उसे अरबों रुपये प्रतिवर्ष व्यय करने पड़ते है। इस मूल्यांकन के बिना उसका अधिकतर भाग व्यर्थ-सा जाता दिखाई पड़ रहा है।

अध्यापक स्वयं निर्णय करे

सिद्धि की सत्ता अथवा असत्ता तथा मात्रा के निर्णय के लिए अध्यापक का किसी बाहरी व्यक्ति अथवा संगठन के पास प्रमाण-पत्र लेने जाने की आवश्यकता नहीं है। उसे इसका निर्णय स्वयं करना चाहिए। किसी बाहरी व्यक्ति से प्रमाण-पत्र माँगते फिरना साधक रूप में उसके सम्मान के विरुद्ध होगा।

निर्णय की विधि

इसके निर्णय की विधि भी बहुत कठिन नही है। सब अध्यापक मिलकर, छात्रों से वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के विभिन्न अवसरो पर वे जिस प्रकार के व्यवहार की आशा करते है, उसके आधार पर एक वृहत् प्रश्नावली बनाएँ। इस प्रश्नावली मे प्रातःकाल सोकर उठने के समय से दूसरे दिन पुनः सोकर उठने के समय तक के व्यवहारों की छोटी से छोटी बात की चर्चा रहे। इस प्रश्नावली को छात्रों के व्यवहारो से परिचित अधिक से अधिक व्यक्तियों—सभी अध्यापकों, अभिभावको तथा मित्रों आदि में वितीर्ण करके उनसे उनके उत्तर देने की प्रार्थना की जाए। जब प्रश्नावलियाँ उत्तरों समेत लौटकर आजाएं, तब उनके आधार पर प्रत्येक छात्र के व्यवहारों का सामान्यीकृत रूप तैयार कर लिया जाए। इस अध्ययन से यदि यह विदित हो कि छात्रों के जीवन में पवित्रता एवं कर्तव्य-निष्ठा आदि सामाजिक गुणों का अधिकाधिक मात्रा में आधान हो रहा है और उनके कारण समाज में उच्छृङ्खलता का स्थान अनुशासन लेता जारहा है, तो अध्यापकों को समझना चाहिए कि उनकी साधना सिद्धि में परिणत होती जारही है। अन्यथा तो यही समझना उचित होगा कि साक्षरता बढ़ रही है और शिक्षा पिछड़ती जारही है। वह शिक्षा व्यर्थ है जो मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर प्रगतिशील न बनाए।

उपसंहार

अपने देश के अध्यापकों में आज अपने कार्य के मूल्यांकन का प्रचलन नहीं है। वे साक्षरता और जानकारी-संकलन को शिक्षा मान बैठे हैं। वे भी छात्रों द्वारा परीक्षा में प्राप्त अङ्कों को सिद्धि का पर्यायवाची समझ रहे हैं। माना कि समाज भी ऐसा ही मानता है परन्तु उसकी धारणाओं को बदलने का प्रयत्न भी तो अध्यापकों की ओर से नहीं चल रहा है। अपने बन्धुओं का ध्यान इस कमी की ओर आकृष्ट करने तथा अपने आप अपनी साधना का मूल्यांकन करते हुए साक्षरता को शिक्षा में परिणत करने के लिए उनसे प्रार्थना करने के लिए ही हमने यह अध्याय लिखा है। आशा है कि वे इस ओर ध्यान देंगे जिससे कि हमारा साध्य हमारे जीवन काल में ही सिद्धि का रूप धारण करता चले।

यशोधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्य-संख्यामतिवर्तितुं वा।
अनुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः (लक्ष्मीः)

महाकवि भारवि

परिशिष्ट

(१) अध्यापक बन्धुओं के लिए आचार-संहिता
(२) पठनीय ग्रन्थों की सूची

अध्यापक बन्धुओं के लिए

आचार-संहिता

(सुझाव-मात्र)

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर हमने छात्रों तथा अध्यापक बन्धुओं के लिए "आचार-संहिता" की आवश्यकता पर बल दिया है। छात्रों की आचार-संहिता तभी बन सकती है, जब पहले अध्यापक बन्धु अपनी आचार-संहिता बनाकर उस पर आचरण करने लगें। इसी दृष्टि से हम निम्नलिखित आचार-संहिता का सुझाव दे रहे हैं :

प्रत्येक अध्यापक को चाहिए कि वह :—

१—व्यक्तिगत रूप में असुविधा-जनक होते हुए भी विद्यालय के नियमों और परम्पराओं का ईमानदारी और निष्ठा के साथ पालन करे।

२—छात्रों, सहयोगियों तथा अधिकारियों के साथ सदैव सचाई और शिष्टता का व्यवहार करे।

३—प्रत्येक पाठ तैयारी करके पढाए और दिए हुए गृह-कार्य को सावधानी से जाँचे।

४—न्याय करने में धर्म एवं जाति आदि के कारण कभी पक्षपात न करे और ऐसी परिस्थितियाँ कदापि उत्पन्न न होने दे, जिनमें उसके ऊपर पक्षपात का आरोप लगाया जासके।

५—जहाँ तक बने, ट्यूशन न करे, और यदि करनी पड़े तो अपने विद्यार्थी का परीक्षक स्वयं न बने और न उसकी सिफारिश किसी से करे।

६—छात्रों के सामने अपने अन्य छात्रों, सहकारियों तथा अधिकारियों की निन्दा अथवा आलोचना कभी न करे।

७—धूम्रपान, मद्यपान, जुआ, तम्बाकू-सेवन तथा व्यभिचार आदि दुर्गुणों को अपने जीवन में कदापि न घुसने दे।

८—मांस-भोजन आदि जिन कार्यों के विषय में समाज में परस्पर

विरोधी सम्मतियाँ प्रचलित हैं, उन्हें एकान्त में ही करे, छात्रों की जानकारी में तो कदापि न करे।

९—अश्लील हास-परिहासों तथा घृणास्पद व्यवहारों से सदैव दूर रहे।

१०—जहाँ तक बन सके विद्यालय के बाहर भी छात्रों के क्रिया-कलाप तथा सुख-दुख पर दृष्टि रखे और उनको सन्मार्ग दिखाने तथा उनकी सहायता करते रहने में आलस्य न करे।

(११) प्रधानाध्यापक की अनुमति के बिना अधिकारियों से कभी न मिले और जब भी मिले तब निन्दा-स्तुति से सदैव बचा रहे।

(१२) पारस्परिक विवादों को अध्यापक-मंडल के माध्यम से निवटा ले।